मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य

का

तुलनात्मक अध्ययन

मराठी - हिन्दी

अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

डा० र० श० केलकर

कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

(१२वीं से १६वीं शताब्दी तक)
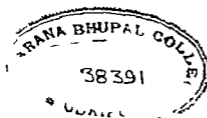
आमुख

लगभग सात वर्ष पूर्व हिन्दी और मराठी के कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने का विचार मेरे मन में आया था और मैंने अपने अनुसंधान की रूप-रेखा बनाकर आचार्य विनयमोहन शर्मा के पास भेज दी थी। उन दिनों वे जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का हिन्दी पद्यानुवाद कर रहे थे। रूप-रेखा को पसन्द करते हुए उन्होंने लिखा था कि यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा। किन्तु नियमों की क्रूरता के कारण नागपुर विश्वविद्यालय से शोध करने की अनुमति प्रदान करने में उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ी। तत्पश्चात् इस सम्बन्ध में मैंने डॉ० नगेन्द्र से चर्चा की। उन्होंने भी सहृदयतापूर्वक इस विषय के महत्व का प्रतिपादन किया। डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा स्वर्गीय डॉ० कैलाशनाथ भटनागर ने अपना अमूल्य समय देकर जो मुझे उपकृत किया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। भटनागरजी तो मेरे निर्देशक ही थे, उनके संस्कृत-साहित्य-ज्ञान से मुझे विशेष लाभ हुआ है। मैं नहीं जानता कि इन सब विद्वानों के प्रति अपनी पुनीत भावनाएँ किन शब्दों में व्यक्त करूँ!

यहाँ संक्षेप में यह भी निवेदन कर दूँ कि अपने शोध-प्रबन्ध में मैंने उन मौलिक या विशेष स्थापनाओं पर भी पर्याप्त विचार किया है जो कृष्ण-भक्ति की परम्परा को ठीक से समझने से सम्बद्ध हैं और इसीलिए विष्णु की कल्पना का विकास और कृष्ण की कल्पना से उसका बहुत समय तक भिन्नत्व तथा बाद में दोनों का एकीकरण आदि मूलभूत प्रश्नों का ऐतिह्य-सामाजिक विवेचन मैंने कई आधारों पर किया है।

अधिकतर विद्वान् भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण के आळवारों से मानते हैं। परन्तु मैंने यह दिखाया है कि कृष्ण-भक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

जो लोग भारतीय भक्ति-भावना पर इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव की बात करते हैं, उनके मतों का खंडन भी मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध में किया है। प्रो० रा० द० रानाडे जैसे विख्यात दार्शनिक ने भी 'मिस्टीसिज़ इन महाराष्ट्र' नामक अपने ग्रन्थ में कहा है कि भक्ति के बीज उपनिषदों में उपलब्ध हैं।

महाराष्ट्र और हिन्दी-भाषी प्रदेशों (ब्रज, अवध, राजस्थान आदि) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के भेद और अभेद का मैंने साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से आवश्यक विवेचन किया है। देश में जहाँ प्रादेशिक अस्मिताएँ भाषागत अंचलों में जाग रही हैं, वहाँ समूचे राष्ट्र का

एतत्सदेय भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इस दिशा में मेरा यह अनुसंधान एक नम्र प्रयास मात्र है।

कृष्ण-चरित्र अपने-आपमें एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। अपने सीमित समय और साधनों में मुझसे जो कुछ बन पड़ा है वह मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में अर्पित कर रहा हूँ। सुधी और विज्ञ जन मेरी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे।

नई दिल्ली,
१ जून १९६३

—र० श० केलकर

विषय-सूची

एकात्मबोध भी धीरे धीरे बढ़ रहा है। इस दिशा में मेरा यह अनुसन्धान एक नम्र प्रयास मात्र है।

कृष्ण चरित्र अपने आपमें एक आजीवन अध्ययन का विषय है। अपने सीमित समय और साधनों में मुझसे जो कुछ बन पड़ा है, वह मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में अर्पित कर रहा हूँ। सुधी और विज्ञ जन मेरी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे।

नई दिल्ली,
१ जून, १९६३

—र श केलकर

विषय-सूची

मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

नामक जिस सर्प का वध किया था उसके मात मिरों का उल्लेख है। वेद में भी इन्द्र को सप्तहन कहा गया है तथा जिस जलनिधि के द्वार इन्द्र तथा अग्नि ने अपने पराक्रम से खोले थे, वह जलनिधि सप्त युक्त था। खाल्डिया देश में ऋग्वेद की भाँति इन्द्र का उल्लेख मिलता है जो मानव-जाति का रक्षक एवं दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

मध्य एशिया में हिटाइट लोगों के राजा तथा मितनी के राजा के बीच सन्धि-सम्बन्धों ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पहले के शिलालेख में मितनी के राजा को इन्द्र मित्रावरुण तथा नासत्य का ऋक्-संहिताओं में प्रयुक्त नामों से आवाहन करता व्यक्त किया गया है।[2] इसी प्रकार ईरानियों के आवेस्ता ग्रन्थ में भी मिथ्र (मित्र) अइर्यमन् (अर्यमन) हओम (सोम), वरेथ्रघ्न, वायु उष, नर्योसंघ (नराशंस) आदि देवों का उल्लेख है तथा सर्वोच्च देव अथवा स्वर्गिक निधरों के अधिपति को 'बघ' या 'भग' की ही संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट है कि आर्यों के आदि-समूहों में इन्द्र, मित्रावरुण, वायु आदि देव-कल्पनाओं में साम्य होते हुए भी विष्णु की कल्पना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुतिपरक मन्त्र केवल चार हैं। इनके अतिरिक्त केवल एक अन्य मन्त्र में इन्द्र और विष्णु की एक साथ स्तुति की गई है। समस्त वेद में विष्णु का केवल एक सौ बार नामोल्लेख है, जबकि इन्द्र, अग्नि उषा, बृहस्पति, हिरण्यगर्भ वरुण, अश्विनीकुमार, विश्वकर्मा आदि के अनेक स्तुतिपरक श्लोक हैं। यही देवता समय-समय पर विभिन्न मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।[3] ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्र विस्तार को देखते हुए विष्णु एक निम्न कोटि के देवता के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं तथा वैदकालीन देवताओं की चतुर्थ श्रेणी में आते हैं।[4]

नैसर्गिक शक्तियों पर आधारित ऋग्वैदिक देव-विधान के सन्दर्भ में वेदों में विष्णु का उल्लेख सूक्ष्म विवेचन एवं गवेषणा की अपेक्षा रखता है। वैदिक संहिताओं में वर्णित विष्णु की विशेषताएँ मूलरूप में सूर्य से सम्बद्ध हैं जैसा कि आगे सिद्ध किया गया है। अत विष्णु और सूर्य का स्वरूप-साम्य देखते हुए बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण-काल में विष्णु के सर्वोच्च देव के रूप में अधिष्ठित हो जाने पर विष्णु विषयक मन्त्र जो संख्या में केवल चार हैं, बाद में विष्णु उपासक-मन्त्र द्रष्टाओं द्वारा ऋग्वेद में जोड़ दिए गए हों। इस विषय में नलिनविलोचन शर्मा ने दो सम्भावनाओं का उल्लेख किया है।[5]

पहली सम्भावना यह है कि आर्यों के पहले से भारत में रहनेवाली जातियों में विष्णु महिमावान् देवता रहे होंगे और उन्हें आर्य अपने देवताओं के बीच स्थान देने के लिए तैयार न थे। दूसरी सम्भावना है कि विष्णु आर्य जाति की ही साधारण श्रेणी की टुकड़ियों के देवता रहे होंगे जिन्हें अभिजात मन्त्रद्रष्टा ऋषि नापसन्द करते थे—शायद इसलिए कि इनकी दृष्टि में विष्णु के आरम्भिक रूप में अवांछनीय तत्त्व मिश्रित थे। इन्द्र और विष्णु की मित्रता

---

१ महाराष्ट्र शब्द-कोश, महाराष्ट्र कोश मण्डल, उत्तर भाग, भर्ती प्रकरण, पृ० ११९-१२० ।

२ वही। पृ० १२१-१२३ ।

३ इण्डियन फिलासफी, डा० राधाकृष्णन्, खण्ड १ ।

४ मानव निर्मिति, मांडरकर, पृ० ३३, ई० आर० ई०—(विष्णु) वैदिक माइथॉलोजी—मैक्डोनेल, १७।

'साहित्य', पटना, जुलाई, १९५७, पृ० १०८

इन्हीं दो वर्गों की सन्धि का सूचक हो सकती है।[1] नलिनविलोचन शर्मा की सम्भावनाओं का आधार 'शिपिविष्ट' सम्बन्धी यास्क का कथन 'कुत्सितार्थीयं पूर्व भवति' है। वे इसी का उदात्त रूप परवर्ती कृष्ण की कल्पना में देखते हैं। यास्क का समय ई० पू० ५०० वर्ष माना गया है। यह काल पौराणिक साहित्य का युग था जो वैदिक साहित्य के काफ़ी बाद में आता है। इस युग मे कृष्ण के विषय में कल्पनाएँ निश्चित हो चुकी थीं तथा कृष्ण और विष्णु का ऐक्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी दशा में यास्क का मत सम्पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद मे एक स्थान पर विष्णु को 'शिपिविष्ट' कहा गया है।[2] दुर्गाचार्य ने इस शब्द का अर्थ 'प्रात कालीन कोमल किरणों से समाविष्ट' किया है,[3] जिसमे बाल-सूर्य अभिलक्षित होता है तथा संकेत सूर्योदय-पूर्व रात्रि-कर्मों की ओर हो सकता है। अतः यह युक्तिवाद ठीक नहीं जान पड़ता। कृष्ण की काम-प्रधान पौराणिक कल्पना का बीज वैदिक विष्णु मे खोजने का यह एक प्रयत्न है।

वैदिक संहिताओं मे विष्णु के सम्बन्ध मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना उनका तीन विक्रमों का ग्रहण करना अर्थात् तीन डगों को रखना है। विष्णु ने अपने तीन डगों के भीतर समस्त संसार को माप लिया है।[4] इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद का मन्त्र—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे ॥—१।२२।१७

नितान्त प्रसिद्ध है तथा प्रत्येक संहिता मे उपलब्ध होता है।[5]

वेद-वर्णित विष्णु की दूसरी विशेषता उनका 'परमपद' है जो सबसे ऊँचा बताया गया है, जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है।[6] ऋग्वेद का कहना है कि विष्णु के परम पद को विद्वान् लोग सदा आकाश में वितत सूर्य के समान देखते हैं।[7]

तीसरी विशेषता है विष्णु के 'परमपद' में मधु के निर्झर का अस्तित्व, जहाँ देवता आमोद मनाया करते हैं।[8] और चौथी विशेषता है इन्द्र-वृत्र-युद्ध मे इन्द्र की सहायता।[9]

उपर्युक्त विशेषताओं में से पहली तीन विशेषताएँ सूर्य से सम्बन्धित हैं जैसा कि ब्राह्मण एवं आरण्यकों द्वारा प्रकट होता है। चौथी विशेषता यानी इन्द्र-वृत्र-युद्ध मे इन्द्र की विष्णु के द्वारा सहायता एक ऐसी घटना है जिसका न तो स्पष्ट रूप से सूर्य से सम्बन्ध है और न ही वह विष्णु के स्वतन्त्र देवता होने को प्रमाणित करती है। क्योंकि ऋग्वेद काल मे इन्द्र प्राकृतिक तत्त्व के देवता थे तथा इन्द्र एक पद भी था। वैदिक साहित्य मे अनेक इन्द्रों का उल्लेख है। पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के मन्त्र किसी एक काल की रचना नहीं है। अतः विष्णु की प्राचीनता एवं ऋग्वेद मे उनके विषय मे उल्लेखों की प्रामाणिकता की जाँच

---

१. त्रैमासिक 'साहित्य', पटना, जुलाई, १९५७ पृ० १-८।
२. ऋग्वेद, ७।१००।५।
३. निरुक्त, बम्बई संस्करण, १९१८।
४. ऋग्वेद, १।१५४।२।
५. भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७६।
६. ऋग्वेद, १।१५४।३।
७. ऋग्वेद, १।२२।२०।
८. ऋग्वेद, १।१५४।५।
९. ऋग्वेद, १।६१; ८, ६६।

करने के लिए यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि किस इन्द्र विशेष ने वृत्र को मारा था तथा जिसकी सहायता विष्णु ने की थी वह कौन-सा इन्द्र था।

यदि ऋग्वेद में प्रयुक्त विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र मूल मान लिए जाएँ तो ऋग्वेद में वर्णित चिह्नों से वे सूर्य के ही अन्यतम प्रकार सिद्ध होते हैं। यास्क के शब्दों में रश्मियों से व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है।[१] विष्णु-पुराण का कथन है 'तमेव सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्'। यहाँ 'विश्' धातु की व्याख्या व्याप्त होने के अर्थ में है। मैक्डोनेल, बेर्गी, श्रेडर आदि आदि 'विष्' का अर्थ सक्रिय होना बताते हैं। अतः विष्णु व्यापक रूप हैं तथा सूर्य के द्योतक हैं।[२] शाकपूणि के विचार में विष्णु के तीन पगों का सम्बन्ध पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से है तथा उनका क्रम नीचे से ऊपर की ओर है। और्णवाभ के मतानुसार तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य के उदय, मध्य और अस्त स्थान से है।[३] विल्सन, रौट, मैक्समूल्लर तथा बेर्गी का विश्वास है कि विष्णु ने त्रिपाद अथवा तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त से है। बलदेव उपाध्याय का कहना है कि और्णवाभ की व्याख्या वैदिक मन्त्र के विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं है क्योंकि विष्णु का तृतीय पद यानी परम-पद आकाश में ऊँचे पर स्थित है तथा जिस प्रकार आकाश में रश्मियों को चारों ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है उसी प्रकार यह परम-पद भी ऊँचाई पर से चमकता है। अतः ऋग्वेद का मन्त्र और्णवाभ की कल्पना की पुष्टि न करके शाकपूणि के मत की ही पुष्टि करता है।[४]

वस्तुतः शाकपूणि तथा और्णवाभ की व्याख्याओं में शाब्दिक भेद होते हुए भी तात्पर्य एक ही है। तथाकथित मतभेद का विषय है तृतीय पद। और्णवाभ के मतानुसार तीसरा क्रम सूर्य का अस्त होना है। इस वाक्य में क्रमशः दो अवस्थाएँ निहित हैं—अस्ताचल पर सूर्य का पहुँचना तथा अस्त हो जाना। दूसरी अवस्था में सूर्य अदृश्यमान है। अतः मनुष्य की कल्पना से परे है—यही सूर्य का धाम है। शाकपूणि के कथनानुसार भी तीसरा क्रम आकाश में उच्च स्थान पर है जो साधारण मनुष्य नहीं देख सकता तथा जहाँ देवता आमोद मनाया करते हैं। सूर्य सृष्टि का पालक होने के कारण वही प्राणिमात्र को जीवनी शक्ति प्रदान करता है। वही अमृत का आगार है, अतः परम-पद एवं मधु के निर्झर की वैदिक कल्पना सूर्य के धाम को ही आभासित करती है जो अदृश्य भी है और परम भी है।

शाकपूणि और और्णवाभ दोनों का मत ब्राह्मण युग की भावनाओं पर आधारित है जब विष्णु पूर्ण श्रेष्ठत्व प्राप्त कर चुके थे। अतः विष्णु के तीन डगों का सम्बन्ध पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से जोड़कर शाकपूणि ने अपने युग की मान्यताओं के अनुसार विष्णु के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया है जबकि और्णवाभ का मत यथार्थ पर आधारित है, अतः अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। ब्राह्मण युग में यजमान द्वारा तीन पगों को देने पर रस्म बन 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण भी मूल रूप में सूर्य से ही सम्बन्धित विधि है। पौराणिक

१ यास्क निरुक्त, १२।१६।

२ वैदिक माइथॉलोजी मैक्डोनेल, पृ० ३९।

३ निरुक्त, १२।१।

४. भागवत सम्प्रदाय बलदेव उपाध्याय, पृ० ७७-७८।

साहित्य में बलि के पाताल-गमन की धारणा से भी इसी मत की पुष्टि होती है क्योंकि पाताल का सम्बन्ध सूर्य के ही तीसरे क्रम से हो सकता है।

ऋग्वेद में जहाँ विष्णु के परमपद का उल्लेख है वहीं उन्हें 'गिरिष्ठा' (भयंकर पर्वत पर रहने वाला) तथा 'कुचर:' (स्वतन्त्रता से विचरण करने वाला) कहा गया है।[1] अगले मंत्र में इन्द्र तथा विष्णु दोनों को एक साथ अप्रवंचनीय बताया गया है जो पर्वत के शिखर पर दृश्यमान है। मैक्डोनेल इसका अर्थ मेघ-शिखरों पर आलोकित सूर्य से करता है जो युक्त-संगत जान पड़ता है।[2] क्योंकि अप्रवंचनीय तत्त्व प्रकाश है, सत्य है, अतः वही अन्धकार का नाश करने वाला तथा सर्वसाक्षी है।

वेद में विष्णु का सम्बन्ध गायों के साथ भी दिखायी पड़ता है।[3] विष्णु अजेय गोप है। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति है कि विष्णु के परमपद या उच्चतम लोक में 'भूरिशृंगा' (अनेक शृंगोंवाली) तथा 'अयासः' (नितान्त चंचल) गायों का आवास है।[4] 'भूरि शृंगा अयासः' गाएँ सूर्य की चंचल किरणें हैं जो व्योम में नाना दिशाओं को उद्भासित करती रहती है तथा अनेक रंग बदलती रहती है। मैक्डोनेल ने 'गाय' के स्थान पर 'मेघ' का अर्थ लिया है तथा अनेक शृंगवाली तथा चंचलता गुण-धर्मों की संगति मेघों से जोड़ी है।[5] दोनों दशाओं में गूढ़ार्थ सूर्य की ही ओर संकेत करता है। वेद में 'स्वदृश्',[6] 'विभूत-द्युम्न'[7] आदि उल्लेखों से भी विष्णु प्रकाश और तेज के देवता सिद्ध होते हैं, जो सूर्य के गुण-धर्म है।

अपने तीन डगों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही विष्णु ऋग्वेद मे 'उरुगाय' (विस्तीर्ण गतिवाला) तथा 'उरुक्रम' (विस्तीर्ण प्रक्षेपवाला) हैं। वे 'एष' या 'एवयावन' (गति से परिपूर्ण) धर्माणि धारयन्, ऋतस्य गर्भः, वेधा (नियमों के पालक) और पूर्व्य और नव्य दोनों हैं। उपर्युक्त चारों बातें सूर्य की विशेषताएँ हैं। ऋग्वेद में विष्णु घूमते हुए चक्र की भाँति अपने नब्बे अश्वों के साथ, जिनके चार-चार नाम है, चलने के लिए प्रस्तुत हैं। मैक्डोनेल के विचार में नब्बे अश्व दिनों के तथा चार नाम ऋतुओं के प्रतीक हैं तथा श्लोक का अर्थ तीन सौ साठ दिनों के सौर वर्ष से है।[8]

विष्णु इन्द्र के मित्र हैं तथा सहायक भी हैं। इन्द्र विद्युत् का प्रतीक है तथा विष्णु रूप है अतः दोनों का निकट सम्बन्ध है। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि के मतानुसार विष्णु ने पृथ्वी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण किया, ऊर्ध्व लोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाया तथा तीन डगों से समस्त संसार को माप लिया[9]। त्रिपाद का उल्लेख पहले हो चुका

---

१. ऋग्वेद, १, १५४।
२. वैदिक माइथॉलोजी, मैक्डोनेल, पृ० ३९।
३. ऋग्वेद, १।१२।१८।
४. ऋग्वेद, १।१५४।६।
५. ऋग्वेद, १।१५४।६।
६. ऋग्वेद, १।१५५।५।
७. ऋग्वेद, १।५६।१।
८. वैदिक माइथॉलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ३८।
९. भागवत सम्प्रदायः बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८।

है। उपयुक्त दोनों कार्यों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से सूर्य से है। सूर्य जीवनदाता होने के कारण निर्माता है और नियम का पालक होने के कारण नियन्ता भी। सूर्य का यह नियम विधायक की कल्पना में ही अन्तर्निहित है।

वैदिक विष्णु जो आरम्भ में पूर्णरूपेण सौर एवं निम्न कोटि के देवता हैं ब्राह्मण-युग में आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-युग कर्म प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ। यज्ञ से बढ़कर पावन तथा श्रेयस्कर कर्म और हो ही क्या सकता था? अतः स्वाभाविक है कि इस युग में आकर विष्णु यज्ञ-रूप बन जाते हैं 'यज्ञो वै विष्णुः'। ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में ही अग्नि 'अवम' तथा विष्णु 'परम' देवता स्वीकार किए गए हैं, 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।'[1] निश्चय ही विष्णु जो सूर्य रूप हैं, अग्नि से श्रेष्ठ माने जाते हैं क्योंकि कालान्तर में अग्नि को जगाना अधिक सरल हो जाता है। अग्नि सरलता से प्राप्य तत्त्व सिद्ध होता है तथा उसका आवास भी मन्त्रद्रष्टा सूर्य में देखने लगते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन रूप का उल्लेख है।[2] वामन के त्रिपाद की कथानुसार विष्णु सर्वश्रेष्ठ देवता न होने पर भी सर्वप्रथम दैवी शक्ति से युक्त हैं। इस कथा में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—विष्णु का वामन रूप तथा असुरों का वामन-रूपी विष्णु के बराबर इन्द्र को भूमि देना स्वीकार करना। दूसरी बात स्पष्ट है। विष्णु के लघुकाय होने के कारण ही असुर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं पर वामन रूप विचारणीय है। मैक्डोनेल का मत है कि असुरों में उत्पन्न होने वाले सन्देह को मिटाने के लिए विष्णु के वामन-रूप की कल्पना की गई होगी।[3] मैक्डोनेल का तर्क युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि वामन-रूप की कल्पना के बीज ऋग्वेद में अन्तर्निहित हैं[4] जहाँ विष्णु के इन्द्र के साथ लम्बे डगों से पृथ्वी नापने एवं उसे मनुष्य के रहने योग्य बनाने का उल्लेख है। वामन रूप लघु का द्योतक है और सूर्य भी आकार में लघु दिखाई देता है। लघु होते हुए भी वह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करता है। इस प्रकार वामन-रूप की कल्पना सूर्य पर ही आधारित प्रतीत होती है। वामन-रूप की यही कल्पना पौराणिक काल में वामनावतार को जन्म देती है।

ऐतरेय ब्राह्मण[5] में विष्णु का उल्लेख देवताओं के द्वारपाल के रूप में मिलता है। निश्चय ही देवलोक मनुष्य के लिए अदृश्य लोक है—आकाश में ऊँचे पर स्थित है जहाँ देवता वास करते हैं। सूर्य दृश्य है नैसर्गिक शक्तियों में दृश्यमान होने के कारण कल्पनातीत भी नहीं है, पर साथ ही एक रहस्य भी है। 'द्वारपाल' शब्द इसी 'द्रष्टव्य' तथा उसीमें निहित रहस्यात्मकता को व्यंजित करता है।

शतपथ ब्राह्मण[6] में विष्णु यज्ञ-सम्बन्धी विग्रह में विजयी होकर देवताओं में महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं तथा उन्हीं के धनुष से उनका सिर कटकर सूर्य बन जाता है।

१ ऐतरेय ब्राह्मण, १।१।
२ शतपथ ब्राह्मण १, २, ५।
३ वैदिक माइथॉलोजी मैक्डोनेल, पृ० ४१।
४ ऋग्वेद, ७,१००,१,१५५,६,६६।
५ ऐतरेय ब्राह्मण, १,३०।
६ श० ब्रा०, १४,१,१।

गीतोक्ति[१] के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत में विष्णु को बारह आदित्यों में सबसे छोटा, पर सबसे गुणवान एवं तेजस्वी कहा गया है।[२]

वैदिक साहित्य में विष्णु प्राकृतिक शक्ति, प्रकाश और तेज के देवता थे। इसीलिए वैदिक साहित्य मे उनके आयुधों का उल्लेख नही है जबकि इन्द्र एवं वरुण के आयुध वज्र और चक्र का उल्लेख मिलता है।[३] ब्राह्मण युग मे देवता गौण हो गए और यज्ञ को प्रधानता मिली। पौराणिक काल में आकर विष्णु सर्वशक्तिमान् एवं सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में अधिष्ठित हो जाते है। इस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरत्व का बीज शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है जहाँ प्रजापति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[४] इस कल्पना का विकास आरण्यक काल मे होता है जबकि यज्ञ का महत्त्व घट जाता है और सत्य विषयक दार्शनिक कल्पनाओं को प्राधान्य मिलने लगता है। उदाहरण के लिए, बृहद् आरण्यक में अश्वमेध के स्थान पर उषा को अश्व का शरीर, सूर्य को आँख, वायु को प्राणशक्ति, अग्नि को मुख तथा वर्षा को आत्मा आदि मानकर चिन्तन करने के लिए कहा गया है।[५] उपनिषदों मे उल्लिखित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अनेक रूप ग्रहण करने की कल्पना ही विष्णु को सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पद पर आसीन करती है। श्रेष्ठत्व और रूप धारण की स्थापना होते ही विष्णु को मनुष्य से अधिक शक्तिमान् दिखाने के लिए ही उनके रूप और अनेक भुजाओं की कल्पना अंकुरित हुई[६] और विष्णु का चतुर्भुज रूप वंदनीय माना जाने लगा। ताडपत्रीकर का अनुमान है कि व्यक्त होने के लिए पुरुष और प्रकृति का योग होने के कारण ही (पुरुष की दो और प्रकृति की दो) चार भुजाओं का उदय हुआ होगा; क्योंकि आज भी मराठी में विवाह के लिए चतुर्भुज होने की कहावत चली आ रही है।[७] चार भुजाओं ने आयुधों को जन्म दिया। जी० राव के मतानुसार आयुध प्रतीक रूप मे हैं।[८]

विष्णु के चार आयुधों (शंख, चक्र, गदा, पद्म) में सबसे महत्त्वपूर्ण आयुध चक्र है। चक्र सूर्य का प्रतीक है तथा किसी-न-किसी रूप में वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मों में अक्षुण्ण बना हुआ है। आरम्भिक वैदिक साहित्य में चक्र सूर्य का द्योतक था तथा आकाश में सूर्य के नियमित भ्रमण का प्रतीक था। ऋग्वेद में सूर्य रूपी अक्षयतथा अबाध्य स्वर्णिम चक्र को चलाने वाले देवता की स्तुति की गई है—ऐसे चक्र की जिस पर समस्त सृष्टि अवलम्बित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सूर्य-मन्त्र पढ़ते समय रथ के पहियों को घुमाने का उल्लेख मिलता है। चक्र उन चौदह रत्नों में से पहला रत्न है जो अमृत-मन्थन के समय समुद्र से निकले थे। बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी 'धर्म-चक्र' एवं 'सिद्ध-चक्र' की स्थापना है।[९] अहिर्बुध्न्य संहिता में चक्र परब्रह्म के सृष्टि-

चक्रधारित्व

१. गीता, अध्याय दसवाँ, श्लोक २१।
२. महाभारत, १-६५-१६, कलकत्ता संस्करण, १९०८, बंगवासी प्रेस।
३. फोकलोर माइथॉलोजी एण्ड लीजेंड (ब्हाल)।
४. वैदिक माइथॉलोजी : मैक्डोनेल, पृ० ४।
५. इंडियन फिलासोफी : दासगुप्त, पृ० १४।
६. ई० आर० ई०, पृ० १४४।
७. एनल्स ऑफ बी० ओ० आर० आई०, पृ० २८७।
८. ऐलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० २९२।
९. फ़ोकलोर माइथॉलोजी एण्ड लीजेंड : फंक एण्ड वैगनाल, पृ० ११७२।

रचना विषयक आदि विचार के रूप में वर्णित है। परब्रह्म के इसी अविनाशी विचार को सुदर्शन कहा गया है।[१]

विष्णु का वाहन अग्नि के समान तेजस्वी गरुड़ है जिसे ऋग्वेद में 'गरुत्मान' तथा 'सुपर्ण' कहा गया। सूर्य के विचार में कौस्तुभ मणि भी सूर्य ही है।[२]

इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इन्द्र की सहायता करने के कारण और मूल रूप में सौर देवता होने के कारण पौराणिक काल में विष्णु दुष्टों का दलन तथा सृष्टि का पालन तथा रक्षण करने वाले प्रतिपादित हुए। मन्त्र-युग में वे साम के प्रतिनिधि थे। सूर्य और विश्व रक्षण सोम पोषक तत्त्व है। पोषक तत्त्व मात्रा में स्वल्प होते हुए भी व्यापक है। उनमें विकास है, गुरुता है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है सूर्य जो दर्शन में लघुकाय होते हुए भी बृहत्तरकाय है। वामन रूप का आध्यात्मिक अर्थ है वामनो वै विष्णुरास।

विष्णु रूप में निहित सूर्य का आभास हमें विष्णु विषयक कल्पना के क्रमिक विकास में ही नहीं, अपितु प्राचीन मुद्राओं में भी स्पष्ट रूप से मिलता है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की ईरानी मुद्राओं पर अष्ट-दल कमल का चिह्न मिलता है। पौराणिक शिल्प-कला में भी द्वादश-दल कमल अंकित है। जे० एन० बनर्जी का विश्वास है कि प्राचीन मुद्राओं पर अंकित कमल सूर्य का प्रतीक है।[३] ब्राह्मण-युग में अग्नि-वेदी पर स्वर्णिम चक्र रखने की प्रथा थी। यहाँ चक्र सूर्य का द्योतक होता था।[४] आज भी ब्राह्मणों के धार्मिक-कर्मों में सूर्य का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पृथ्वी को त्रिपाद से व्याप्त करना तथा वामनावतार

पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के 'इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' के अनुसार विष्णु ने अपने तीन डगों में समस्त संसार को नाप लिया था तथा उनका तृतीय पद परमपद था। यही घटना ब्राह्मण-युग में विकसित होने लगती है तथा परवर्ती काल में पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार लोक के विभाजन के समय देव और असुरों में विग्रह आरम्भ हो जाता है। असुर इन्द्र को वामन-रूप विष्णु के बराबर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं। वामन भूमि पर लेट जाते हैं तथा अपनी काया बढ़ाकर समस्त पृथ्वी को ढँक लेते हैं। इस प्रकार देवों को समस्त पृथ्वी मिल जाती है।[४] मैक्डोनल के मतानुसार ब्राह्मण-वर्णित यह कथा महाभारत और पुराणों में वामनावतार की कथा का ही एक क्रम है।[५] इस प्रकार मनुष्य के लिए दो बार पृथ्वी नापने वाले तथा उसे मनुष्य के निवास एवं अस्तित्व के योग्य बनाने वाले ऋग्वेद-वर्णित आदित्य-रूप विष्णु पौराणिक काल में वामनावतार बन जाते हैं। वामन बटु है, ब्राह्मण रूप है अतः प्रचलित धर्म के अनुसार वह दान का पात्र है तथा दण्ड का नियोजक

१ ऐलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी बी० राव, पृ० २८८।
२ वैदिक माइथॉलोजी—पृ० ३१।
३ दि डेवलपमेंट ऑफ इंडियन आइकोनोग्राफी जे० एन० बनर्जी, पृ० १५२।
४ शतपथ ब्राह्मण, ७।५।१।१०।
५ वैष्णविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलीजन्स : भांडारकर, पृ० ३३।
६ वैदिक माइथॉलोजी मैक्डोनेल, पृ० ४१।

भी है। इस दृष्टि से वह ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादक है। इसी तात्त्विक आधार पर बलि की कथा का विस्तार एवं वामनावतार से उसका सम्बन्ध दर्शनीय है।

बलि की कथा के मुख्य सूत्र पुराणों में बिखरे पड़े हैं। वामन-पुराण[1] में बलि के पूछने पर प्रह्लाद उसे धर्म से राज्य करने के लिए कहता है। ब्रह्म-पुराण में बलि-राज्य मे ब्राह्मण तथा भूमि के कष्ट-निवारण के लिए विष्णु वामन अवतार लेने का ब्राह्मणों को आश्वासन देते हैं।[2] वामन-पुराण में बलि हरि की निन्दा करता है तथा बदले मे प्रह्लाद से शाप पाकर उसकी शरण जाता है। प्रह्लाद उसे विष्णु की शरण में जाने के लिए कहता है।[3] पद्म-पुराण में बलि के दान देने तथा पाताल जाने का वर्णन है।[4]

बलि की कथा

बलि की इस कथा मे क्रमशः चार प्रतिपादित तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—विष्णु की सर्वशक्तिमान् देवता के रूप में स्थापना तथा अवतार-धारण से लोक की विपत्ति का निवारण, ब्राह्मणों का ईश्वर रूप में स्वीकार तथा दान की महिमा, देव और असुरों का द्वन्द्व तथा देवताओं मे अग्रगण्य विष्णु के रूप में देवताओं की विजय तथा विष्णु की अवतार-कल्पना।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद तथा ब्राह्मण-युग मे प्रतिपादित कर्मकाण्ड के इष्टदेव के रूप मे विष्णु की कल्पना कालान्तर में क्रमशः परमेश्वर के रूप मे विकसित होने लगती है तथा उसका कृष्ण से कोई सम्बन्ध नही है।

२. पश्चिमी भारत में वासुदेव नामक एक प्राचीन देवता

वेदकालीन कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप आरण्यक काल की चिन्तन-परक विचार-धारा आर्यो की सकाम उपासना को निष्काम उपासना की ओर प्रवृत्त करती है तथा परवर्ती सात्वत अथवा भागवत धर्म मे कृपालु भगवान् का अधिष्ठान करती है। इस धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण कहे जाते है और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं।[5]

वैदिक साहित्य में वासुदेव का कोई उल्लेख नही मिलता। तैत्तिरीय आरण्यक में एक स्थान पर अवश्य यह नाम आता है, पर वह वासुदेव, विष्णु तथा नारायण की एकता सम्पन्न हो चुकने के बाद का उल्लेख है।[6] अतः वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने में वह सहायक नही होता।

वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाले मुख्यतः दो आधार उपलब्ध हैं। एक प्राचीन ग्रन्थ और दूसरे शिलालेख। महाभारत मे 'वासुदेव' शब्द की विशद व्याख्या मिलती है। समस्त प्राणियों को अपनी माया तथा अलौकिक ज्योति द्वारा व्याप्त करने तथा सूर्य के रूप में रहकर अपनी किरणों से समस्त संसार को ढँक लेने एवं सभी प्राणियो का अधिवास

१. वामन पुराण, ७४।
२. ब्रह्म पुराण, ७३।
३. वामन पुराण, ७७।
४. पद्म पुराण, पाताल खण्ड, ५३।
५. वैष्णव धर्म, पृ० २१।
६. वैष्णव धर्म, पृ० २२।

पार्थ सात्वतों को लालची नहीं समझते और उसी पर्व में एक अन्य स्थल पर स्वयं वासुदेव को भी 'सात्वत' कहा गया है। इस प्रकार 'वार्ष्णेय' एवं 'सात्वत' वस्तुतः एक ही जान पड़ते हैं। विष्णु-पुराण का यदुकुल-वर्णन तथा यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण इस बात की पुष्टि करता है। श्रीमद्भागवत से पता चलता है कि सात्वत लोग परमेश्वर को भगवान् वासुदेव कहा करते थे। इसी पुराण में वासुदेव को 'सात्ववर्षभ' कहा गया है।[1] डॉ० भांडारकर के मतानुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णिवंशीय के एक अन्य नाम की भाँति व्यवहृत होता था।[2] शान्ति-पर्व के अन्तर्गत 'सात्वत विधि' को सूर्य द्वारा प्रवर्तित कहा गया है जिसकी पुष्टि गीता के सोलहवें अध्याय के तीसरे श्लोक से भी होती है।[3] गीता मे कहा गया है कि यह शाश्वत योग भगवान् ने पहले विवस्वान को बताया था।[4] विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया तथा वह परम्परा से राज-ऋषियों को विदित था। अनादि काल से चले आने वाले इस योग-धर्म के गुण-दर्शनार्थ ही सम्भवतः इस योग-धर्म का नाम सात्वत पड़ा हो। विष्णु-पुराण में यदु के क्रोष्टु-कुल की चर्चा है और कहा गया है कि इस कुल मे अंश नामक पुरुष हुए थे जिनके पुत्र का नाम सत्वत था और सत्वत से ही लोग सात्वत कहे गये।[5] इस प्रकार सात्वत धर्म के प्रवर्तक सत्वत सिद्ध होते हैं और इसका एकमात्र प्रमाण विष्णु-पुराण है। प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि विष्णु-पुराण काफी परवर्ती संकलन है। अतः बहुत सम्भव है कि 'सात्वत' शब्द 'सत्त्व' से बना हो। स्पष्ट ही धर्माचार के क्षेत्र मे 'सत्त्व' परमतत्त्व एवं सात्विकता का पर्याय है। परमतत्त्व केवल है ब्रह्म। अतः उसके स्वरूप का चिन्तन करने वाले कर्मयोग में रत सात्विक लोग ही 'सात्वत' कहलाये हो। गीता के उपर्युक्त श्लोक को देखते हुए यह भी सम्भव है कि यह महान् धर्म अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ऋग्वेद-काल में अस्तित्व में रहा हो। ऊपर कहा गया है कि ऋग्वेद की रचना किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की नहीं है, अपितु उसके कई मन्त्र आर्यो के पंचनद में आकर बस जाने के पहले के हैं। यह मान लेने पर भी कि वैदिक युग का धर्म प्रधानतः यज्ञ था, ऋग्वेद में परब्रह्म की कल्पना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतः क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि 'सात्वत' शब्द मूलतः 'शाश्वत' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो तथा आदि आर्य अपने आदि स्थान में जलवायु की सुविधानुसार शायद शाश्वत शब्द का उच्चार ही 'सात्वत' करते हों। महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में जो भागवत धर्म का निरूपण है उसके अनुसार यह धर्म सर्वप्रथम श्वेत-द्वीप मे नारायण द्वारा नारद को प्राप्त हुआ था।[6] इस कथन में निगूढ अतीत काल मे इस धर्म के विद्यमान होने की ओर संकेत है। महाभारत में भीष्म कहते है 'अनन्त एवं दयालु परमेश्वर को हमें वासुदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा चातुर्वर्ण्य को चाहिए कि उसकी पूजा भक्तिभाव से करे।'[7] इस कथन

१. वैष्णव धर्म, पृ० २५।
२. वै० शै०, पृ० २५।
३. द एज आफ् इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४३३।
४. गीता, ४।१।
५. वैष्णव धर्म, पृ० २५।
६. गीता रहस्य : बा० गं० तिलक, पृ० ६६५।
७. महाभारत, ६६वाँ अध्याय।

इस मान्यता का समर्थन प्राचीन शिलालेखों से भी होता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बेसनगर शिलास्तम्भ में यवन राजा एँटियाल्किडस के राजदूत भागवत धर्मावलम्बी हेलियोदोरस द्वारा 'देवदेव वासुदेव' के नाम पर गरुडध्वज निर्माण करने बेसनगर का शिलालेख का उल्लेख है।[1] उक्त शिलास्तम्भ की बहुत-सी बातें और अभिलेख में उपदेश एवं गीता के सिद्धान्तों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं।[2] इस शिलालेख से क्रमशः तीन मुख्य बातें दृष्टिगोचर होती हैं। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में देवदेव वासुदेव की मान्यता एवं भागवत धर्म का प्रचार, वासुदेव और गरुडध्वज का उल्लेख, कृष्ण के उल्लेख का अभाव एवं गरुडध्वज में गरुड की मान्यता जो परम्परागत रूप में वैदिक एवं ब्राह्मण-युग के विष्णु से सम्बन्धित है। स्पष्ट ही इस शिलालेख के समय वासुदेव और कृष्ण का ऐक्य स्थापित हो चुका था।[3] मेगास्थनीज एवं एरियन नामक यूनानियों के लेखों से जो चन्द्रगुप्त के काल में ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे वासुदेव एवं कृष्ण तथा मथुरा के अस्तित्व का पता चलता है।[4] पाणिनि के भी एक सूत्र से विदित होता है कि वासुदेव व्यक्ति किसी क्षत्रिय वंश का था।[5] वासुदेव के विषय में पाणिनि द्वारा किया हुआ उल्लेख समस्या पर अधिक प्रकाश नहीं डालता अतः यह अनुमान करना कि पाणिनि के समय में वासुदेव एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति थे अनुचित न होगा। डॉक्टर भाण्डारकर की मान्यता है कि पाणिनि के समय में भागवत धर्म प्रचार में था।[6] ऐसी दशा में वासुदेव यदि पाणिनि के सौ-दो सौ वर्ष पूर्व विद्यमान रहे होते तो पाणिनि को उन्हें किसी क्षत्रिय वंश का मानने की आवश्यकता न पड़ती। इतना ही नहीं, पाणिनि का उल्लेख अधिक स्पष्ट एवं निश्चयात्मक होता। अतः यह अनुमान करना कि वासुदेव पाणिनि से कई शताब्दियों पूर्व विद्यमान थे सर्वथा अनुचित न होगा। इस मत का समर्थन छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र के उल्लेख से एवं जैन धर्म के आधार पर भी होता है।[7] अतः कृष्ण का समय ईसा-पूर्व नवीं शताब्दी के उपरान्त का नहीं प्रतीत होता।[8] लगभग यही काल मैक्समूलर ने ब्राह्मण ग्रंथों की रचना का काल माना है। इस प्रकार वासुदेव एवं भागवत अथवा सात्वत धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप उसका समकालीन प्रतीत होता है तथा इस तरह इस धर्म के विकास के कारणों पर भी पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

रायचौधरी के मतानुसार सात्वत एवं वृष्णि लोग ब्राह्मण-काल में विद्यमान थे तथा आरम्भिक वैदिक-काल में कम-से-कम उनका एक प्रसिद्ध धर्म प्रवर्तक अस्तित्व में था तथा तुसम शिलालेख के आधार पर सात्वतों का आर्य होना भी विदित होता है।[9] इस आधार

---

१ वै० शै० भाण्डारकर, पृ० ३—४।
२ अ० हि० वै० रायचौधरी, पृ० ५९—६०।
३ मेमॉयर्स ऑफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नं० ५, बुक १।
४ अ० हि० वै० पृ० ५५—५६।
५ वैष्णव धर्म परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३१।
६ भाण्डारकर, पृ० ३—४।
७ वैष्णव ध० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३१।
८ अ० हि० आफ वै० रायचौधरी, पृ० ६५।
९ वही पृ० ७८।

पर भी वासुदेव कृष्ण की प्राचीनता का समर्थन होता है तथा जरासंध, कंस, शिशुपाल, कालयमन आदि चरित्रों का आर्येतर संस्कृति के अनुगामी एवं शिव का उपासक होना सिद्ध होता है। 'महाराष्ट्र ज्ञानकोष' में डॉ० केतकर द्वारा भारत में आर्यों के पूर्व तथा उनके समकालीन देश्य संस्कृति के अस्तित्व की ओर किया हुआ संकेत तथा महाभारत युद्ध से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व दाशरथी युद्ध की सम्भावना इस बात का समर्थन करती है,[1] तथा वैदिककाल में प्रचलित नामों को और भी विस्मृत अतीत की ओर ले जाती है।

जिस काल में विष्णु ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ देवता के रूप में पूज्य थे उसी काल में कुछ क्षत्रिय जातियों की स्वतन्त्र धार्मिक विचारधारा भागवत अथवा सात्वत सम्प्रदाय के रूप में ब्राह्मणेतर देश में यानी भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में, जहाँ ब्राह्मणों का अधिक प्रभाव न था, अस्तित्व में थी तथा यह धर्म जो आरम्भ में उन जातियों तक ही सीमित था क्रमशः दक्षिण की ओर फैल रहा था।[2]

सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों विचारधाराओं में काफी अन्तर था। ब्राह्मण धर्म में अनेक देवताओं को मान्यता मिली थी। धर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ और विष्णु यज्ञ-रूप होने के कारण अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते थे। देवता को प्रसन्न करने के लिए बलि देने की प्रथा थी तथा लक्ष्य था भौतिक समृद्धि प्राप्त करने के साथ-साथ विष्णु के परमपद की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण-युग की साधना वैदिक परमात्मोपासना के ही अनुरूप थी तथा योग था ध्यान योग[3], जो परमात्मा-विषयक श्रद्धा पर आधारित था। सात्वत अथवा भागवत धर्म ने, जो स्वयं भी कर्मकाण्ड पर आधारित था, इस धार्मिक विचारधारा में सुधार करते हुए बहुदेववाद की जगह एकेश्वरवाद की स्थापना की तथा साधना पक्ष में अनन्य भक्ति को प्रमुख स्थान दिया। इस धर्म के अन्तर्गत परमात्मोपासना की जगह आत्मोपासना को महत्त्व दिया गया तथा ध्यान एवं श्रद्धा का स्थान ज्ञान एवं भक्ति ने ले लिया। हिंसा की जगह अहिंसा को मान्यता मिली। इस तरह देखा जाए तो वासुदेव द्वारा वैदिक युग के कर्मकाण्ड एवं प्राचीन सांख्य तथा योग का समन्वय भागवत धर्म में हुआ। भागवत अथवा सात्वत धर्म के प्रवर्तक वासुदेव एक महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व एवं उपदेश से प्रभावित होकर ही उनके अनुयायी सात्वतों ने उनके जीवन काल में ही उन्हें अपना उपास्य देव स्वीकार किया तथा परवर्ती काल में वे पूर्ण परब्रह्म स्वरूप समझे जाने लगे। महाभारत में हमें उनके यही दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं।[4]

ये दोनों प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ एक ही काल में दो विभिन्न प्रदेशों में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थीं तथा दोनों का आधार लगभग एक होते हुए भी मान्यताएँ विभिन्न होने के कारण दोनों के उपास्य देव वासुदेव एवं विष्णु का अस्तित्व पृथक्-पृथक् बना हुआ था। कालान्तर में इन धार्मिक विचारधाराओं की प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्मों के अन्तर्गत निरीश्वरवाद की स्थापना होते ही जहाँ एक ओर इस नूतन धर्म के

वासुदेव तथा विष्णु का ऐक्य

१. महाराष्ट्र ज्ञानकोष, पृ० ७८।
२. अ. हि. ऑफ वै. पृ० ६९—७०।
३. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३४।
४. वैष्णव धर्म, पृ० ३२।

एकीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ दूसरी ओर विष्णु एवं वासुदेव शब्दों में निहित व्यापकता ने भी इस दिशा में सहायता पहुँचाई।[1] अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि निरीश्वरवाद की यह नई चेतना तथा विभिन्न धार्मिक मतों का अस्तित्व ही इस एकीकरण का प्रधान कारण बना। वासुदेव कृष्ण के एकीकरण से जहाँ एक ओर दो विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का गठबन्धन हुआ वहाँ दूसरी ओर दोनों के उपास्य देवों की कल्पनाओं में भी स्वरूप की दृष्टि से आदान-प्रदान हुए। विष्णु जो पहले केवल यज्ञ से सम्बन्धित एक श्रेष्ठ देवता माने गए थे अब सर्वव्यापी परमेश्वर समझे जाने लगे। यह परमेश्वर पद एकीकरण के पूर्व केवल वासुदेव को ही प्राप्त था। दूसरी ओर वासुदेव जो क्षत्रिय जातियों के उपास्य देव थे ब्राह्मणों द्वारा स्वीकार किए गए तथा परवर्ती काल में वे विष्णु के पूर्णावतार भी मान लिए गए।

महाभारत व प्राचीन ग्रन्थों की रचना के समय तक सात्वत अथवा भागवत धर्म का ही प्रचार था। उस समय तक विष्णु केवल एक आदित्य देवता थे।[2] इसीलिए गीता में वासुदेव को आदित्यों में विष्णु बताया गया है।[3] वासुदेव और विष्णु का एक्य ज्ञान और कर्म के एकीकरण को स्थापित करता है। इससे विदित होता है कि वासुदेव तथा विष्णु का एकीकरण महाभारत के रचनाकाल के बाद की घटना है। बेसनगर-शिलालेख के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह एकीकरण ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक सम्पन्न हो चुका था तथापि अभी वासुदेव की उपासना स्वतन्त्र रूप से भी चली आ रही थी। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि इन दोनों देवताओं से सम्बन्धित इस संगठित धार्मिक विचारधारा को कालान्तर में वैष्णव नाम ही क्यों मिला? इस प्रश्न का समाधान परवर्ती काल में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का अध्ययन करने से हो जाता है।

'वैष्णव' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाभारत के अन्तिम भाग में हुआ है।[4] राय चौधरी महाभारत के इस भाग का रचनाकाल ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।[5] अतः यह मानना अनुचित न होगा कि ईसा के बाद पाँचवीं शताब्दी तक विष्णु किसी सम्प्रदाय विशेष के उपास्य देव नहीं माने जाते थे अपितु वे केवल यज्ञ से ही सम्बन्धित, विश्व के पोषक एवं पालक देवता के रूप में ही वन्दनीय थे। डॉ० भांडारकर के मतानुसार भगवद्गीता तथा अनुगीता के रचनाकाल के बीच वासुदेव कृष्ण और विष्णु का एकीकरण हो चुका था क्योंकि अनुगीता में कृष्ण द्वारा उत्तंक ऋषि को अपना विराट् रूप दिखाने का उल्लेख है जिसे वैष्णव रूप कहा गया है।[6] पर गीता में इसी रूप को 'विश्व-रूप' कहा गया है जो कृष्ण ने अर्जुन को दिखाया था। डॉ० भांडारकर के अनुसार इसी आधार को प्रमाण मान लिया जाए तो गीता में भी अर्जुन ने कृष्ण को दो बार 'विष्णो' शब्द से सम्बोधित किया है। पर वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग वहाँ कृष्ण के तेजयुक्त रूप-गुण को सम्बोधित करने के लिए

---

१ वैष्णव धर्म पृ० ४५।
२ वैष्णव धर्म, पृ० ४४।
३ गीता, १०।२१।
४ महाभारत १८।६।९७।
५ अ० हि० ऑफ वै० पृ० १८।
६ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३५।

ही हुआ है, क्योंकि गीता के ही अन्य उल्लेख के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः डॉ० भांडारकर का अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता।

वेद-विहित कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप कर्म से विमुख होकर सत्य की खोज में एक दूसरी चिन्तनपरक विचारधारा विकसित होती है[1] तथा ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक कल्पना[2] प्रबल होकर नारायण को सृष्टि के रचयिता के रूप में अधिष्ठित करती है। ऋग्वेद के नारायण वस्तुतः ऐतिहासिक अथवा पौराणिक न होकर पूर्ण रूप से वातावरण के देवता थे।[3]

नारायण तथा नारायणीय धर्म

वेदेतर साहित्य में नारायण शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[4] में मिलता है जहाँ पुरुष नारायण द्वारा यज्ञ वेदी से वसु, रुद्र तथा आदित्यों का प्रातः, मध्याह्न एवं सान्ध्य अर्घ्य के रूप में भेजे जाने तथा उनके स्वयं वेदी पर अधिष्ठित होने का उल्लेख है। इस उल्लेख के अनुसार नारायण सभी लोकों, देवताओं एवं वेदों में व्याप्त है तथा इन सबका अधिवास नारायण में है। इस प्रकार नारायण यहाँ वैदिक कल्पना के अनुरूप परमात्मा के स्वरूप में अधिष्ठित किये गए हैं।[5] इसी ब्राह्मण में पुरुष नारायण के प्राणिमात्र से श्रेष्ठत्व प्राप्त करने तथा उनमें वास करने के लिए पांचरात्र सत्र करने का भी उल्लेख मिलता है तथा नारायण के यज्ञ करने तथा सर्वश्रेष्ठ बन जाने का वर्णन है।[6] ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के रचयिता को भी नारायण कहा गया है।[7] डॉ० भांडारकर के मतानुसार पुरुष सूक्त के रचयिता को नारायण मानना पुरुष और नारायण की कल्पना पर आधारित है जो शतपथ ब्राह्मण में लक्षित होती है।[8] नर और नारायण की यही कल्पना मनु[9] से भी होती है जहाँ जल की नर से उत्पत्ति होने के कारण उसे नार कहा गया है और ब्रह्मा और हरि का निवास जल पर होने के कारण वे दोनों नारायण कहलाए हैं। नर और नारायण की इस द्वैत कल्पना का बीज ऋक् संहिता एवं माण्डूक्य उपनिषद् में भी उपलब्ध होता है[10] जहाँ आत्मा और परमात्मा के रूप में दो पक्षियों का उल्लेख है।

तैत्तिरीय आरण्यक[11] में नारायण में उन सभी गुण-धर्मों की स्थापना हो जाती है जो उपनिषदों में परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत और पुराणों में वे परमेश्वर समझे जाने लगते हैं तथा उनका सम्बन्ध विशेष रूप से सृष्टि की रचना से माना जाता है। पौराणिक दृष्टि से वही क्षीराब्धि अथवा श्वेत-द्वीप के शेषशायी नारायण हैं।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसोफी : दास गुप्त, भाग १, पृ० १४।
२. ऋ० १०।८२।५-६।
३. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
४. शतपथ ब्राह्मण, १२, ३, ४।
५. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
६. शतपथ ब्राह्मण, १३, ६, १।
७. ऋ० १०।१०।
८. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३१।
९. मनु, १, १०।
१०. वै० शै० भांडारकर, पृ० २८।
११. तैत्तिरीय आरण्यक, १०, ११।

महाभारत में ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण की नाभि से मानी गई है।[१] इसी ग्रन्थ के नारायणीयोपाख्यान में नारायण का निवास श्वेत द्वीप में माना गया है जो विष्णु के वैकुण्ठ से भिन्न है। इसी उपाख्यान में नारायण स्वयं नारद को वासुदेव का धर्म बतलाते हैं तथा वासुदेव को सृष्टिकर्ता परमात्मा एवं सर्वस्व कहते हैं। यहाँ कृष्ण के एकान्तिक धर्म अथवा परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ भक्ति से ही परमात्मा प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। भागवत धर्म का यह नारायणीकरण नारायण तथा वासुदेव के एकीकरण का प्राथमिक संकेत प्रतीत होता है। क्षीरसागर में नारायण श्वेत-द्वीप में शेषशय्या पर आसीन हैं तथा लक्ष्मी उनके पैर दबाती हुई चित्रित हैं।[२] महाभारत के वन-पर्व में जल प्रलय वर्णन के अन्तर्गत जल पर क्रीडा करने वाले बाल-रूप नारायण का उल्लेख है।[३]

नारायण, वासुदेव तथा विष्णु सम्प्रदायों का एकीकरण तथा उसमें आभीर देवता बाल कृष्ण का समावेश

सैद्धान्तिक दृष्टि से नारायणीय एवं भागवत धर्मों में अन्तर तो है ही नहीं, वरन् नारायणीय धर्म में वासुदेव को मान्यता देकर भागवत धर्म में प्रतिपादित अनन्य भक्ति का ही दृढ़ता से समर्थन किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एवं उपनिषद्कालीन नारायण की कल्पना, जो मूल रूप में उन्हें वातावरण के देवता के रूप में मान्यता देती थी, महाभारत-काल तक आकर उन्हें परमात्मा पद पर आसीन करके वन्दनीय बना देती है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'हरि' शब्द का प्रयोग जो पहले इन्द्र के लिए होता था, इसी परमात्मा स्वरूप नारायण के लिए हुआ है।[४]

पहले कहा गया है कि वासुदेव-कृष्ण तथा विष्णु का एकीकरण गीता के पश्चात् पौराणिक काल में हुआ है। यही काल वासुदेव एवं नारायण के एकीकरण का काल माना जा सकता है[५] क्योंकि गीता में नारायण के उल्लेख के अभाव से स्पष्ट विदित होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना—नारायण की कल्पना प्राचीन होते हुए भी—बाद की घटना है। डॉ० भांडारकर का अनुमान है कि गीता के रचनाकाल तक वासुदेव एवं नारायण का एकीकरण नहीं हुआ था न ही नारायण विष्णु के अवतार माने जाते थे।[६] उनका यह भी अनुमान है कि वासुदेव का महत्त्व बढ़ जाने के उपरान्त वासुदेव और नारायण का एकीकरण हुआ।[७] इस मत से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

महाभारत में नारायण एवं नारायणीय धर्म के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनसे भी यह निश्चित होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना गीता के पश्चात् की घटना है, यद्यपि नर-नारायण की कल्पनाएँ प्राचीन थीं। महाभारत में[८] वैशम्पायन जनमेजय से

---

१ महाभारत ३।१२।२४ तथा १२।३४१।१८।
२ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३२।
३ महाभारत, वन पर्व, अध्याय १८८, १८९।
४ वैष्णव धर्म, पृ० १६।
५ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३२।
६ वै० शै० भांडारकर, पृ० १३।
७ वही पृ० ३२।
८ महाभारत, अध्याय ३, ६।

कहते हैं कि स्वयं नारायण ने जो धर्म नारद को बताया था वही हरिगीता में जनमेजय को बताया गया है। यह ऐकांतिक धर्म वही है जो कृष्ण ने अर्जुन को बताया था[1] तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड के आरम्भ में इस धर्म की स्थापना नारायण ने की थी। चौथे ब्रह्माण्ड-काल में इस धर्म को दो बार सात्वत धर्म कहा गया है तथा इसी ग्रन्थ में इस धर्म का उपदेश परम्परा के रूप में नारायण से प्रजापति, दक्ष, विवस्वान तथा इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ बताया गया है।[2] नारायणोपाख्यान के अन्तर्गत वासुदेव द्वारा एकनिष्ठ भक्ति पर भी जोर दिया गया है[3] तथा कहा गया है कि नारायण को वही देख सकता है जो उनका एकनिष्ठ भक्त हो। इसीलिए नारद जो नारायण के एकनिष्ठ भक्त थे नारायण का दर्शन पा जाते हैं। वन-पर्व[4] में अर्जुन एवं जनार्दन नर और नारायण कहे गए हैं तथा दोनों के अभेद का भी प्रतिपादन किया गया है। उद्योग-पर्व[5] में कहा गया है कि अर्जुन एवं वासुदेव परम्परानुसार प्राचीन नर-नारायण हैं।

वासुदेव एवं नारायण धर्म में केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही अभेद नहीं है वरन् नारायणीय धर्म पूर्ण रूप से सात्वत धर्म पर ही आधारित है। इतना ही नहीं, महाभारत के उपर्युक्त उल्लेख भी गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही आधारित प्रतीत होते हैं तथा महाभारत-काल में वासुदेव को ही नारायण भी मान लिया गया है तथा इस मान्यता के समर्थनार्थ ही नारायणीयोपाख्यान का समावेश महाभारत में किसी परवर्ती-काल में हुआ जान पड़ता है।[6]

महाभारत के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में नर-नारायण की वन्दना से भी इसी मत की पुष्टि होती है तथा स्पष्ट रूप से विदित होता है कि उस समय तक वासुदेव और अर्जुन का नर-नारायण के साथ एकीकरण हो चुकने के कारण ही महाभारत में नर-नारायण स्तुति के पात्र समझे जाते हैं। इस बात में नारायण धर्म की महत्ता प्रतिपादित होते हुए भी गौण रह जाती है तथा वासुदेव की परमात्मा के रूप में स्थापना की ही महत्ता अभिलक्षित होती है।

वासुदेव, विष्णु एवं नारायण का एकीकरण इन दोनों सम्प्रदायों के विचार-साम्य, शैव-मत के तत्कालीन प्रचार एवं बौद्ध तथा जैन धर्मों के अन्तर्गत निरीश्वरवाद की स्थापना की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रतीत होता है।[7] महाभारत में शिव की स्तुति तत्कालीन निगूढ धार्मिक मतभेद की ओर इंगित करती है। इसी मतभेद के फलस्वरूप तत्कालीन धार्मिक विषमताओं में समता की स्थापना के लिए विष्णु में विभिन्न सम्प्रदायों को अन्तर्निहित करके एक ही परमेश्वर की स्थापना को मान्यता देकर व्यावहारिक रूप में एक व्यापक धर्म की स्थापना हुई जो कालान्तर में वैष्णव धर्म कहलाई। इस व्यापक धर्म के वैष्णव-धर्म कहलाने तथा

१. महाभारत, अध्याय ३४८।
२. वै० शै० भांडारकार, पृ० ७।
३. वही, पृ० ७।
४. वनपर्व, १२, ४६, ४७।
५. उद्योग-पर्व ४९, १९।
६. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३२।
७. अ० हि० आफ० वै० : राय चौधरी, पृ० १०७।

विष्णु की परमात्मा रूप में स्थापना एवं मान्यता के पीछे कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं। सबसे पहले विष्णु जो वैदिक देवता थे वह-वर्णित विशेषताओं के कारण ब्राह्मण-काल में अन्य देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाने लगे थे तथा महाभारत-काल तक आकर वे नारायण के साथ लगभग एकरूप भी हो गए थे।[1] नारायण मुख्यतः सृष्टि के रचयिता एवं चिन्तन के देवता होने के कारण विष्णु का महत्त्व बढ़ गया। वामन रूप में अवतारवाद का बीज निहित होने के कारण तथा गीता में अवतारवाद की स्थापना होने के कारण स्पष्ट ही वासुदेव से एकीकरण के लिए अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा विष्णु ही अधिक योग्य समझे गए। वासुदेव की अपेक्षा विष्णु को अधिक महत्त्व प्रदान करने के पीछे ब्राह्मणों का विशेष प्रयास लक्षित होता है। इस धारणा की पुष्टि महाभारत के आधार पर ही हो जाती है जहाँ धर्मनिष्ठ ब्राह्मण वासुदेव कृष्ण को नारायण मानना अस्वीकार करते हैं।[2] महाभारत में निर्दिष्ट यह विरोध गीता के रचना काल में भी विद्यमान प्रतीत होता है जिसकी पुष्टि गीता से हो जाती है।[3] अतः हम मानते हैं कि वासुदेव कृष्ण एवं विष्णु नारायण के एकीकरण के पीछे ब्राह्मण धर्म की विचारधारा अत्यन्त प्रबलता से काम करती रही है तथा परिस्थितिवश सात्वत या भागवत धर्म को आत्मसात करके विष्णु को परमात्मा पद पर अधिष्ठित करती है। इस एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु वैदिक और देवता न रहकर उनका स्वरूप गीतावर्णित व्यापक परब्रह्म के रूप में निश्चित होता है। विष्णु के इस नवीन स्वरूप-परिवर्तन के कारण ही शायद सात्वत या भागवत धर्मावलम्बियों को नवीन स्थापना को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हुई।

डॉ० भांडारकर इस एकीकरण में ईसा की पहली शताब्दी में गोपालकृष्ण का भी समावेश मानते हैं। उनका अनुमान है कि गोपालकृष्ण, जो बाद में वासुदेव कृष्ण में एकरूप हो गए, किसी आभीर जाति के देवता थे जो ईसा की पहली शताब्दी के लगभग भारत में आकर बस गई थी तथा इस देवता की बाल-लीलाएँ ईसा पर आधारित हैं।[4] डॉ० भांडारकर का मत संदिग्ध प्रतीत होता है क्योंकि 'अय्यर' नाम, जो 'अभीर' का पर्याय है एवं अभीर जाति को सूचित करता है, ईसा से कई शताब्दियों पूर्व भारत में विद्यमान था तथा इस जाति के लोग पाण्डु वंश के साथ तमिल देश में आ बसे थे।[5] तिलक के मतानुसार गोपाल कृष्ण और कोई न होकर वासुदेव कृष्ण ही हैं तथा कृष्ण का बाल लीला-वर्णन परवर्ती कल्पनाएँ हैं।[6] डॉ० चौधरी ने डॉ० भांडारकर के मत के आधारों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण ही माना है जो सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[7] गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण मान लेने पर भी गोपाल कृष्ण सम्प्रदाय के रूप में वासुदेव कृष्ण के प्राचीन रूप और मान्यताओं में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

१ अ० हि० ऑफ वै० राय चौधरी, पृ० ११४।
२ वही, पृ० २०७।
३ गीता, ७।२१, ९।११।
४ वै० शै० भांडारकर पृ०, ३८।
५ तमिल्स एटीन हन्ड्रेड इयर्स एगो—वी० कनक सबाई, पृ० ५७।
६ गीता रहस्य बा० गं० तिलक, पृ० ५४३।
७ अ० हि० आफ वै० राय चौधरी, पृ० ३५१ ६०।

छांदोग्य उपनिषद, मेगस्थनीज का इंडिका, पातंजलि का महाभाष्य, बौद्धों का घट—जातक इत्यादि के अनुसार, जिन्हें प्रायः सभी विद्वान् कृष्ण से सम्बन्धित सबसे प्राचीन उपलब्ध आधार मानते हैं।[१] कृष्ण एक परम योद्धा तथा महायोगी ही सिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वे एक महापुरुष और धर्म के प्रवर्तक के रूप मे ही अभिलक्षित होते है। स्पष्ट ही इन सब ग्रन्थों में उनका उदात्त चरित्र ही सर्वत्र अंकित है और वह भी उनके पाण्डवों के सम्पर्क में आने के बाद का है। ठीक इसके विपरीत उनके चरित्र के अन्तर्गत शृंगार-लीलाओं का समावेश, जो मुख्यतः हरिवंश, भागवत आदि पुराणों में बिखरा पड़ा है, निश्चय ही बाद का आविष्कार प्रतीत होता है। कृष्ण के चरित्र मे इन नवीन बातो के समावेश का सूत्र खोजने के लिए महाभारत, हरिवंश एवं अन्य पुराणों के आन्तरिक आधारों का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि यह समावेश कृष्ण-चरित्र में वह नवीन मोड़ है जिसके सहारे कृष्ण से सम्बन्धित प्रायः सभी परवर्ती सम्प्रदाय चलते है।

कृष्ण की कथा विष्णु, ब्रह्म, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, स्कन्द, वामन तथा कूर्म पुराणो में मिलती है। अन्य पुराणो में वह बहुत ही संक्षेप मे दी गई है तथा उपर्युक्त पुराणों की कथा से विभिन्न नहीं है। विष्णु तथा ब्रह्म पुराणों मे वर्णित कथा शब्दशः एक ही है तथा छब्बीस लम्बे अध्यायों में दी गई है। इन दोनो पुराणों मे एक जैसे छब्बीस अध्यायों का होना किसी एक का अनुकरण न होकर दोनों का आधार कोई अन्य प्राचीन प्रचलित पुराण प्रतीत होता है।[२] तथापि कालिदास के समकालीन अमरसिंह द्वारा पुराणो के विषय में बताये हुए लक्षण[३] विष्णु-पुराण में विद्यमान होने के कारण उसे उपलब्ध सभी पुराणों से पहले का माना जा सकता है। साथ ही वह महाभारत के मूल स्वरूप के पश्चात् का है; क्योंकि उसमे महाभारत में वर्णित कृष्ण का चरित्र संक्षेप में देकर उनके आरम्भिक जीवन का ही अधिक वर्णन है। हरिवंश, जो कृष्ण कथा का दूसरा स्रोत है, विष्णु-पुराण के बाद की रचना है। उसकी कथा विष्णु-पुराण पर आधारित प्रतीत होती है, क्योकि जहाँ एक ओर हरिवंश की कथा विष्णु-पुराण की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्ण है. वहाँ दूसरी ओर पूतना को राक्षसी कहा गया है जो विष्णु-पुराण मे केवल बच्चो का वध करने वाली स्त्री के रूप मे प्रस्तुत की गई है। इस तरह विष्णु-पुराण के रचना-काल तक आकर प्राचीन प्रचलित कृष्णकथा में एक नवीन विचारधारा का समावेश हो जाता है जो भक्ति के आवरण में कृष्ण और गोपियों के बीच उदात्त-शृंगार की कल्पनाओं को स्वीकार करके परवर्ती साहित्य-सर्जना में निर्दिष्ट प्रवाह का काम करती है।

अतः हम देखते है कि वासुदेव कृष्ण और विष्णु के एकीकरण में विष्णु-पुराण एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तथा इस तरह कृष्ण में उन सभी गुण-दोषो का आरोपण कर देता है जो वैदिक एवं ब्राह्मण-युगों में विष्णु से सम्बन्धित थे।[४]

---

१. अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० ९५।
२. डी० एन० पाल—लाइफ़ टीचिंग्स ऑफ़ श्रीकृष्ण—प्रस्तावना।
३. एशियाटिक रिसर्चेज, खण्ड १, पृ० २८६-८७ तथा जॅ० ए० एस० ऑफ बंगाल, पृ० १८६-७-१०।
४. अ० हि० आफ़ वै०, राय चौधरी, पृ० ७४।

ऋग्वेद में विष्णु गोप हैं। उनके यहाँ भूरिशृंगा गायों का आवास है।[1] अतः कृष्ण भी गोपाल बन जाते हैं। ऋग्वेद में विष्णु शकट का हनन हैं। कृष्ण भी कंस का वध करते हैं। बौधायन-सूत्र के अनुसार विष्णु गोविन्द तथा दामोदर हैं। कृष्ण भी गोविन्द और दामोदर हैं। ऋग्वेद में विष्णु बाल्य न रहकर युवावस्था को प्राप्त करते हैं[2] तथा यास्क के शब्दों में 'कुत्सितार्थीय पूर्व भवति' में विष्णु की काम-सम्बन्धी कई लीलाओं का संकेत मिलता है[3] जो कालान्तर में कृष्ण की विशेषता बन जाती है। वामन रूप में ध्वनित छल तो कृष्ण की कई लीलाओं की आधार भूमि बन जाता है। प्राचीन जावा के भीम-काव्य में विष्णु की सुन्दर पृथ्वी देवी पर आसक्ति तथा वराह रूप में उसके साथ सम्भोग करके नरकासुर की उत्पत्ति का वर्णन है।[4] मलाया में पृथ्वी के विषय में विष्णु की इसी आसक्ति का किंचित् परिवर्तित रूप मिलता है। यहाँ वराहरूपी विष्णु पृथ्वी में प्रवेश करके एक प्रमाद देखते हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ बलपूर्वक सम्भोग करते हैं।[5] कृष्ण पर विष्णु के गुण धर्मों का यह आरोपण जहाँ एक ओर वासुदेव विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के हाथों विष्णु को तटस्थ रख कर कृष्ण चरित्र में अवांछनीय तत्त्व का गौण रूप से समावेश करने का चतुर प्रयास भी प्रतीत होता है।[6] कृष्ण का चरित्र यदि सचमुच शृंगार में ओतप्रोत होता तो शिशुपाल जो अग्र-पूजा के समय कृष्ण की डटकर निन्दा करता है उन्हें कामुक कहे बिना न रहता।[7] अन्य पुराण मथुरा-गमन के समय कृष्ण को पाँच-सात वर्ष का बालक मानते हैं[8] तथा मथुरा से उनके व्रज को लौटने का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता। ऐसी दशा में शृंगार का प्रश्न ही कहाँ उठता है!

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि गोपालकृष्ण कोई परवर्ती देवता न होकर वासुदेव और विष्णु की एकता में प्रतिफलित एक कल्पना है जो साकार होकर परवर्ती काल में विभिन्न सम्प्रदायों एवं धार्मिक विचारधाराओं को प्रवाहित करती है।

इस एकीकरण में पाँचरात्र तथा भागवत धर्म के सम्मिलन द्वारा एक नये भक्ति-मार्ग का उदय होता है जो परवर्ती काल में ब्रह्मजीव को लेकर अनेक सम्प्रदायों को जन्म देता है।

पाँचरात्र-सम्प्रदाय तथा भागवत धर्म

पाँचरात्र में वासुदेव की अन्य व्यूहों के साथ स्थापना होने हुए भी वह कृष्ण के ऐकान्तिक धर्म से भिन्न प्रतीत होती है, यद्यपि दोनों धर्मों के अन्तर्गत साधना-पक्ष में भक्ति को ही प्रमुख स्थान दिया गया है।[9] पाँचरात्र धर्म के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, अनादि, अनन्त, दुःखरहित, निस्सीम, सुखानुभूत एवं देश काल से अविच्छिन्न होने के कारण पूर्ण व्यापक और नित्य

---

१ ऋ० १।१२४।
२ ऋ० १।१५५।६।
३ सर्वित्त, ११५७, पृ० ८।
४-५ एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १४३।
६ अ० हि० अ० वै० राय चौधरी, पृ० ७५।
७ महाभारत, सभापर्व, ४१।६।
८ ग्रोथ एण्ड ओरिजिन ऑफ श्रीकृष्ण, डा० डा० एन० पाल, पृ० ३।
९ वै० शै० भांडारकर, पृ० ३८-३६।

है। वह निर्गुण-सगुण दोनों है। सगुण ब्रह्म-ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज से परिपूर्ण होने के कारण षड्गुण्य है। भगवान् की शक्ति प्रकृति है तथा दोनों एक प्रतीत होते हुए भी उनमें अद्वैत नहीं है।[1] धर्म की संस्थापना एवं दुष्टों के नाश के लिए भगवान् के चार प्रकार के अवतारों की कल्पना है—व्यूह, विभग, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी अवतार। पांचरात्र के अनुसार जीव अनादि, आनन्दस्वरूप तथा व्यापक है, पर सृष्टि के आरम्भ में अविद्या से परिपूर्ण होने के कारण वह अल्पज्ञ बन जाता है तथा इस तरह भवसागर में भटकता रहता है। भगवान् की कृपा से ही जीव समत्व-बुद्धि प्राप्त करता है तथा वैराग्य और विवेक के माध्यम से ज्ञान पाकर वासुदेव के धाम में प्रवेश करके मोक्ष प्राप्त करता है।[2] ब्रह्म के साथ जीव के अभेद ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है। इस प्रकार पांचरात्र-सम्प्रदाय जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए भी परिणामवाद को ही मानता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीव में सेवाभाव, समर्पण, दीनता के साथ-साथ भगवान् के रक्षक-रूप में अखण्ड विश्वास होना नितान्त आवश्यक है।[3]

भागवत-धर्म के अनुसार जो पांचरात्र संहिताओं पर ही आधारित है[4] वासुदेव परब्रह्म तथा षड्गुण्य है तथा उनके तीन व्यूहों की कल्पना है। वासुदेव का वास प्राणि-मात्र में है और प्राणि-मात्र भी उन्हीं में समाविष्ट है। भागवत-धर्म के अन्तर्गत अष्टयोग और अनन्य-भक्ति की स्थापना है तथा आत्मोपासना को स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों को वासुदेव-भक्ति का अधिकार है तथा मनसा, वाचा, कर्मणा निष्काम बुद्धि को प्रधानता देते हुए कर्मरत होकर वासुदेव की उपासना को मान्यता दी गई है। वासुदेव के चतुर्व्यूह उपासना की पांच विधियां है—मनसा, वाचा, कर्मणा वासुदेव की मूर्ति का दर्शन, उपादान अथवा पूजा की सामग्री का संग्रह, पूजन, स्वाध्याय अथवा मन्त्र-स्तुति तथा योग अथवा वासुदेव का चिंतन। इस विधि से वासुदेव की उपासना करने वाला जीव वासुदेव को प्राप्त करता है। इस तरह दोनों के मूल सिद्धान्त एक होते हुए भी पांचरात्र में कुछ अन्य तत्त्व भी मिश्रित कर लिये गए हैं। दोनों सम्प्रदायों में गोपालकृष्ण की स्थापना दृष्टि-गोचर नहीं होती। पांचरात्र सम्प्रदाय का विकास ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास माना गया है।[5] निश्चय ही इस काल तक गोपाल कृष्ण की स्थापना नहीं हो पाई थी। अतः यह कहना असंगत न होगा कि ब्राह्मणों द्वारा वासुदेवकृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् विष्णु-पुराण में कृष्ण के आरम्भिक जीवन का विष्णु-सम्बन्धी प्राचीन आधारों पर निरूपण हुआ तथा पांचरात्र में वर्णित परब्रह्म की शक्ति, माया अथवा प्रकृति का (जो प्राचीन साहित्य में श्री के रूप में विद्यमान थी)[6] संस्कार होकर विशाल पौराणिक साहित्य की सर्जना हुई। भागवत-पुराण में इस स्थापना का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है जो परवर्ती कृष्ण-भक्ति का उद्गम माना जा सकता है।

---

१. भागवत धर्म, बलदेव उपाध्याय, पृ० १२२।
२. वही, पृ० १२२।
३. वही, पृ० १३१-३२।
४. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३६।
५. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३६।
६. पर्स्पैक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १७६, २०१।

गुप्त-काल तक आकर कृष्ण और विष्णु का एकीकरण प्रकट रूप से हो गया था तथा विष्णु देवाधिदेव और कृष्ण उनके पूर्णावतार मान लिए गए थे।[१] साथ ही अवतारों की पूजा भी आरम्भ हो गई थी तथा नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी को भी मान्यता मिल गई थी, पर अभी तक राधा-कृष्ण की उपासना का आरम्भ नहीं हो पाया था यद्यपि अश्वघोष के बुद्ध-चरित्र तथा भास के बाल चरित में गोपियों का उल्लेख तब भी विद्यमान था।[२]

ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी तक का काल वैष्णव धर्म का अन्धकार-काल प्रतीत होता है।[३] इसका मुख्य कारण कुषाणवंशीय शैव राजाओं का मथुरा तक आधिपत्य प्रतीत होता है। नासिक के शिलालेख से पता चलता है कि इस काल तक संकर्षण और वासुदेव राम और यादव हो गए थे तथा उन्हें केवल पराक्रमी माना जाने लगा था।[४] यह कथा भागवत धर्म के ह्रास को सूचित करता है। सम्भवतः बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार के कारण यह धर्म उत्तर भारत में एक साधारण सम्प्रदाय के रूप में रह गया था पर ठीक इसके विपरीत दक्षिण में आलवारों एवं आचार्यों द्वारा इसका जोरों से प्रचार होता रहा तथा कई ग्रन्थों की रचना हुई। आलवार साधना मुख्यतः भावात्मक होने के कारण उसमें नामस्मरण भजन सेवा तथा ध्यान को ही अधिक महत्त्व मिला।[५] आलवारों की भावात्मकता एवं भागवत में भक्ति के निरूपण में योग से भक्ति प्रेम का रूप ले लेती है, जिसका स्वरूप आण्डाल की रचे भजनों में निखर उठता है। आण्डाल कोई को दक्षिण की मीरा कहा जाता है।[६] दक्षिण में जहाँ एक ओर वैष्णव भक्ति का प्रचार हो रहा था वहाँ दूसरी ओर उत्तर में बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म के बारे में अनेक शंकाएँ उठाई जा रही थीं। न्याय तथा मीमांसा के आचार्यों द्वारा इन शंकाओं के समाधान एवं कर्मकाण्ड की पुष्टि में वैष्णवी सम्प्रदायों पर भी आक्षेप होने लगे। इसी प्रयास में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की तथा ब्रह्म को एकमात्र मानकर जीव और ब्रह्म में अद्वैत को स्वीकार किया। इन दोनों में भासित द्वैत का कारण उन्होंने माया को माना तथा भक्ति या प्रेम को मान्यता न देकर जीव और ब्रह्म के अद्वैत के ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव मानी और अनेक देवताओं की पूजा को स्वीकार किया।

रामानुजाचार्य द्वारा वैष्णव धर्म की पुनःस्थापना

इस स्थापना के उत्तर में रामानुजाचार्य ने गीता, उपनिषद्, न्यायशास्त्र एवं ब्रह्मसूत्र और भाष्य के आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना करके ऐश्वरवाद एवं भक्ति की पुनः स्थापना की। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीव और जगत परमात्मा के ही गुण-विशेष हैं तथा इनसे परब्रह्म का स्वरूप विशिष्ट है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कोरे ज्ञान की अपेक्षा विधिपूर्वक भक्ति ही एकमात्र साधन है। रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री-सम्प्रदाय में विष्णु-पूजन की विधि अधिकतर पाँचरात्र-सम्प्रदाय का अनुसरण करती है तथा भक्ति का

१ वैष्णव धर्म, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४८।
२ गीतारहस्य, तिलक, पृ० ५४३।
३ वैष्णव धर्म, पृ० ४७।
४ अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० ६८ ६६।
५ अ० हि० ऑफ वै०, राय चौधरी, पृ० १८४।
६ अ० हि० आफ वै०, राय चौधरी, पृ० १८३।

प्रतिपादन गीता, पातंजल-योग तथा आलवारों की शैली पर हुआ है[1] जिसमें स्नेह का भी समावेश है। भगवद्भक्ति का अधिकार चारों वर्णों को है। उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करते हुए रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्तों द्वारा प्राचीन भागवत-धर्म की ही पुनः स्थापना की तथा कोरे ज्ञान के अनुदिन प्रचार का विरोध करते हुए भक्ति, कर्म और ज्ञान के समुच्चय को ही भगवद्-प्राप्ति का सच्चा साधन माना।

भागवत-धर्म में प्रतिपादित भक्ति में शृंगार की कल्पना एवं कृष्ण की शृंगारमय भक्ति की स्थापना मे पौराणिक काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है, क्योंकि प्राचीन भागवत व सास्वत धर्म में प्रतिपादित भक्ति के अन्तर्गत

जयदेव का गीतगोविन्द

शृंगार को स्वीकार नही किया गया था। सम्भवतः भक्ति में शृंगार का समावेश कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के पश्चात् की घटना है तथा उसका विकास भी विष्णु-पुराण में वर्णित कृष्ण की बाल-लीलाओं से हुआ प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि इस एकीकरण के फलस्वरूप कृष्ण में विष्णु की काम-लीलाओं का आरोपण होने लगा था जिसका चरम विकास भागवत-पुराण मे अभिलक्षित होता है। कृष्णपरक भक्ति में शृंगार का समावेश पौराणिक राधा की कल्पना पर आधारित है। राधा की कल्पना स्पष्ट रूप से लक्ष्मी से सम्बन्धित है। वैदिक साहित्य में श्री की कल्पना ही प्राचीन मोहेनजोदड़ो के अन्तर्गत 'माता'[2] की शक्ति-रूप मे स्थापना की देखादेखी नारायण-धर्म और पांचरात्र सिद्धान्तों पर आधारित पौराणिक काल में लक्ष्मी के रूप में विकसित होती है। राधा की कल्पना (जिस पर समस्त परवर्ती शृंगारमय भक्ति-साहित्य पल्लवित हुआ है) पौराणिक काल से पहले दृष्टिगोचर नही होती। डॉ० भाडारकर के मतानुसार राधा का परमेश्वर की शक्ति के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख भागवत-पुराण में मिलता है।[3] उपलब्ध ब्रह्मवैवर्त-पुराण में, जो मूल ब्रह्मवैवर्त-पुराण से भिन्न तथा परवर्ती है[4], ब्रह्मा राधा का कृष्ण से विवाह कराते हैं।[5] आदि पुराण में कृष्ण के अवतार धारण करने के पहले विष्णु के कहने पर राधा मर्त्य-लोक मे जन्म लेती है।[6] पद्मपुराण में तो वृषभानु राजा को यज्ञ के लिए पृथ्वी शुद्ध करते समय ही राधा सीता की तरह मिल जाती है।[7] अन्य पुराणों के अनुसार विरजा नामक गोपी को विष्णु रास-मण्डली में ले जाते है। राधा उन्हें खोजती है, पर विष्णु विरजा के साथ अदृश्य हो जाते है। तत्पश्चात् एक दिन कृष्ण को सुदामा के साथ देखकर राधा कृष्ण की निन्दा करती है, जिसके फलस्वरूप राधा और सुदामा के बीच शापों का आदान-प्रदान होता है और राधा को मानव-योनि में जन्म लेना पड़ता है।[8] ब्रह्म

---

१. पा० हि० ऑफ वै०, राय चौधरी, पृ० १६४।
२. दि रिलिजियन्स ऑफ इंडिया, ए० पी० करमरकर, पृ० ३६।
३. वै० शै० भाडारकर, पृ० ४१।
४. पौराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, आर० सी० हाजरा, पृ० १६७।
५. ब्रह्म वैवर्तपुराण, ४, १५।
६. आदि-पुराण, ११।
७. पद्म-पुराण, ब्रह्म खण्ड, ७।
८. प्राचीन चरित्र कोष, चित्राव शास्त्री, पृ० १३६।

वैवर्त पुराण में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के वामांग से मानी गई है।[१] यही लक्ष्मी के दो रूप भी माने गए हैं—एक राधा और दूसरा लक्ष्मी। लक्ष्मी का राधा रूप पृथ्वी पर कृष्ण के साथ विचरता है और लक्ष्मी विष्णु के साथ वैकुण्ठ में। आनन्दरामायण में राम से वर पाकर सगुणा दासी ही कृष्णावतार में राधा बन जाती है।[२]

हम देखते हैं कि पौराणिक काल में कृष्ण भक्ति दो विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगी है। एक ओर प्राचीन भागवत व सात्वतधर्म में प्रतिपादित शुद्धभक्ति को मान्यता मिली हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार भक्ति को, जो शैव, महायान आदि सम्प्रदायों की यौन कल्पनाओं से प्रभावित होती रही। इन बाह्य कारणों के साथ-साथ भक्ति में अन्तर्निहित तन्मयता ने भी प्रेम के रूप में शृंगार प्रधान भक्ति की कल्पना में योग दिया। भागवत-पुराण के पश्चात् कृष्णपरक शृंगार प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता के दर्शन सर्वप्रथम तमिल संत कवयित्री आण्डाल कोदै के भजनों में होते हैं जिसका समय सन् ७१६ ई० माना जाता है।[३] यही शृंगार जयदेव के गीतगोविन्द में उन्मत्त रूप धारण कर लेता है। गीतगोविन्द जो एक गीति-काव्य कहा जा सकता है[४], भक्ति में केवल शृंगार का ही समावेश नहीं करता वरन् राधा और कृष्ण को लेकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर लौकिक शृंगार का सांगोपांग चित्रण भी करता है। इस प्रयास में गीतगोविन्द तथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के माधुर्य शृंगार, विरहशृंगार और काव्यसौन्दर्य में साम्य दृष्टिगोचर होता है।[५] इस प्रकार गीतगोविन्द में जहाँ एक ओर सम्भोग विप्रलम्भ शृंगार को मूर्त किया गया है, वहीं दूसरी ओर स्थान-स्थान पर भक्ति का पुट देकर शृंगार को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न लक्षित होता है। स्पष्ट ही जयदेव की राधा लक्ष्मी का अन्य रूप होते हुए भी एक साकार प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका प्रेम मूलतः शारीरिक सुख से मानसिक सुख की ओर अग्रसर होता हुआ-सा चित्रित किया गया है। राधा का यह चरित्र निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से अंकित है—

> व्यालोलः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदलोलौ कपोलौ।
> स्पष्टा दष्टाधरश्रीः कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः॥
> काञ्ची काञ्चिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
> पश्यन्ती चात्मरूपं तदपि विलुलितस्रग्धरेयं धिनोति॥
> ईषन्मीलितदृष्टि मुग्धहसितं सीत्कारधाराबशा—
> दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौतं धरम्॥
> श्वासोत्कम्पिपयोधरोपरि परिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो।
> हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम्॥[६]

उपर्युक्त काव्य में भक्ति के साथ ही काम का चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१ ब्रह्मवैवर्त २, १२।
२ प्राचीन चरित्रकोश पृ० १८६।
३ अ० हि० ऑफ वै०, राय चौधरी, पृ० १८४।
कीथ (देखिए इण्ट्रो० गीतगोविन्द, डा० वि० श्री खरे, पृ० १८)।
इण्ट्रो० गीतगोविन्द डा० वि० श्री खरे, दूसरा संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १३।
६ गीतगोविन्द बारहवाँ सर्ग, श्लोक ७, ८।

ठीक इसके विपरीत जयदेव के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम के अभंगों में राधा और कृष्ण की काम-लीलाओं से परे प्राचीन भागवत-धर्म में प्रतिपादित भक्ति की पुनः स्थापना के दर्शन होते हैं। सन्त तुकाराम के काल तक भागवत-धर्म पारमार्थिक समता निर्माण करके मौन हो गया था। धार्मिक क्षेत्र मे ऊँच-नीच का भेद-भाव तथा अस्पृश्यता के बन्धन अब भी विद्यमान थे।[1] सन्त तुकाराम ने इन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक विषमताओं को मिटाने के लिए जयदेव की शृंगार-बहुल भक्ति को न अपनाकर सर्वव्यापी प्रेम पर आधारित निष्काम-भक्ति को मान्यता दी। तुकाराम के विराणी (विरहिणी) अभंगों में यद्यपि कृष्ण की लीलाओं के अन्तर्गत यत्र-तत्र सम्भोग-शृंगार का भी दर्शन होता है, पर ऐसा वर्णन अपेक्षाकृत बहुत ही कम है तथा पौराणिक परम्परा के निर्वाह के लिए ही हुआ है, क्योंकि जहाँ एक ओर शृंगार का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी विशद वर्णन मिलता है। तुकाराम की कृष्ण-भक्ति में कृष्ण का परब्रह्म-रूप ही मुख्य है और नटवर-रूप गौण।

वारकरी सम्प्रदाय

'त्याचि पंथे माझे लागले से चित्त।
वाट पाहे नित्य माहेराची॥
तुका म्हेण आतां येतील न्यावया।
अंगे आपुलिया मायबाप॥[2]

(उसी मार्ग की ओर मेरी आँखें लगी हुई हैं और मैं नित्य मायके की यह सोचकर प्रतीक्षा करती रहती हूँ कि मुझे ले जाने के लिए अब माँ-बाप आते ही होंगे।)

उपर्युक्त अभंग मे जीव-रूपी दुलहिन की मायके जाने की व्यग्रता में माता-पिता का भगवान् में बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है। तुकाराम की रखुमाई और जयदेव की राधा में निरूपण का यह अन्तर स्पष्ट अभिलक्षित होता है। जयदेव की राधा परवर्ती कल्पनाओं के अनुसार जीव का प्रतीक मान लेने पर भी शारीरिक सुख की अनुगामिनी है, अत. जयदेव की भक्ति लौकिकता के धरातल पर एक आध्यात्मिक प्रयत्न है, पर तुकाराम का प्रेम शारीरिक वासनाओं पर आधारित न होकर एक आध्यात्मिक वासना है जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से न होकर परमार्थ से प्रतीत होता है। यही कारण है कि जयदेव की भाँति तुकाराम में नायिका-भेद एवं दूती की कल्पना के दर्शन नही होते।

(आ) अवतारों की मीमांसा तथा कृष्ण-कथा, विष्णु-पुराण, भागवत-पुराण इत्यादि के अनुसार लौकिक ग्राम-देवताओं की कल्पना का आर्य-देवमाला में समावेश

विष्णु और कृष्ण के एकीकरण को तथा भारत के विभिन्न आर्येतर विश्वासों को आत्मसात करने में पौराणिक अवतारवाद की कल्पना ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी प्रतीति अवतारों की मीमांसा से ही हो सकेगी।

---

१. वैदिक संस्कृति का विकास, तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी, पृ० १६६।
२. श्रीतुकाराम महाराजांची साम्प्रदायिक गाथा देवडीकर कृत, पृ० ५७२।

अवतारों की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है तथा उसके अस्तित्व के चिह्न किसी-न-किसी रूप में लगभग सभी देशों में उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य देशों में मिस्री, यूनानी तथा ईसाई सम्प्रदायों में अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। इस्लाम का शिया-सम्प्रदाय इमामों में ईश्वरत्व की स्थापना को मानता है तथा अन्तिम युग में आखिरी इमाम अहमद अबुल कासिम के अवतरित होने में भी उनका अखण्ड विश्वास है। इसी धर्म का सुन्नी-सम्प्रदाय का नूरे-मुहम्मद सिद्धान्त मुहम्मद के नूर (अथवा तेज) से धर्म-पुरुषों के प्रादुर्भाव का प्रतिपादन करता है। मसीही लोग ईसा के रूप में परमेश्वर का केवल एक ही अवतार मानते हैं। मक्सिको के लोगों में दस कन्याओं में से एक सुन्दर युवक चुनकर उसे तेट्लिपोका का अवतार मानने की प्रथा प्रचलित थी। तिब्बत में दलाईलामाओं में अवलोकितेश्वर अवतरित होता है। यहूदी लोगों में भी अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन यहूदी लोगों का विश्वास था कि बड़े एवं गुणी जनों की उत्पत्ति ईश्वर की कृपा से ही होती है। यूनानी लोगों में पुनर्जन्म की मान्यता न होते हुए भी प्रयोजन विशेष के लिए मानव अथवा अन्य किसी का रूप धारण करने की तथा प्रजोत्पत्ति की अनेक कल्पनाएँ दिखाई पड़ती हैं।[1]

भारत में अवतार की कल्पना सबसे पहले गीता में लक्षित होती है[2] तथा पहला अवतार कृष्ण का सिद्ध होता है। पौराणिक काल में गीता के इसी आधार पर कई अवतारों की कल्पना की गई है क्योंकि प्रत्येक युग में धर्म गुरुओं का प्रादुर्भाव होता रहा और उनके सम्प्रदाय विशेष के कारण अवतारों में उनका समावेश आवश्यक समझा गया।[3]

अवतारवाद को जन्म देने वाली मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ प्रतीत होती हैं—देव-स्वरूप जानने की अदम्य उत्सुकता के कारण असामान्य गुण वाले मनुष्य में ही देवता की कल्पना कर लेना तथा देवताओं से मनुष्य की उत्पत्ति में विश्वास।[4] आदिवासियों में मृत जनों में दैवीशक्ति की कल्पना तथा परवर्ती काल में आत्मा के अस्तित्व में विश्वास एवं मान्त्रिका द्वारा रोगोपचार में अलौकिक शक्ति की मान्यता ने भी अवतार की कल्पना को पुष्ट किया है।[5]

कुछ विद्वानों के विचार में अवतार की कल्पना का प्रादुर्भाव मसीही, इस्लाम तथा हिन्दू धर्म में एक साथ हुआ है।[6] पर यह धारणा नितान्त भ्रामक है क्योंकि इन धर्मों के प्रादुर्भाव से काफ़ी पहले अवतार की कल्पना के बीज हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, यद्यपि अवतार का निश्चित स्वरूप गीता में ही मिलता है। प्राचीन काल में अवतार के अर्थ में 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग होता था।[7] ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा बैल का तथा महाभारत में विष्णु द्वारा हंस का रूप धारण करना एक रूप से दूसरा रूप धारण करने में आस्था का

---

१ महाराष्ट्र ज्ञान को० ५, पृ० ४७६८, ५७५।
२ गीता, ४।७, ८।
३ महाराष्ट्र ज्ञान कोष, पृ० ५६७।
४ ई० आर० ई०, पृ० १११।
५ वही, पृ० ११६।
६ वही, पृ० १४४।
७ महाराष्ट्र ज्ञान कोष, पृ० ५७१।

द्योतक है।[1] एक से अनेक और अनेक से एक रूप धारण करने की इसी मान्यता में सम्भवतः अवतार की कल्पना के बीज निहित हैं। ऋग्वेद में अनेक देवताओं में एकत्व तथा उपनिषदों में परमात्मा की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति-विषयक इसी भावना ने सम्भवतः पौराणिक अवतारवाद को जन्म दिया।[2] पाणिनि-काल में ऋतुओं को देवता मानना, स्वर्ण-रजत-ताम्र आदि की प्रतिमाएँ तथा मन्दिर बनाकर प्रतिमाओं को पूजना और देव-प्रसाद से पुत्रोत्पत्ति को सम्भव मानना एवं सन्तान का उसी आधार पर नामकरण करना इसी मान्यता का सूचक है।[3]

पहले कहा गया है कि अवतार का स्पष्ट संकेत सर्वप्रथम गीता में उपलब्ध होता है तथा उसका सम्बन्ध पूर्णतः वासुदेव से था। भागवतों की मान्यता के अनुसार भगवान् षड्-गुणोपेत हैं तथा उनके दो अवतार होते हैं—आवेशावतार तथा साक्षात्। अहिर्बुध्न्य संहिता में उन्तालीस अवतारों का उल्लेख है।[4] इसके विपरीत प्रचलित सभी अवतार विष्णु के एकीकरण के माध्यम से ब्राह्मण-युग के यज्ञ देवता परब्रह्म विष्णु के रूप में अधिष्ठित हो चुके थे। विष्णु के अवतार की इस स्थापना में शतपथ ब्राह्मण में वर्णित विष्णु का वामन-रूप भी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र का काम करता-सा प्रतीत होता है। गीतोक्ति[5] के अनुसार धर्म की स्थापना, सन्तों की रक्षा तथा दुष्टों का दलन अवतार का एक विशिष्ट प्रयोजन माना जाता है और वैदिक-विष्णु में इन विशेषताओं का वर्णन मिलता है।[6] राम और कृष्ण की कथाओं में यही विशेषताएँ होने के कारण उन्हें विष्णु का अवतार माना जाने लगा।[7] पुराणों में विष्णु के अवतारों की भिन्न-भिन्न संख्याएँ निश्चित की गई हैं तथा उनके क्रम में भी समानता नहीं है।

'नारायणीय' में विष्णु अथवा नारायण के छः अवतारों का वर्णन है जिनमें वराह, नृसिंह, वामन, भृगुराम, दाशरथीराम एवं कृष्ण के नाम आते हैं। किन्तु, थोड़ा आगे चलकर एक अन्य स्थान पर यही अवतार दस हो जाते हैं तथा उनमें उपर्युक्त छः अवतारों के अतिरिक्त हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि का भी समावेश हो जाता है। इनमें से हंस, कूर्म और मत्स्य के नाम आरम्भ में आते हैं तथा कृष्ण की गणना कल्कि के पहले की जाती है। डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार ये चार अवतार बाद में जोड़ लिये गए हैं।[8] उनका अनुमान सही प्रतीत होता है, क्योंकि हरिवंश-पुराण में (जो महाभारत का अन्तिम चरण माना जा सकता है) प्रथम छः अवतारों का ही उल्लेख है। वायुपुराण में पहले बारह अवतारों की चर्चा है जिनमें से कुछ सम्भवतः इन्द्र और शिव के अवतार प्रतीत होते हैं। आगे चलकर इन्हीं अवतारों की संख्या दस कर दी गई है जिनमें दत्तात्रेय और वेदव्यास को भी शामिल कर

१. एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १२४।
२. वै० शै० भाडारकर, प्रस्तावना, पृ० २।
३. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, वी० एस० अग्रवाल, पृ० ३५८-६०।
४. भक्ति का विकास, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ३३२।
५. गीता, ४।७।८।
६. अ० हि० ऑफ वै० : राय चौधरी, पृ० १०८-६।
७. महाराष्ट्र ज्ञान कोष, ७वाँ खण्ड, पृ० ५६६।
८. वै० शै० भांडारकर, पृ० ४२।

लिया गया है। वराह-पुराण में उपर्युक्त दस अवतारों का उल्लेख है जिसका अनुसरण अग्नि पुराण भी करता है। भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में बाईस अवतारों का उल्लेख है। यही संख्या द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में तेईस हो जाती है और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में केवल सोलह रह जाती है, जिनमें विष्णु से बिल्कुल भिन्न कपिल, ऋषभदेव, बौद्ध, धन्वन्तरि आदि का भी समावेश किया गया है।[1] विविध पुराणों में अवतारों की विभिन्न संख्या तथा उनमें भिन्न भिन्न अवतारों की गणना से विदित होता है कि वर्तमान पुराणों के रचना-काल तक जितनी भी धार्मिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं उनको आत्मसात करने तथा इस प्रकार उन सबको वैष्णव धर्म के अन्तर्गत लाकर वैष्णव-धर्म को व्यापक रूप देने के लिए ही भागवत धर्म के आधार पर अवतारवाद की मान्यता ली गई तथा मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि को भी, जिनका मूलतः विष्णु से कुछ भी सम्बन्ध न था तथा जो सृष्टि विद्या एवं विकासवाद के प्रतीकमात्र थे, अवतार कोटि में स्वीकार कर लिया गया।

विष्णु के दशावतारों में से प्रथम चार अवतार अर्द्धावतार की कोटि में आते हैं तथा अन्तिम छः मानवीय कोटि में।[2] दशावतारों के इस क्रम में विकासवाद का क्रम लक्षित होता है।

विकासवाद की दृष्टि से मत्स्य का सर्वप्रथम स्थान माना जा सकता है क्योंकि मत्स्य जल का जीव है और जीवन जल में निहित है। अतः सृष्टि के निर्माण में प्राणतत्त्व की दृष्टि से मत्स्य सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण है। शतपथब्राह्मण[3] में जलप्लावन द्वारा देव सृष्टि का विनाश एवं मनु द्वारा मानव-सृष्टि के निर्माण में मत्स्य विशेष रूप से सहायता करता है। दूसरे शब्दों में, जल-

मत्स्य

प्लावन के पश्चात् प्राण रूप में मत्स्य का अस्तित्व है और वही मनु का जो प्रजापति भी कहलाते हैं, मानव-सृष्टि के बीज रूप में बनाए रखता है। ब्राह्मण-वर्णित मत्स्य की कथा वस्तुतः ऐतिहासिक क्रम से घटित जल-प्लावन की वास्तविक घटना प्रतीत होती है।

प्रलय की कथा यहूदियों के 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' तथा मिस्र और अरब के कथा-साहित्य में भी मिलती है।[4] इसके अतिरिक्त प्रलय की कथा बेबिलोनिया की गिल्गमेश-कथा में, बेबिलोनियन बेरासस कृत वर्णन में, मिस्र की प्रलय-कथा में (जिससे सेम-मनुष्यों के पिता का सम्बन्ध है) और यूनान के पौराणिक वर्णन में भी मिलती है।[5] अक्कादी प्रलय-कथा और ब्राह्मण-वर्णित कथा में कई बातों में साम्य है। अक्कादी कथा के अनुसार सुरिप्पक के देवता प्रलय कराते हैं। इआ (Ea) बुद्धि देवता प्रलय की चेतावनी शितनापिस्ती (Sitnapisti) को देती है तथा एक सुदृढ़ नाव बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त बीज सुरक्षित रखने के लिए कहती है। शितनापिस्ती इआ के आज्ञानुसार नाव बनाता है तथा एक बड़ा यज्ञ किया जाता है जिसमें

जल प्रलय-कथा

१ बे० शे० भाण्डारकर, पृ० ४२।
२ एस्पैक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, जे० गोन्दा, पृ० १२४-२५।
३ शतपथब्राह्मण, १।८।१।
४ भक्ति का विकास, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ३४४।
५. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, डॉ० रांगेय राघव, पृ० ११८।

बैल, भेड़, द्राक्ष, वारुणी आदि की आहुति दी जाती है। नाव में सृष्टि के बीज, अपनी पत्नी और कुछ दास-दासीयों को लेकर वह प्रलय की प्रतीक्षा करता है। दूसरे दिन से प्रलय आरम्भ हो जाता है और छः दिन तक होती रहती है। सातवें दिन प्रलय का जोर कम होने लगता है। शितनापिस्ती की नाव निजीर पर्वत-शिखर (Mount Nigir) पर जा लगती है। प्रलय समाप्त होने और पृथ्वी के फिर से उभर आने पर शितनापिस्ती पुन. यज्ञ करता है तथा वलि चढ़ाता है। यज्ञ पर देवता मक्खियों की तरह छा जाते हैं। बेल-देवता शितनापिस्ती की नौका देखकर क्रुद्ध होता है। आ (बुद्धि-देवता) उससे झगड़ती है और कहती है कि भविष्य में दण्ड देने के लिए प्रलय की अपेक्षा हिंस्र-जन्तु, अकाल एवं रोगों की योजना होनी चाहिए। वह यह भी कहती है कि प्रलय-विषयक देवताओं की मन्त्रणा का भेद उसने नहीं प्रकट किया था, वरन् उसने शितनापिस्ती को केवल स्वप्न दिया था। इस पर बेल प्रसन्न होता है और शितनापिस्ती दम्पति को आशीष देता है।[१]

महाभारत में वर्णित कथा के अनुसार मनु प्रसिद्ध तपस्वी हैं। वे चारिणी नदी के तट पर तपस्या में रत हैं जहाँ उन्हें एक छोटी-सी मछली के दर्शन होते हैं। उसकी प्रार्थनानुसार वह अन्य बड़ी मछलियों से उसकी रक्षा करने के लिए उसे क्रमशः घट, बावड़ी तथा गंगा और समुद्र में छोड़ देते हैं। यही मत्स्य मनु को प्रलय की सूचना देता है तथा विपत्तिकाल में उनकी सहायता करने के लिए स्वयं प्रकट होने का आश्वासन देता है। मत्स्य के आदेशानुसार मनु नाव बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त बीजों सहित सप्त-ऋषियों को लेकर मत्स्य की प्रतीक्षा करते हैं। मत्स्य महामत्स्य के रूप में प्रकट होता है तथा अपने सींग से मनु की नाव बँधवाकर प्रलय-काल में नाव की रक्षा करता है तथा जल घटते ही नाव को उत्तर गिरि की चोटी पर पहुँचा देता है। महामत्स्य अपना ब्रह्मा होना प्रकट करता है तथा मनु को सृष्टि-कर्त्ता के रूप में नियुक्त करता है।[२]

भागवत-पुराण में इसी कथा का स्वरूप बदल जाता है। इस कथा में प्रलय ब्रह्मा की निद्रावस्था में होती है जब हयग्रीव नामक राक्षस वेदों को चुरा ले जाता है। हरि एक छोटी-सी मछली का रूप धारण कर लेते हैं तथा इस रहस्य को सत्यव्रत नामक एक तपस्वी राजा के सम्मुख प्रकट करता है, जो केवल जल पर निर्वाह करता था। मत्स्य की वृद्धि अपने-आप होती है और वह कई योजन लम्बा बन जाता है। सत्यव्रत के पास नाव आ जाती है जिसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि बैठे निरन्तर मन्त्रोच्चार करते रहते हैं। अन्त में हरि हयग्रीव का वध करते हैं और वेदों का उद्धार करते हैं। सत्यव्रत जो दैवी एवं मानवीय सृष्टि-विषयक ज्ञान का दाता था, सातवाँ मनु नियुक्त होता है। यही मत्स्य को माया भी माना गया है।[३]

खाल्डिया-असीरिया कथा के अनुसार प्रलय से पहले ही जिसुथ्रोस राजा को मत्स्य देवता ओनीज ने सचेत कर दिया था कि प्रलय आने वाली है, अतः जादू की पुस्तकें वह सूर्य के नगर सिप्पारा में छिपा दे।[४]

---

१. ई० आर० ई०, पृ० ५५० ।

२. महाभारतांक, गीता प्रेस, पृ० ३५८; ई० आर० ई०, पृ० ५५५ ।

३. वही, पृ० ५५६ ।

४. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० १३८ ।

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट विदित होता है कि सेमेटिक जातियों की प्रलय-कथाओं और भारतीय प्रलय-कथा में कई बातों में साम्य है। प्रलय सम्भवतः वह ऐतिहासिक घटना है जो आर्यों के भारत में सर्वप्रथम प्रवेश करने के लगभग हुई थी तथा उनके विभिन्न भागों में बस जाने से ही यह कथा पूर्व-स्मृति के रूप में कालान्तर में होने वाले परिवर्तन को आरम्भ मात्र किए चली आ रही है। शतपथब्राह्मण में वर्णित कथा निश्चय ही मूल रूप से सम्बद्ध है। इतना अवश्य है कि शतपथब्राह्मण में मत्स्य को प्रजापति का रूप कहा गया है। कथा का लगभग यही रूप महाभारत में बना रहता है। स्पष्ट ही इस कथा में अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। भागवत पुराण में अवश्य हरि की कल्पना है तथा मत्स्य रूप को माया कहा गया है। हयग्रीव द्वारा वेदों का चुराया जाना एक महत्त्वपूर्ण पौराणिक कल्पना है जो अनायास ही समस्त कथा को विष्णु के अवतार से गूँथबद्ध कर देती है, क्योंकि वेद धर्म हैं, उनका हरण धर्म का लोप होना है। हरि द्वारा हयग्रीव का वध और वेदों को ले आना, दुष्टों का दलन और धर्म की संस्थापना का द्योतक है। मत्स्यावतार की पौराणिक कल्पना का आधार ऋग्वेद में भी खोजा जा सकता है। वेद में वर्णित नारायण का सम्बन्ध नार से है तथा समस्त जलमय सृष्टि में जो सृष्टि का पूर्वरूप कहा जा सकता है प्राण रूप में केवल एक ही नारायण का अस्तित्व अवशेष रहने के कारण मत्स्य को विष्णु का अवतार मान लिया गया, क्योंकि विष्णु ने भी सृष्टि को मानव के रहने योग्य बनाया था। मनु द्वारा सृष्टि की रचना और मत्स्य द्वारा उन्हें बचाने में भी पुराणकार सरलता से नारायण और ब्रह्मा की कल्पना कर लेते हैं। अवतार की कल्पना पौराणिक काल की सृष्टि है और पुराण हैं स्मृति। अतः उनमें निहित कल्पनाएँ प्राचीन मान्यताओं पर आधारित हैं। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' तथा मिस्र और अरब के कथा साहित्य में जलप्लावन की चर्चा तथा सेमेटिक लोगों में देवता, मनुष्य, पशु और वनस्पति के एक समाज की कल्पना[1] आदि-सृष्टि सम्बन्धी कई प्राचीन विश्वास-साम्य की द्योतक है। पाँचरात्र धर्म के अन्तर्गत अवतारवाद की कल्पना भी इसी विचारैक्य का समर्थन करती है। पहले कहा जा चुका है कि असीरिया गाथा के अनुसार ओनीज एक मत्स्य देवता है जो जिसुथ्रोस को प्रलय के विषय में पहले से ही सचेत कर देता है।[2] भारत में मत्स्य देवों की निन्दा करते हैं तथा उन्होंने प्रार्थना की है—हमें देवों से बचाओ। वे हमें मारना चाहते हैं।[3] इतना ही नहीं, परवर्ती काल में मत्स्य राज्य का भी उल्लेख मिलता है।[4] स्पष्ट ही मत्स्य देव जाति अर्थात् आर्यों के शत्रु हैं। अतः मत्स्यावतार की कल्पना में आर्येतर विश्वासों का समावेश प्रतीत होता है।

प्राचीन सेमेटिक जनों में देव, मनुष्य, पशु एवं वनस्पति के एक समाज की स्थापना एवं खाल्डिया में मत्स्य देवता ओनीज की कल्पना तथा ऋग्वेद[5] में मत्स्यों द्वारा देवों की

सेमेटिक प्रभाव

निन्दा से प्रतीत होता है कि मत्स्यावतार की कल्पना आर्यों की धार्मिक मान्यताओं पर आधारित न होकर सेमेटिक कल्पनाओं

१ ई० आर० ई०, पृ० ११६।

२ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० १३८।

३ ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ द प्रि-हिस्टारिक इंडस १, पृ० १५०-५१।

४ प्रा० भा० परम्परा और इतिहास, पृ० ६३।

५ ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ द प्रि हिस्टारिक इंडस १, पृ० १५०-५१।

से प्रभावित है, क्योंकि पुराणों के रचना-काल तक भारत पश्चिमी देशों के सम्पर्क मे आ चुका था, अतः कदाचित् भारतीय विचारधारा पर पाश्चात्य विश्वासों का प्रभाव पड़ा हो। इसी सम्भावना को स्वीकार करते हुए डॉ० भांडारकर ने गोपाल-कृष्ण को आभीर देवता कहकर उनमें ईसा मसीह का प्रभाव देखा है।[1] यद्यपि यह सत्य है कि पुराणों मे विभिन्न विचारधाराओं को आत्मसात् करके वैष्णव-धर्म को व्यापक रूप देने की प्रबल प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, तथापि इस समन्वयवाद में पुराणकारों का कार्य-क्षेत्र केवल भारतीय धार्मिक विचारधाराओं तक ही सीमित रहा है। अतः मत्स्यावतार की कल्पना में सेमेटिक प्रभाव देखना युक्तियुक्त नही जान पड़ता। मत्स्य की कल्पना पौराणिक काल की ही कल्पना नही है, जो विदेशी कही जा सके, वरन् उसकी कथा पौराणिक काल से बहुत पहले शतपथ ब्राह्मण मे मिलती है। शतपथ ब्राह्मण से भी पहले प्रागैतिहासकालीन मोहेनजोदड़ो-संस्कृति के ज्योतिष-शास्त्र में मत्स्य आठ ग्रहों में से एक था तथा उसे परमेश्वर का नेत्र माना जाता था।[2] मोहेनजोदड़ो के एक शिलालेख के अनुसार नाणधुर देवता, जिसका सिर सींगोवाली मछली का और धड़ भेड़ का था, परमेश्वर का रूप माना जाता था।[3] एक शिलालेख में शिव का 'मीनाक्ष' कहकर वर्णन किया गया है तथा एक अन्य लेख मे 'मीनाक्षत्रय' द्वारा शिव को स्पष्ट रूप से परमेश्वर के रूप मे सम्बोधित किया गया है।[4]

मोहेनजोदड़ो की सभ्यता आर्यों से भी प्राचीन भारतीय सभ्यता मानी जाती है। अतः उपर्युक्त आधारों से सिद्ध होता है कि आर्यो से पहले मोहेनजोदड़ोकालीन व्रात्य जातियाँ शिव की उपासक थी तथा उनकी धार्मिक कल्पनाओं में मत्स्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद-काल में देवासुर-संग्राम में भारत के यही आदिवासी व्रात्य असुर अथवा दानव रहे होंगे, जिन पर विजय प्राप्त करने के लिए वैदिक आर्य समय-समय पर देवताओं की स्तुति करते हुए दिखाई देते है। इन देशज आदिवासियों के प्रति विरोध एवं द्वेष के कारण ही इन जनों को कालान्तर मे आर्यो द्वारा 'दानव' अथवा 'असुर' सम्बोधन मिले। इन दो विभिन्न सभ्यताओं के धार्मिक विरोध के दर्शन महाभारत-काल तक होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि महाभारत-काल के कालनेमि, जरासंध, शिशुपाल, कंस आदि शिव के उपासक थे। कृष्ण और कंस का परस्पर सम्बन्ध महाभारत के बहुत पूर्व इन दो सभ्यताओं के एकीकरण का द्योतक प्रतीत होता है, यद्यपि धार्मिक मान्यताएँ आज के शैव और वैष्णव मत की भाँति तब भी बनी हुई थी। गीता में कृष्ण का अपने को रुद्रों में शंकर कहना इसी मतान्तर के अस्तित्व की पुष्टि करता है।[5] महाभारत में मत्स्यराज और मछली के गर्भ से मत्स्यगन्धा की उत्पत्ति भी इन दोनों सभ्यताओं के आपस में घुलमिल जाने की प्रतीक है।[6] पौराणिककाल तक आकर यह धार्मिक विभिन्नता भी मिलजुल गई-सी प्रतीत होती है, क्योंकि स्कंद-पुराण[7] मे शिव और

१. वै० शै० भांडारकर, पृ० ३६।
२. दि रेलिजियन्स ऑफ़ इंडिया, ए० पी० करमरकर, खण्ड १, पृ० १४१।
३. वही।
४. वही।
५. गीता, १०।२३।
६. महाभारत, आदिपर्व, अ० ५७।
७. स्कन्द-पुराण, महेश्वर खण्ड, अ० १७।

मत्स्य ग्रह का बहुत ही निकट का सम्बन्ध माना गया है तथा शिव को 'मीन' या 'मीनाधिपति' कहकर सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण में सभी सागरों, देवों, दानवों एव ब्राह्मणों के आवासों में दो मत्स्यों का होना माना गया है।[1] कालिका-पुराण में पुनर्जीवित होने पर काम द्वारा मणिकूट पर्वत पर मत्स्यरूप शिव की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है।[2] स्कन्द पुराण में गया व मत्स्य में अब भी विद्यमान होने का उल्लेख है।[3] विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में कहा गया है कि कश्मीर तथा मत्स्य देश में मत्स्य की पूजा होती है।[4]

उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि पौराणिक काल की मत्स्यावतार की कल्पना विदेशी मान्यताओं की ऋणी नहीं है अपितु कथा का मूल भारत की ही प्राचीन मान्यताओं में उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जल-प्लावन कथा में प्राचीन देशज मान्यता को स्वीकार करके मत्स्य द्वारा मनु की रक्षा कराई गई है। पर स्पष्ट है समस्त कथा में मत्स्य का महत्त्व गौण रखकर मनु को ही प्रजापति के रूप में महत्त्व दिया गया है। महाभारत में मत्स्य पर जो पूर्णरूपेण अनार्य कल्पना थी, आर्य देवता प्रजापति का संस्कार करके आर्य पूर्व प्राचीन जातियों की धार्मिक कल्पना को मान्यता दी गई-सी प्रतीत होती है तथा इस मान्यता में गौण रूप से आर्यों एव अनार्यों का धार्मिक समझौता प्रतीत होता है। महाभारत के प्राचीन अंशों में शैव सिद्धान्तों का अभाव तथा परवर्ती अंशों में नारायण के साथ शिव का महत्त्व शैव एव ब्राह्मण मतों के आरम्भिक विरोध एवं परवर्ती समाधान का समर्थन करता है। पौराणिक-काल तक आकर यह धार्मिक समन्वय पूर्णरूपेण घुल मिल जाता है तथा विष्णु की परमेश्वर पद पर स्थापना में प्राचीन मत्स्य में अनार्य विश्वास के आरोपण के फलस्वरूप मत्स्य को विष्णु का ही अन्य रूप मान लिया जाता है। इस मान्यता में फिर एक बार आर्य देवमाला में अनार्य कल्पनाओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न अभिलक्षित होता है। यह प्रयत्न किसी पाश्चात्य परवर्ती मत से प्रभावित नहीं है, वरन् इसी देश में परम्परा से चली आई दो विभिन्न विचारधाराओं के एकीकरण का अंतिम चरण प्रतीत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में वर्णित मत्स्य-कथा की कल्पना आर्यों से पूर्व यहाँ के आदिवासियों के मत्स्य देवता से सम्बन्धित है।[5] बौद्ध एव जैन धर्मों में मकर की मान्यता भी मत्स्य की कल्पना का विदेशी न होकर भारतीय होना सिद्ध करती है तथा महाभारत में स्वयंवर के समय अर्जुन द्वारा मत्स्य-वेध भी इसी मत की पुष्टि करता है।

मत्स्यावतार की कल्पना में मत्स्य-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास विशेष रूप से सहायक हुए हैं। मोहेंजोदाड़ो के एक शिलालेख में वसन्त ऋतु के मत्स्य का उल्लेख है। फादर हैरास के मतानुसार यह सम्बोधन परमेश्वर की प्रजनन शक्ति का प्रतीक है जो मुख्यतः वसन्त ऋतु में व्यक्त होती है।[6] मत्स्य का उत्पत्ति का प्रतीक होना एलोरा के कैलास मन्दिर और कन्नड़ देश की एक जाति में प्रचलित प्रथा से भी विदित होता है। इस प्रथा के अनुसार

१ वामन पुराण, अ० ५, ५६।
२ कालिका-पुराण, अ० ८२, ५० ५२।
३ स्कन्द-पुराण, ७ १, अ० २५५, २ १-२।
४ विष्णु-धर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड, अ० १२१, ३।
५ दि रैलिजियन्स ऑफ इंडिया ए० पी० करमरकर, पृ० १५७।
६ वही, पृ० १५१।

वर-वधू विवाह होते ही नदी के किनारे जाते हैं। वधू अपना बुना हुआ जाल नदी में डालकर मछली पकड़ती है तथा दोनों उसे चूमकर छोड़ देते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से सन्तान पैदा होती है।[१] अतः हम देखते हैं कि प्राचीन विश्वासों के अनुसार उत्पत्ति से मत्स्य का विशेष सम्बन्ध रहा है। आर्यों के विष्णु भी उर्वरता से सम्बन्धित देवता हैं—यौवन के देवता हैं। इस प्रकार मत्स्य और विष्णु दोनों का सम्बन्ध उत्पत्ति से है। मेकडोनेल के मतानुसार मत्स्य लोगों का जाति-नाम 'मीन' उनकी अत्यधिक समुद्र-यात्राओं के कारण पड़ा था तथा उनका चिह्न भी मत्स्य या मीन ही था।[२] सम्भवतः प्राचीन मत्स्य लोगों की इस विशिष्टता से ही पौराणिक अमृत-मन्थन कथा सम्बन्धित है। मत्स्य-जाति के समुद्र-यात्रा में पारंगत होने के कारण ही वैदिक आर्य अमृत-मन्थन के समय उनका सहयोग प्राप्त करते हैं तथा समुद्र-यात्रा द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करके भारत को श्री-समृद्धि से परिपूर्ण कर देते हैं। देवताओं का अमृत-पान, विष्णु का लक्ष्मी को अंगीकार करना और शिव का विष पी जाना अमृत-मन्थन के पश्चात् आर्यों के हाथों अनार्य जातियों के पराजित होने का प्रतीक जान पड़ता है।

कूर्म

कूर्म की कथा शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों में मिलती है।[३] इस कथा में सृष्टि-रचना के लिए उद्यत प्रजापति जल में विचरण करने वाले कूर्म का रूप धारण कर लेते हैं।[४] यही कूर्म पुराणों में विष्णु का अवतार मान लिया जाता है तथा उसकी स्थापना प्रलय में खोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए की जाती है। समुद्र-मन्थन के समय मथनी मेरु पर्वत है जो एक दृष्टि से सृष्टि की धुरी है। रस्सी के अनन्त-रूप वासुकी, जो नारायण का रूप है।[५] जिस वस्तु पर मंदराचल अथवा मेरु आधारित है, वह है कूर्म अथवा विष्णु। इस प्रकार कूर्म सृष्टि का केन्द्र है। अन्य विश्वासों के अनुसार वही पृथ्वी को वहन किये हुए है। समुद्र-मन्थन से प्राप्त वस्तुओं की संख्या निश्चित नहीं है, पर उनमें से मुख्य हैं—चन्द्र, लक्ष्मी, सुरा, धृत, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ, पारिजात, अप्सरा, सुरभि, धन्वन्तरि, अमृत, ऐरावत, शंख, कुण्डल। स्पष्ट ही यह कथा सृष्टि-रचना का रूपक है। कूर्म, जो मेरु का आधार है, रूपाकार में पृथ्वी का प्रतीक है। सृष्टि-रचना में सर्वप्रथम पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी की उत्पत्ति पर ही अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति आधारित है। अतः रत्न समृद्धि के प्रतीक हैं। दूसरी बात यह है कि कूर्म जल और थल दोनों पर रहने वाला प्राणी है। इस दृष्टि से भी कूर्म में सृष्टि के विकास का संकेत मिलता है।[६] स्वयं याज्ञवल्क्य ने भी कूर्म का अर्थ रस, आदित्य और प्राण माना है।[७] रस जल का प्रतीक, आदित्य आकाश का और प्राण जो वायु-रूप है, अन्तरिक्ष का प्रतीक है। अतः यह समस्त सृष्टि कूर्म-रूप है। दूसरे शब्दों में, कूर्म के दोनों कपाल

१. दि रेलिजियन्स ऑफ इंडिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १५२।
२. वही, पृ० १५२।
३. शतपथ ७।५।१।५, जैमिनीय ३।२७२।
४. वैदिक माइथोलॉजी, मैकडोनेल, पृ० ४१।
५. महाभारत, १।१८।१५।
६. एलीमेंट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, ए० गोंडा, पृ० १२८।
७. भक्ति का विकास, पृ० ३४३।

पृथ्वी और द्युलोक हैं जिनके बीच है अन्तरिक्ष। इस प्रकार कूर्म ब्रह्माण्ड का लघु रूप है। मार्कण्डेय पुराण में कूर्म को मनुष्य के लिए आदर्श माना गया है जो अपनी समस्त इन्द्रियों को सृष्टि-व्यापार से संकुचित करके आत्मानन्द में लीन रखता है। कूर्म का यह स्वभाव भी कूर्मावतार की कल्पना में सहायक होता है क्योंकि भगवान् वासुदेव प्राणिमात्र में व्यक्त होकर भी उससे तटस्थ हैं।[1] अमृत मन्थन की कथा और रत्नों की प्राप्ति में देव-सृष्टि के नाश के पश्चात् समृद्धि की पुनः प्राप्ति की स्थापना है। विष्णु का मोहिनी रूप इसी समृद्धि के सम्मोहन का प्रतीक है तथा अमृत में सृष्टि के पालन तत्त्व का समावेश है। कूर्म सृष्टि-स्वरूप है और विष्णु में सृष्टि का अधिवास है। दाण्ड्लकन के मतानुसार कूर्म रस, आदित्य और प्राण है जो क्रमशः जल, आकाश और अन्तरिक्ष के सूचक हैं। ये तीनों लोक वैदिक विष्णु के तीन पाद ने नाप लिए थे। अतः प्राचीन साहित्य में कूर्मावतार का संकेत न होते हुए भी कल्पनाओं में साम्य होने के कारण कूर्म को विष्णु का अवतार मान लिया गया।

अमृत मन्थन की पौराणिक कथा एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का प्रतीक है। असुर आर्येतर जातियाँ हैं। आर्य अथवा देव तथा असुरों का मिलकर समुद्र मन्थन करना भूखण्ड के देशों का पर्यटन एवं उन पर विजय प्राप्त करने का

अमृत-मन्थन की कथा

प्रतीक है। अमृत-मन्थन की कथा से सम्बन्धित कूर्म की कल्पना में पृथ्वी के कूर्माकार होने के विषय में मनुष्य द्वारा उपलब्ध शोध प्रकट होता है। अमृत-मन्थन से अमृत की प्राप्ति तथा देवों का उसे आपस में बाँटकर अमर बन जाना प्रलय के पश्चात् भारत में आर्यों का इतर जातियों पर प्रभुत्व प्राप्त करके भारत में अखण्ड रूप से बस जाने का द्योतक है।[2] अमृत मन्थन के पश्चात् अमृत के विभाजन के लिए देव-असुर-युद्ध इसी सार्वभौम प्रभुता को अधिकृत कर लेने का प्रयत्न है। देवासुर-युद्ध में असुर देवों द्वारा मारे जाते हैं तथा शेष असुर भाग जाते हैं। राहु के अमृत-पान तथा अमर होकर सूर्य को ग्रसने में भी एक ऐतिहासिक अस्तित्व का दर्शन होता है। सूर्य अनि-वार्यतः आर्य-देवता है। असुरों के पराजित होने पर भी सम्भवतः एक अत्यन्त बलशाली असुर जाति बच गई थी जो आर्यों के विस्तार में बाधा बनी हुई थी। वामन-अवतार में बलि की कथा इसी असुर शक्ति के अस्तित्व का समर्थन करती है जिसका फिर एक बार दमन वामन के हाथों होता है। अमृत-मन्थन के पश्चात् देव-असुर-युद्ध में देवों के हाथों असुरों की पराजय एवं आर्यों की स्थापना में अवतारवाद की झलक के दर्शन होते हैं। सम्भवतः इसी-लिए अमृत-मन्थन से सम्बन्धित कूर्म में जो पूर्णरूपेण पृथ्वी से सम्बन्धित था, विष्णु का संस्कार समाविष्ट करके पौराणिक-काल में कूर्मावतार की कल्पना कर ली गई।

सृष्टि के विकास की दृष्टि से तीसरा क्रम है वराहावतार। वराह मूलतः स्थल का प्राणी है तथा कन्द मूलादि वनस्पति खाकर निर्वाह करता है। मत्स्य जल का निवासी है, अतः जलमय सृष्टि में जलचर के रूप में आदि जीव की उत्पत्ति का प्रतीक है। कूर्म में जल के पश्चात् थल का संकेत है तथा वराह की कल्पना में पृथ्वी के जल से बाहर निकल आने तथा उस पर

वराह

[1] आस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, जे० गोंडा पृ० १२७।
[2] आस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, जे० गोंडा, पृ० १३८।

थलचरों की उत्पत्ति की स्थापना है।[1] विद्वानों का मत है कि विष्णु के वराह-रूप धारण करने का बीज शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में विद्यमान है।[2] ऋग्वेद में विष्णु ने क्षीरपाक तथा एक सौ महिषों को ग्रहण किया था, जो वस्तुतः एमुष नामक वराह की सम्पत्ति थे।[3] शतपथ ब्राह्मण में यही एमुष नामक वराह पृथ्वी को ऊपर उठा लेता है। तैत्तिरीय संहिता में पृथ्वी को ऊपर उठाने वाला वराह प्रजापति का रूप है। पुराणों में यही प्रजापति विष्णु का रूप बन जाता है।[4]

विश्वेत् ता विष्णु रामरदुरुक्रमस्त्वेषितः
शतं महिषान् क्षीरपाक मोदनं वराहमिन्द्र एमुषम ॥[5]

के अनुसार विष्णु जीवों के प्रेम से प्रेरित होकर मनुष्य के लिए क्षीरपाक, ओदन तथा सैकड़ों महिष नाम के पशु आदि अथवा जड़ी-बूटियाँ संसार में भर देते हैं। स्पष्ट ही इस मन्त्र में न तो कहीं वराह अवतार है और न ही उसमें पौराणिक कथा का कोई संकेत मिलता है।[6]

शतपथ ब्राह्मण में वैदिक 'एमुष' शब्द का विग्रह करके अर्थ किया गया है तथा यज्ञ के लिए वराह द्वारा खोदी हुई मिट्टी को लाने का वर्णन है। इसी ब्राह्मण में यह भी वर्णन किया गया है कि जल में से निकली हुई पृथ्वी परिमाण में उतनी ही थी जितनी पृथ्वी खोदने वाले शूकर के थूथड़े पर होती है।[7] यहाँ स्पष्ट रूप से जल में से निकली हुई पृथ्वी को वराह के थूथड़े पर चिपकी हुई मिट्टी के रूपक द्वारा समझाने का प्रयत्न लक्षित होता है।[8] शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के लिए तीन प्रकार की मिट्टी पवित्र मानी गई है—वल्मीक-वपा, वराहखात एवं अग्निखात तथा इन्हीं से यज्ञ के लिए पिण्ड बनाए जाते हैं।[9] इस प्रकार हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में वराह-अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण-ग्रन्थ में शूकर के उल्लेख से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि वराह की कल्पना वेदों से भी प्राचीन है एवं अनार्य-विश्वासों को सूचित करती है।[10] सीवेल का कहना है कि मोहेनजोदड़ो की खुदाई में मिले हुए कंकाल भारतीय शूकर के ही कंकाल हैं। अतः सीवेल का अनुमान है कि भारत के आदिवासी प्रागैतिहासिक-जन कुत्तों की सहायता से शूकर का शिकार करके उसका मांस खाते थे।[11] सीवेल का अनुमान शिशु-कल्पना-सा प्रतीत होता है। शूकर के प्राचीन कंकाल तत्कालीन आहार पर प्रकाश न डालकर शूकर के महत्त्व की ओर संकेत करते हैं। शूकर के इस प्राचीन महत्त्व के कारण ही सम्भवतः तैत्तिरीय

---

१. भक्ति का विकास, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० ३४६।
२. शतपथब्राह्मण १४।१।२।११, तैत्तिरीय संहिता, ७।१।५।१।
३. ऋ० ८।७७।१०।
४. भागवत धर्म : बलदेव उपाध्याय, पृ० ८३।
५. ऋ० ८।७७।१०।
६. भक्ति का विकास, पृ० ३४५।
७. भक्ति का विकास, पृ० ३४६।
८. वही।
९. वही।
१०. एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १३६।
११. दि रेलिजियन्स ऑफ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १८५।

देवताओं से सम्बन्धित माना जाता था[1] तथा शूकर की शपथ खाने की भी प्रथा थी। ग्रीक जाति में डीमेटर (Demeter) नामक कृषि-देवता से सम्बन्धित स्त्रियों का थेसमोफोरिया (Thesmophoria) नामक एक वार्षिक त्योहार होता था, जिसमें तरुण शूकरों को जमीन में गड्ढे खोदकर उनमें छोड़ने की प्रथा थी। शूकरों के साथ साँप, लकड़ी आदि से बनाई हुई पुरुष के लिंग के आकार की वस्तुएँ बनाकर छोड़ने की प्रथा थी। तत्पश्चात् गड्ढों में से शूकरों का अवशेष मांस निकालकर खेतों में डाला जाता था। उन लोगों का विश्वास था कि ऐसा करने से फसल अच्छी होती है।[2] प्राचीन मिस्री लोगों में यद्यपि धार्मिक क्षेत्र में शूकर अपवित्र माना जाता था, तथापि वहाँ भी किसी काल में शूकर भाग्य का लक्षण माना जाता था तथा उसका सम्बन्ध इसीस (Isis) तथा मातृदेवता नट (Nut) से माना जाता था। बोर्नियो में सन्तान की उत्पत्ति के लिए नव-दम्पति के शरीर पर शूकर का रक्त मलने की प्रथा थी।[3] इण्डोनेशिया के सावू (Savu) द्वीप तथा सैंडविच द्वीप एवं गिनी में भी शूकर-सम्बन्धी ऐसे ही कई प्राचीन विश्वास अस्तित्व में हैं।[4] महाभारत में भी कई स्थानों पर डकारने वाले शूकर का उल्लेख मिलता है तथा कहीं-कहीं उसकी तुलना बादलों के गर्जन से की गई है।[5] विष्णु भी बादलों की तरह गरजते हुए काले वराह का रूप धारण करते हुए अंकित किये गए हैं।

उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट हो जाता है कि संसार की प्रायः सभी प्राचीन जातियों में शूकर पवित्र समझा जाता था तथा उसका सम्बन्ध पृथ्वी, कृषि तथा उत्पत्ति से था। सम्भवतः शूकर के भूमि खोदने से ही उसका सम्बन्ध पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति से माना गया हो। ग्रिम का अनुमान है कि शूकर के इसी स्वभाव से मनुष्य ने जमीन जोतना सीखा है।[6] जर्मन लोक-कथाओं के अन्तर्गत इन विश्वासों के चिह्न अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं जहाँ भूमि को सृष्टि का पेट अथवा गर्भ कहा गया है।[7] ऋग्वेद में भी सोमरस निकालने के लिए व्यवहृत दो प्रस्तर-खण्डों की (आकार-विशेष एवं परिमाण की दृष्टि से) पुरुष के लिंग एवं स्त्री की योनि से तुलना की गई है।[8] संस्कृत भाषा में 'क्षेत्र' शब्द भूमि, गर्भ एवं पत्नी का अर्थ सूचित करता है। अतः हम देखते हैं कि पवित्र शूकर की कल्पना आर्येतर प्राचीन जातियों की कल्पना है तथा भारत में भी इस कल्पना का सम्बन्ध यहाँ के आदिवासियों से रहा है। ऋग्वेद[9] के अनुसार 'एमुष' का पर्वत के इस पार रहना तथा तैत्तिरीय संहिता[10] के अनुसार उसका सप्त-पर्वतों के उस पार असुरों का कोष छिपाए रखना 'एमुष' या वराह

---

१. एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १३० ।
२. वही, पृ० १३१ ।
३. वही, पृ० १३२ ।
४. वही ।
५. महाभारत ३, २७२, ५४ ।
६. एस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १३३ ।
७. वही ।
८. ऋग्वेद, १।२८।२ ।
९. ऋग्वेद, १।६१, ७, ८, ७७, १० ।
१०. तैत्तिरीय संहिता, ६, २, ४, २ ।

नामक किसी आद्य अधिपति की ओर संकेत करता-सा प्रतीत होता है जिसका धन एवं सम्मोहन देव प्राप्त कर लेते हैं। अथर्ववेद में ओदन को अमृत कहा गया है।[1] इस प्रकार देवों को अमृत भी मिल जाता है तथा पृथ्वी पर उनका आधिपत्य भी स्थापित हो जाता है। इस कथा से सिद्ध होता है कि आर्यों के आने के पूर्व भारत की पृथ्वी पर यहाँ के आदिवासियों का आधिपत्य था, जिनका अधिपति कोई एमुष नामक व्यक्ति रहा होगा तथा आर्यों के भारत में प्रवेश के समय वह दक्षिण की ओर चला गया होगा। बलि का नर्मदा के तट पर यज्ञ करना[2], बलि की पत्नी का 'विन्ध्यावलि' नामकरण एवं अगस्त्य ऋषि के सम्मुख विन्ध्याचल के नतमस्तक होने की कथा आदि इस बात की पुष्टि करती हैं कि प्राचीन काल में आर्यों को केवल विन्ध्याचल तक की भूमि का ज्ञान था तथा दक्षिण में दासों अथवा असुरों का आधिपत्य था। आदिवासियों के आधिपत्य के कारण ही शायद शतपथ ब्राह्मण में एमुष को पृथ्वी का उद्धर्ता तथा प्रजापति कहा गया है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक[4] में सहस्रबाहु वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार भी व्यक्ति की अपेक्षा जाति का ही सूचक प्रतीत होता है। निश्चय ही ये कथाएं आर्येतर प्राचीन विश्वासों को सूचित करती हैं।

महाभारत[5] में असुरों के भार से दबी हुई पृथ्वी के विष्णु द्वारा उद्धार की कथा पौराणिक वराहावतार की कल्पना के निकट प्रतीत होती है।[6]

प्राचीन आदिवासी विश्वासों के अनुसार शूकर उत्पत्ति से सम्बन्धित है। वह पृथ्वी का पति है तथा ओदन या अमृत रूप में अन्न रूपी जीवनोपयोगी शक्ति का अधिपति भी है। वैदिक एवं ब्राह्मण कल्पनाओं के अनुसार विष्णु का भी पृथ्वी से एवं जीवनोपयोगी सोम से सम्बन्ध है। प्राचीन जावा भौम काव्य के अनुसार वराह रूप विष्णु पृथ्वी की गोद में बैठ कर उसके साथ सम्भोग करते हैं।[7] इसी प्रकार मलाया की कथानुसार वराह-विष्णु पृथ्वी के अन्दर प्रवेश कर के एक आकार धारण करते हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी के साथ सम्भोग करते हैं।[8] ये दोनों कथाएँ पृथ्वी विषयक उत्पत्ति की सूचक हैं तथा प्राचीन कल्पनाओं पर आधारित हैं। प्राचीन वराह एवं वैदिक विष्णु में उपर्युक्त साम्य होने के कारण ही पुराणकारों ने तत्कालीन प्रचलित विश्वासों को मान्यता देते हुए वराह में विष्णु का आरोपण करके वराहावतार में उन विश्वासों का वैष्णवीकरण कर डाला है।

नृसिंह अवतार की कथा विविध पुराणों में उपलब्ध होती है। विष्णु-पुराण के अनुसार हिरण्यकशिपु ग्यारह हज़ार पाँच सौ वर्ष तपस्या करके ब्रह्मा से अमरत्व प्राप्त कर लेता है तथा उसके शासन-काल में ऋषि, ब्राह्मण आदि त्रस्त हो जाते हैं।[9] ब्रह्म तथा हरिवंश

---

१ अथर्ववेद, १२, ३, ४।
२ भारतीय संस्कृति कोश, चित्राव शास्त्री ('बलि' शब्द देखिए)।
३ शतपथब्राह्मण, १४, १, २, ११।
४ तैत्तिरीय आरण्यक, १, १०, ८।
५ महाभारत, ३, १४२, २८।
६ एस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, पृ० १४०।
७ एस्पेक्ट्स ऑफ़ अर्ली विष्णुइज़्म, जे० गोंडा, पृ० १४३।
८ वही।
९ विष्णुपुराण, १, १८ २०।

पुराणों के अनुसार हिरण्यकशिपु के अत्याचार से तंग आकर देवता विष्णु से अवतार धारण करने के लिए प्रार्थना करते हैं।[1] नृसिंह और भागवत-पुराणों में

नृसिंह

नृसिंह प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भे में से प्रकट होते हैं।[2] भागवत तथा ब्रह्म पुराणों में नृसिंह का आधा शरीर सिंह तथा आधा मनुष्य का था।[3] देवी-भागवत नृसिंह-अवतार का समय चौथे युग में मानता है।[4] भागवत-पुराण इसे चौदहवाँ अवतार कहता है।[5] भागवत हरिवंश, लिंग, मत्स्य, पद्म आदि पुराणों में विष्णु हिरण्यकशिपु का सायंकाल के समय वध करते हैं।[6] लिंग-पुराण में कहा गया है कि हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद जब नृसिंह अपने आपे में नहीं रहते, तब शिव शरभ का अवतार धारण करके नृसिंह का वध करते हैं।[7] महाभारत, हरिवंश, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर अत्याचार तथा नृसिंह की खम्भे से उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है।[8] ब्रह्म-पुराण में नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध करके दक्षिण की गोमती (गोदावरी) के तीर पर आकर दण्डकाधिपति अम्बर्य का वध करते हैं।[9]

इससे पता चलता है कि पौराणिक-काल में नृसिंह की कथा प्रचलित थी तथा उपलब्ध पुराणों के रचना-काल से पहले नृसिंह और विष्णु का गठबन्धन नहीं हो पाया था। महाभारत, हरिवंश, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर किये गए अत्याचार एवं नृसिंह की खम्भे से उत्पत्ति के उल्लेख का अभाव[10] इसी मत की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं, नृसिंह और विष्णु का गठबन्धन करने वाला एकमात्र सूत्र प्रह्लाद प्रतीत होता है।

पुराण-काल से पहले नृसिंह की कल्पना मत्स्य, वराह, कूर्म आदि की ही भाँति अत्यन्त प्राचीन विश्वासों को लेकर प्रचलित थी तथा उसका कोई भी सम्बन्ध विष्णु से नहीं था। हजरत मोहम्मद के समय 'यागूथ' (Yaguth) नामक सिंह-देव की उपासना प्रचलित थी[11]। निश्चय ही 'यागूथ' की कल्पना भारतीय नृसिंह की कल्पना से बहुत मिलती-जुलती प्रतीत होती है तथा स्पष्ट ही नृसिंह-विषयक कल्पना की प्राचीनता एवं व्यापकता सिद्ध करती है।[12] इससे भी पहले 'अवेस्ता' में 'नर्योसंह' नामक देवता का उल्लेख मिलता

---

१. ब्रह्मपुराण, २. १३; हरिवंश, १. ४१।
२. नृसिंह-पुराण, ४४, १६; भागवत-पुराण, ७. ८।
३. भागवत-पुराण, ७. ८, ब्रह्म-पुराण, १४६; २१३, ७६-७९।
४. देवी-भागवत, ४. १६।
५. भागवत-पुराण, १. ३।
६. भागवत, २. ७; हरिवंश, १. ४१; लिंग, १. ९४; मत्स्य, ४७. ४६; पद्म, २३८।
७. लिंग-पुराण, १, ९५।
८. महाभारत, सभापर्व, ४३. ५५; २७३; ह० वं०, ३. ४२-४७; मत्स्य, १६१-१६४; ब्रह्माण्ड, ३. ५; वायु, २, ६, ६६।
९. ब्रह्मपुराण, १४७।
१०. महाभारत, सभापर्व, ४३. ५५; २७३; हरिवंश, ३. ४२-४७, मत्स्य १६१-१६४, ब्रह्माण्ड, ३. ५; वायु २. ६. ६६।
११. ई० आर० ई०, पृ० ११६।
१२. महाराष्ट्र ज्ञान कोष, प्रस्तावना खण्ड, ९वाँ प्रकरण, पृ० ११६-१२०।

है।[1] सम्भवतः नरसिंह नृसिंह का ही भक्त रहा हो।

नृसिंह को लेकर एक स्वतन्त्र पुराण की रचना भी नृसिंह-विषयक मान्यताओं की प्राचीनता सिद्ध करती है, जिसका समर्थन मत्स्यपुराण से होता है जिसके अनुसार नृसिंह-पुराण की श्लोक-संख्या अठारह हजार है।[2] नारद ने इस पुराण का उल्लेख बारहवीं शताब्दी में किया है[3] तथा इस पुराण का गुप्त-काल में निर्माण स्वीकार माना है। हेमाद्रि ने तथा तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने नृसिंह का उल्लेख किया है। हेमाद्रि एवं वृद्ध हारीत द्वारा उल्लिखित विष्णु के चौबीस नामों में जिनका पठन आज भी प्रत्येक धार्मिक विधि के आरम्भ में होता है, नृसिंह इक्कीसवाँ नाम है।[4] स्वामी चक्रधर ने नृसिंह का उल्लेख करते हुए भी नृसिंह को हेमाद्रि आदि की भाँति विष्णु-वाचक न मानकर उनका सम्बन्ध अष्ट भैरवों में से सात्त्विक रुद्र शिव से माना है। महानुभाव पंथ में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या शास्त्र के अनुसार अष्ट-भैरवों का पद देवता विभाग में होता है।[5] इस तरह विष्णु का सम्बन्ध पौराणिक वैकुण्ठ के अधिष्ठाता विष्णु से न होकर उनके द्वारा कल्पित अपर रुद्र सात्त्विक रूप अष्ट भैरव से है।[6] नृसिंह-विषयक तेरहवीं शताब्दी के इस मतान्तर तथा पौराणिक उल्लेखों में असमानता से प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना अत्यन्त प्राचीन थी तथा उनकी प्राचीनता के कारण ही पुराण-काल में अवतार-कथाओं में उनका स्पष्ट रूप निश्चित नहीं था। एक प्राचीन शिलालेख से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि गुप्तकाल के समय में नृसिंह की उपासना का प्रचलन था तथा उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता था[7] तथा तत्कालीन मूर्तिकला में नृसिंह का उग्र रूप ही व्यक्त करने की प्रथा थी जबकि विष्णु का मूर्त रूप सात्त्विक एवं शान्तिप्रिय देवता के रूप में ही माना जाता था। मत्स्यपुराण में नृसिंह हिरण्यकशिपु-युद्ध की मूर्ति के निर्माण के विषय में उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसमें नृसिंह के उग्र रूप व हिरण्यकशिपु के हाथ में ढाल-तलवार का उल्लेख आता है। इसी तरह अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, रूपमण्डन आदि में भी नृसिंह का यही उग्र रूप प्रतिपादित है तथा तत्कालीन प्राचीन मूर्तियों में अकेले नृसिंह की मूर्ति की अपेक्षा नृसिंह-हिरण्यकशिपु युद्ध ही अंकित किया हुआ मिलता है। इसके ठीक विपरीत वैखानसागम में नृसिंह का शान्ति रूप एवं ध्यानी के रूप में स्वीकार किया गया है।[8] नृसिंह-मूर्ति का यह भाव गुप्तकालीन एक स्तम्भ में भी व्यक्त हुआ उपलब्ध होता है। देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर में नृसिंह को शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये कमल पर आसीन चित्रित किया गया है।[9] मद्रास की लक्ष्मी-नृसिंह कांस्य-मूर्ति में लक्ष्मी का समावेश एवं नृसिंह की शान्त मुद्रा नृसिंह

१ वही, पृ० (न०) ३३।
२ महाराष्ट्र ज्ञान कोश, [illegible] खण्ड, नवाँ प्रकरण पृ० (न०) ३३।
३ वही।
४ के० टी० करंदकर, पृ० ५०।
५ [illegible], हरिदास नेने, पृ० २।
६ [illegible] शास्त्र, [illegible], पृ० २२।
७ डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जे० एन० बनर्जी, पृ० २०७।
८ वही, (द्वितीय संस्करण) पृ० ४१२, ४१७।
९ वही।

की आरम्भिक उग्रता को विष्णु की सात्विकता में परिणत करती-सी प्रतीत होती है।

इससे प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना मूल रूप मे आर्यों की अपनी कल्पना न होकर अन्य जनों के प्राचीन विश्वासो पर आधारित थी तथा उसमे उग्रता की स्थापना हिंस्र वृत्ति की प्रतीक थी। मोहेनजोदड़ो सभ्यता के अन्तर्गत सिंह की पार्वती के वाहन के रूप में स्थापना[1] सिंह के इसी हिंस्र गुण की मान्यता को चरितार्थ करती है, यद्यपि उस समय भी सिंह का पृथक् अस्तित्व पूजनीय नही था। अतः यह कहना अनुचित नही होगा कि 'नृसिंह' मे नर और सिंह का योग दो विभिन्न गुणों एवं मतों के गठबन्धन का प्रतीक है। सिंह स्वभावतः हिंस्र जन्तु है; अतः वह हिंसा का, दानवी शक्ति का प्रतीक है और कुछ सीमाओं में हिंसा क्षत्रियों का धर्म है। अतः सिंह क्षत्रिय जातियों का, शक्ति का, सत्ता का प्रतीक है। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अथवा हिंस्र एवं सात्विक वृत्तियो के योग से ही आदर्श मनुष्य की स्थापना तथा दुष्टों का नाश सम्भव हो सकता था। इसी तत्त्व के आधार पर सम्भवतः नृसिंह की कल्पना का विकास हुआ। इस प्रकार नृसिंह की कल्पना मे जहाँ एक ओर क्षत्रिय तथा ब्राह्मणो मे विद्यमान प्राचीन विरोध के निराकरण के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर परम्परा से प्रचलित अत्यन्त प्राचीन पशु-पूजन-सम्बन्धी स्थानीय लोक-विश्वासों का भी समावेश है। यही नही, उसमे पाशविकता से मानवता की ओर सृष्टि-विकास के तत्त्व की मान्यता भी अन्तर्निहित है।

क्षत्रियों का समाहार

उपर्युक्त विशेषताओ के कारण ही पौराणिक युग मे नृसिंह की प्राचीन कल्पना को लेकर नृसिंह-अवतार की कल्पना प्रतिफलित हुई। इस अवतार की पौराणिक कल्पना में ऋग्वेद[2] में वर्णित नमूचि की कथा अत्यन्त सहायक प्रतीत होती है तथा पौराणिक नृसिंह-कथा का मूल भी वैदिक नमूचि-इन्द्र-युद्ध की कथा मे अभिलक्षित होना है।[3] वैदिक नमूचि दानवपुत्र है, इन्द्र का शत्रु है। हिरण्यकशिपु भी दानव है, विष्णु का शत्रु है। नमूचि देवों पर आक्रमण करने वाली दानव सेना का सेनापति है।[4] हिरण्यकशिपु भी दानव-शक्ति का अधिपति है।[5] नमूचि को इन्द्र वर देता है कि वह किसी भी आर्द्र अथवा शुष्क शस्त्र से नही मारा जा सकता। तभी तो इन्द्र समुद्र के फेन से उसका शिरच्छेद करता है। नमूचि का सिर इन्द्र का पीछा करता है तथा ब्रह्मा के कहने पर जब इन्द्र अरुणा नामक तीर्थ मे स्नान करता है तब तीर्थ में गिरकर अमरत्व प्राप्त करता है।[6] पौराणिक हिरण्यकशिपु भी ब्रह्मा को प्रसन्न करके अमरत्व प्राप्त करता है तथा उसकी छाती नृसिंह अपने नखो से चीरते है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन वैदिक नमूचि की कथा किंचित् रूपान्तरित होकर हिरण्यकशिपु की कथा के रूप मे पौराणिक काल मे नृसिंहावतार को जन्म देती है तथा वैष्णव-धर्म को व्यापकता प्रदान करके उसके अन्तर्गत ब्राह्मणेतर क्षत्रिय एवं अन्य जातियों

१. दि रेलिजियन्स ऑफ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १८७।
२. ऋ० ८।१४।१३।
३. प्राचीन चरित्र कोष, चित्राव शास्त्री, पृ० २८७।
४. महाभारत, सभापर्व, ५१।
५. विष्णु-पुराण, ११७-१२०।
६. महाभारत, शल्य-पर्व ४४.३३।

वे विचारों को समाविष्ट करते समस्त कल्पना को ब्राह्मण विचारों की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित कर दी है।

नृसिंहावतार की भाँति विष्णु के दशावतार में वामन का भी समावेश कर लिया गया है। वैदिक मन्त्र 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे'[1] के अनुसार विष्णु ने अपने तीन पदों में समस्त संसार को माप लिया था।

वामन

शतपथ ब्राह्मण में यही 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' वामन रूप बन जाते हैं[2] तथा पौराणिक काल में अवतार की श्रेणी में आ जाते हैं। वैदिक एवं ब्राह्मण साहित्य में वर्णित विष्णु के वामनों की विरूपता ही पौराणिक काल में वामन अवतार की कल्पना का रूप लेती है क्योंकि वामन में अवतारवाद की सभी विशेषताएँ सरलता से देखी जा सकती हैं। इतना ही नहीं, वामन मूलतः विष्णु ही थे तथा अपने मूल रूप में एक ओर जहाँ उन्होंने असुरों से पृथ्वी छीन ली थी वहीं दूसरी ओर बलि को पाताल भेजकर चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठापना भी की थी।

वामन मूलतः वटु रूप है, ब्राह्मण है, दान का पात्र है तथा बलि की कथा से उसका निकट का सम्बन्ध है। इसी कथा में वामनावतार का महत्त्व अन्तर्निहित है, जिसका आधार लेकर पौराणिक काल में वामनावतार की कल्पना परिपुष्ट हुई है।

चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठापना

बलि के शासन-काल में ब्राह्मण तथा भूमि को कष्ट होने के कारण ही विष्णु ब्राह्मणों को वामन-अवतार लेने का आश्वासन देते हैं।[3] बलि विष्णु का निन्दक है और प्रह्लाद से शाप पाकर विष्णु की शरण जाता है[4] तथा दान देता है।[5] बलि की कथा में लोक की विपत्ति का निवारण, ब्राह्मणों का ईश्वर के रूप में स्वीकार तथा दान की महिमा ही वामनावतार की पौराणिक कल्पना का उद्गम रही है।

इस प्रकार ब्राह्मण रूप वामन की कल्पना में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा अन्य वर्णों की निकृष्टता अनायास ही प्रतिष्ठापित हो जाती है।

वामनावतार की कल्पना तथा विष्णु के दशावतार में उसका क्रम विकासवाद की दृष्टि से भी सहायक प्रतीत होता है क्योंकि नृसिंह के बाद वटु-रूप वामन की कल्पना में मनुष्यत्व के चरम विकास का बीज देखा जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक काल के पहले वामन विष्णु के रूप-मात्र थे अथवा स्वयं विष्णु थे। अवतार के रूप में उनकी मान्यता नहीं थी। पौराणिक काल में विष्णु का वामन रूप विदित होते हुए भी अन्य अवतारों की भाँति वामन को विष्णु का अवतार मानना स्पष्ट ही तत्कालीन धार्मिक मर्यादाओं के समर्थनार्थ प्राचीन मान्यताओं की एक नये ढंग से पुनरावृत्ति है। पौराणिक काल में ब्राह्मणों की उच्चता बनाए रखने में वामनावतार की कल्पना विशेष सहायक प्रतीत होती है।

---

१ ऋ० १।२२।१७।

२ शतपथब्राह्मण, १, २, ५।

३ ब्रह्मपुराण, ७३।

४ वामन-पुराण, ७७।

५ पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ५३।

परशुराम का उल्लेख सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होता है।[1] राम और कृष्ण की भाँति आरम्भ में परशुराम का भी विष्णु से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।[2] न ही महाभारत में वर्णित परशुराम की कथा का विष्णु से कोई सम्बन्ध है। रामायण में अवश्य परशुराम के पास विष्णु का धनुष होने तथा राम द्वारा शिव-धनुष तोड़कर उनके घमण्ड को चूर करने का वर्णन है, पर महाभारत का यह अंश सम्भवतः बाद में जोड़ा हुआ है।[3] रामायण में वर्णित राम और परशुराम में सीता-स्वयंवर के समय विरोध भी इसी बात की पुष्टि करता है। निश्चय ही उस काल तक परशुराम का विष्णु के साथ गठबन्धन नहीं हो पाया था, बल्कि किसी परवर्ती काल मे क्षत्रियों के विरोधी एवं ब्राह्मणों के संरक्षक होने के कारण परशुराम को विष्णु का अवतार मान लिया गया है। विष्णु-पुराण तथा वायु-पुराण मे देव, ऋषि, यक्ष तथा मानवो का कार्तवीर्य के राज्य से तंग आकर विष्णु से अवतार-धारण के लिए प्रार्थना करना परशुराम को पूर्णरूपेण विष्णु-अवतार की कोटि मे ले आता है।

परशुराम क्षत्रियों का निपात

कार्तवीर्य की कथा में भृगु के वरदान से उनकी पुत्रवधू सत्यवती को जमदग्नि नामक पुत्र और परशुराम नामक पौत्र का होना तत्कालीन ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के बीच विद्यमान परस्पर विरोध एवं विद्वेष से सम्बन्धित है। इसी विद्वेष का निदान कार्तवीर्य की कथा से होता है। कार्तवीर्य द्वारा जमदग्नि की होम-धेनु के बछड़े का अपहरण तथा उसके पुत्रों द्वारा जमदग्नि का वध ब्राह्मण-धर्म में क्षत्रियों के हस्तक्षेप तथा उन पर अत्याचार को सूचित करता है। इसी प्रकार परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करना क्षत्रियों के दमन तथा ब्राह्मणों के वर्चस्व की स्थापना का द्योतक है। महर्षि ऋचीक का साक्षात् प्रकट होकर परशुराम को क्षत्रिय निपात से रोकना एवं परशुराम का समस्त पृथ्वी ब्राह्मणों को दान कर देना इसी परिस्थिति की पुष्टि करता है।

कार्तवीर्य की कथा

स्पष्ट ही परशुराम की कथा में कंस, रावण आदि की भाँति किसी दानव-शक्ति के अधिपति का वध नहीं है। न ही कहीं धर्म की प्रतिष्ठापना का चिह्न मिलता है जो उन्हें अवतार की कोटि में ला सके। तथापि परशुराम का विष्णु के अवतारों में समावेश इस बात को सूचित करता है कि पौराणिक काल की अवतार-कल्पना मे ब्राह्मण-धर्म में विघ्न उपस्थित करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दानव-तुल्य ही समझा जाता था तथा ब्राह्मणों के रक्षक विष्णु का ही अन्य प्रकार माना जाने लगा था।

दाशरथी राम का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है तथा वाल्मीकीय-रामायण मे उनकी कथा विस्तार से दी गई है। डॉ० याकोबी के मतानुसार, राम इन्द्र के ही अन्य रूप हैं। याकोबी का अनुमान है कि इन्द्र का यही रूप पश्चिम-भारत मे बलराम एवं पूर्वी भारत में दाशरथी राम में

रामावतार

१. महाभारत, वनपर्व।
२. ई० आर० ई०, पृ० १९४।
३. वही।

विकसित हुआ।[1] स्पष्ट ही याकोबी का अनुमान असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि बलराम विषयक उपासना अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन प्रतीत होती है तथा दोनों के चरित्रों में किसी भी प्रकार का साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल 'राम' शब्द की साम्यता को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रामक है।

प्रचलित परम्पराओं के आधार पर बौद्ध-जातकों में यत्र-तत्र बुद्ध को राम का पुनरवतार माना गया है। जैन पुराणों में राम का महत्त्व स्पष्ट रूप से वर्णित है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से जहाँ राम सम्बन्धी प्राचीन लोक विश्वासों का प्रचलन प्रतीत होता है, वहीं वाल्मीकीय रामायण की कथा से यह सिद्ध होता है कि राम की महत्ता विशेषतः उनके त्याग एवं मर्यादा तथा शौर्य पर ही आधारित थी तथा वे आरम्भ में वासुदेव कृष्ण की तरह उपास्य नहीं माने जाते थे और न ही उन्होंने कृष्ण की तरह कोई दिव्य सन्देश दिया था।[2] पातञ्जलि के महाभाष्य में भी राम के उल्लेख के अभाव से प्रकट होता है कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक राम कोई दैवी पुरुष नहीं समझे जाते थे।[3] अमरसिंह की ब्राह्मण देवताओं की सूची में राम का समावेश न होना इसी मत की पुष्टि करता है।[4] वाल्मीकीय रामायण में भी राम का चरित्र मनुष्य रूप में ही अंकित हुआ है। भवभूति ने राम के इस रूप को और भी श्रेष्ठ कर दिया है जिससे राम सम्बन्धी प्रचलित भावनाएं और भी विकसित हो गई हैं। राम चरित्र विषयक मान्यताओं का यही विकास बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के रचना-काल तक राम को पूजनीय बना देता है। इन ग्रन्थों एवं लोक विश्वासों के उत्तरोत्तर विकास द्वारा रामचरित के परिष्कार के कारण राम को अवतार की कोटि में समाविष्ट कर लिया गया है। राम के अवतार कोटि में समावेश का क्रम भागवत पुराण में स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। भागवत के नवम स्कन्ध में राम को साक्षात् अवतार की कोटि में न रखकर स्वरूपावेश अवतार ही स्वीकार किया गया है।[5] वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या-काण्ड में राम को विष्णु का अवतार माना गया है।[6] इसी मत का समर्थन महाभारत से भी होता है।[7] हरिवंश तो राम लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न चारों को विष्णु के चार रूप मानता है।[8] इन्हीं मान्यताओं के आधार पर आध्यात्मरामायण में, जो सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी की रचना है रामादि चारों भाइयों को पांचरात्र संहिताओं के अनुकरण पर विष्णु शेष शंख तथा सुदर्शन का अवतार माना गया है।[9] यहीं सीता को मूल प्रकृति तथा योग माया[10] तथा राम को परब्रह्म, लक्ष्मण को शेष तथा अन्तिम अंश के पाँचवें

१ बुल्के, 'रामकथा', पृ० १०४।
२ वैष्णव धर्म, पृ० ६४।
३ गो० वै० भाण्डारकर, पृ० ४७।
४ वही।
५ भक्ति का विकास, डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० ३५०।
६ अयोध्या-काण्ड, १ ७।
७ महाभारत, अरण्य-पर्व, ३ १४७ ११, ३ २६६ १८।
८ हरिवंश, ४१ १२२।
९ भक्ति का विकास, पृ० [illegible]।
१० आध्यात्म-रामायण, २ १ १३, ३ ३ ३२।

अध्याय में रामगीता का आयोजन करके राम द्वारा लक्ष्मण को ज्ञान का उपदेश दिलवाकर राम को कृष्ण के स्तर पर लाकर विष्णु का अवतार सिद्ध करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।

अतः हम देखते है कि राम के शौर्य एवं मर्यादा-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वास कालान्तर में उन्हें देवता कोटि तक पहुँचा देते है तथा इस प्रकार उन्हे विष्णु का अवतार मान लिया जाता है। और यद्यपि अवतार के रूप में राम की उपासना का प्रचार ईसा की नवी शताब्दी से ही आरम्भ होता है, तथापि दक्षिण के कुलशेखर आलवार की रचनाओ में भी रामभक्ति का आरम्भिक रूप व्यक्त हुआ है।[1] जो हो, सम्प्रदाय के रूप मे रामभक्ति का प्रचलन तेरहवी शताब्दी में ही माना जा सकता है।[2] राम मे रावण-जैसे योद्धा को पराजित करने वाली अतिमानवीय शक्ति के साथ-साथ आदर्श पुत्र, पति, भ्राता तथा लोकपाल के चिह्न एवं यज्ञ मे विष्णु के प्रसाद से राम की उत्पत्ति ही ऐसे दो कारण प्रतीत होते हैं जो उनका तादात्म्य विष्णु के साथ स्थापित करते हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थो से स्पष्ट विदित होता है कि उनके रचना-काल तक राम लोकनायक तथा मर्यादा पुरुषोत्तम के ही रूप मे प्रख्यात थे तथा आरम्भ में उनका सम्बन्ध किसी अवतार से न होते हुए भी वे देवत्व कोटि तक पहुँचने लगे थे। हेमाद्रि तथा वृद्धहरित की देवता सूची मे[3] 'पुरुषोत्तम' का समावेश जहाँ एक ओर उनका सम्बन्ध विष्णु से जोड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है, वहीं इस बात की भी पुष्टि करता है कि प्राचीन काल में राम के मूल पुरुषोत्तम रूप को ही मान्यता मिली हुई थी। इसी पुरुषोत्तम रूप के कारण सम्प्रदाय के रूप मे रामभक्ति कृष्ण के पश्चात् ही अधिष्ठित होती है।

कृष्ण के पहले, पर सम्प्रदाय के रूप में बाद में, प्रचलित राम-भक्ति

अतः कहा जा सकता है कि पौराणिक युग में आदर्श पुरुष राम-सम्बन्धी उच्च भावनाएँ राम को विष्णु का अवतार स्वीकार करने के काफी पहले से ही लोक मे प्रचलित थी, पर बौद्ध एवं जैन धर्मो की नवीन धार्मिक विचारधाराओ के सम्मुख उनका विकास कुंठित-सा हो गया। इन्हीं निरीश्वरवादी धार्मिक विचारधाराओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप पौराणिक युग में जब वैष्णव-धर्म ने व्यापक रूप धारण करना आरम्भ किया तो अन्य प्राचीन लोक-विश्वासो की भाँति राम को भी साक्षात् विष्णु का अवतार माना जाने लगा, तथापि सम्प्रदाय के रूप में रामभक्ति का प्रचार पौराणिक काल मे नही हो सका। सम्भवतः इसका मुख्य कारण राम के चरित्र में किसी उच्च धार्मिक सन्देश का अभाव था। स्पष्ट ही पौराणिक युग की धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में वैष्णव-धर्म का विकास एवं जनता को नवीन निरीश्वरवादी मतों की ओर से परावृत्त करके वैष्णव-धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए केवल ऐसे ही सम्प्रदायों को स्वीकार किया जा सकता था, जिनके प्रवर्त्तको मे अद्भुत दैवी शक्ति के साथ-साथ वैष्णव-धर्मानुरूप लक्षण विद्यमान हों। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, परशुराम आदि की अपेक्षा वासुदेव-कृष्ण मे इन लक्षणों का चरम विकास अभिलक्षित होता है, इसीलिए कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार मान लिया गया तथा

---

१. जर्नल ऑफ दि श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपति भा० ३ (१९४२), पृ० १६६।
२. शै० वै० भाण्डारकर, पृ० ४७।
३. वही।

पौराणिक काल से ही कृष्ण भक्ति और भी व्यापक रूप धारण करने लगी। पौराणिक काल से ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी तक का इतिहास सम्पन्नता का इतिहास था। हूण आदि बर्बर जातियों के आक्रमण होने पर भी यहाँ की भारतीय शासन-शक्ति उनका सामना करने में समर्थ थी। अतः शान्ति के इस युग में जहाँ राजाश्रय में कलाएँ अपने चरम विकास को पहुँच रही थीं वहाँ संस्कृत साहित्य में लोकरंजन के लिए शृंगार का निरूपण भी नानाविधि होने लगा था। स्वाभाविक था कि भास, कालिदास, बाण आदि शृंगार प्रधान कवियों के काव्य तथा लोक-रुचि का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र पर भी पड़ता। सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों के परिणामस्वरूप सात्वत या भागवत धर्मों के प्रवर्तक वासुदेव कृष्ण भी, जो अब विष्णु से अभिन्न समझे जाने लगे थे, शृंगारिक लीलाओं का समावेश होने के कारण कृष्ण भक्ति को एक नया मोड़ मिला और वह लोकरंजन का रूप धारण करने लगा। पर दसवीं शताब्दी का काल विदेशी आक्रमणों का काल था जब देश विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं की मुठभेड़ हो रही थी। संगठित हिन्दू शासन-सत्ता अन्तिम साँस ले रही थी। इसी बीच मुहम्मद गजनवी के भारत पर आक्रमण एवं मूर्तियों के खंडन को देखकर हताश भारतीय जनता धर्म की रक्षा के लिए एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करने लगी जो तत्कालीन विषमताओं में उसका मार्गदर्शन और धर्म की रक्षा कर सके। ऐसा व्यक्तित्व किसी जीवित हिन्दू राजा में न होने के कारण लोक को अतीत की ओर ताकना पड़ा। वह व्यक्तित्व राम में होने के कारण उन्हें लोकनायक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। निश्चय ही राम में वे सभी गुण विद्यमान थे जिनकी तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यकता थी। डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार, बारहवीं शताब्दी में आनन्द-तीर्थ द्वारा बदरिकाश्रम से दिग्विजयी राम की मूर्ति लाना तथा लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में राम सम्प्रदाय की स्थापना[1] एवं परवर्ती काल में उसका अत्यधिक प्रसार इसी ऐतिहासिक पार्श्व-भूमि का समर्थन करता है। सोलहवीं शताब्दी में तुलसीदास द्वारा राम को उपास्य मानकर रामचरितमानस जैसे लोक-ग्रन्थ की रचना के पीछे भी सम्भवतः यही उद्देश्य अन्तर्निहित था।

पहले कहा जा चुका है कि महाभारत के प्राचीन कथा के रचना काल तक वासुदेव कृष्ण सात्वत या भागवत धर्म के प्रवर्तक देवाधिदेव के रूप में माने जाते थे तथा वासुदेव का यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन काल से ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में था। वासुदेव भक्ति का प्रचार भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित था जबकि सप्तसिंधु एवं उत्तरापथ में ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड का बोलबाला था। इस प्रदेश में वासुदेव-भक्ति का प्रचार न होने के कारण ही बौद्ध एवं जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों की स्थापना वहाँ सरलता से हो सकी। बौद्ध, जैन तथा कपिल के निरीश्वरवादी सिद्धान्तों से जब वैदिक-धर्म को धक्का पहुँचने लगा तो वैदिक धर्म में नई चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह काल ब्राह्मणों के प्राधान्य का काल था तथा वैदिक धर्म को व्यापकता प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वैदिक मत पर आधारित तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों को सूत्रबद्ध करके संगठित रूप से निरीश्वरवादी नूतन धर्म-स्थापना का विरोध किया जाय। इसी आवश्यकता की पूर्ति के फलस्वरूप गुप्त-काल तक आकर वासुदेव विष्णु का एकीकरण हुआ

कृष्णावतार

---

[1] वै० शै० भांडारकर, पृ० ४७।

तथा विष्णु देवाधिदेव और कृष्ण उनके पूर्णावतार मान लिये गए ।[1] विद्वान् इसी काल को पुराणों की रचना का काल मानते हैं । पुराणकारों द्वारा कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार तथा राम को अंशावतार मानना तत्कालीन समाज में वासुदेव-कृष्ण की श्रेष्ठता ही सिद्ध करना है ।

विष्णु और वासुदेव-कृष्ण के इस एकीकरण के परिणामस्वरूप कृष्ण को विष्णु का आठवाँ अवतार मान लिया गया तथा लक्ष्मी की कल्पना के अनुरूप राधा की कल्पना प्रस्फुटित हुई । प्राचीन भागवत या सात्वत-धर्म मे राधा का सर्वथा अभाव इस बात को प्रमाणित करता है कि राधा की कल्पना विष्णु और कृष्ण के एकीकरण का ही परिणाम है, जिसका समर्थन राधा-विषयक पौराणिक उल्लेखों से भी होता है । राधा की पौराणिक कल्पना प्राचीन वासुदेव-कृष्ण के जीवन पर वैष्णव संस्कार करके वासुदेव-कृष्ण को वैष्णव-रूप प्रदान करती है तथा साथ-ही-साथ कृष्ण-भक्ति को प्राचीन मान्यता से भिन्न एक अभिनव दिशा में प्रवाहित करने में सहायक होती है ।

कृष्ण और विष्णु की भिन्नता का तत्त्व गोवर्धन की कथा में भी उपलब्ध होता है। गोवर्धन की कथा से कृष्ण के प्राचीन चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। विष्णु-पुराण मे कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाकर इन्द्र के कोप से गोप-जनों की रक्षा करते हैं, क्योंकि कृष्ण के कहने पर उन्होंने प्रचलित इन्द्र-महोत्सव का विरोध करके गोवर्धन की पूजा की थी । कथा में वर्णित यह विरोध सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखता है । इन्द्र-पूजा का विरोध कृष्ण इसलिए करते है कि इन्द्र का गोपों से कोई सम्बन्ध नही है । वे वैश्य अथवा कृषक न होकर वन में स्वतन्त्रता से विचरण करने वाले जन है तथा घरों में न रहकर समूहों में रहते हैं । इन्द्र आर्यो का युद्ध-देवता है अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सम्पत्तिशाली वर्णो का रक्षक होने के नाते पूजनीय हो सकता है, पर जिनकी सम्पत्ति केवल गोधन है वे इन्द्र की पूजा क्यों करें ? गोपो की जीविका का एक-मात्र साधन गोधन है और गायो का निर्वाह चरागाहों से होता है । वही चरागाह गोवर्धन है, जो गोपो के लिए पूजनीय है । मैदान मे चरने वाली गायों एवं गोपालों के लिए वर्षा काल में आश्रय पहाड़ है, इसलिए वह भी पूजनीय है । निश्चय ही कथा में अन्तर्निहित सत्य कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना न होकर कृष्ण द्वारा आभीर जाति मे प्रचलित विश्वासों का खण्डन एवं उनके वास्तविक धर्म का निरूपण है । कृष्ण-इन्द्र-युद्ध तथा उसमें इन्द्र का पराजित होकर कृष्ण को उपेन्द्र की उपाधि से विभूषित करना, दो विभिन्न संस्कृतियो के अस्तित्व एवं संधि का प्रतीक है । अतः गोवर्धन की कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कृष्ण प्राचीन आभीर जन के नेता थे, जिसकी जीविका गोपालन पर निर्भर थी । ये जन घरों अथवा नगरों मे न रहकर गायो के साथ जगलों एवं मैदानो में भ्रमण किया करते थे । कृष्ण का व्रजवासी रूप जो सभी प्राचीन मूर्तियो में अंकित हुआ है, इस सत्य का समर्थन करता है । वैदिक देवताओं मे गोपों की आस्था सूचित करती है कि ये जन भारत के आदिवासियों मे से थे[2], किसी परवर्ती काल मे भारत से आकर नहीं बसे थे,

गोवर्धन-कथा

---

१. वैष्णव धर्म, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४८ ।

२. दि रिलिजयन्स ऑफ़ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १७२ ।

जसी कि कुछ विद्वानों ने शंकाएँ उठाई हैं।[१] सम्भवतः कृष्ण की जन्म-कथा के अन्तर्गत कृष्ण का शिशु-अवस्था में ही आभीरों के अप्राप्य नन्द के यहाँ पहुँचाया जाना यह महत्त्वपूर्ण कल्पना है जो कृष्ण का प्रादुर्भाव आदिवासी आभीर जातियों के देवता होने के सत्य पर आवरण डालकर उनका सम्बन्ध अनायास ही आर्यों से स्थापित करके विष्णु के कृष्णावतार की प्रतिष्ठापना में आश्चर्यजनक योग देती है।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि आभीर जातियाँ भारत में विदेश से आई थीं।[२] डॉ० भांडारकर तो उनके आने का समय ईसा की पहली शताब्दी मानते हैं।[३] पर यह मत निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि आभीरों के विषय में कई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। 'ऐतरेयब्राह्मण' में 'वश' शब्द का प्रयोग गाय के लिए हुआ करता था, यद्यपि परवर्ती साहित्य में इसका अर्थ 'उजाड़' होने लगा था।[४] महाभारत में आभीरों द्वारा वृष्णी स्त्रियों सहित द्वारका से कुरुक्षेत्र को लौटते समय अर्जुन पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है।[५] 'विष्णुपुराण' में अपरान्त अथवा वर्तमान कोंकण और सौराष्ट्र को आभीर देश माना गया है जिसकी पुष्टि वराहमिहिर ने भी की है।[६] हरिवंश उनका स्थान मधुवन से द्वारका के समीप तक का प्रदेश मानता है।[७] ब्रह्मसूत्र में जो अत्यन्त प्राचीन रचना है आभीरों को दक्षिणवासी कहा गया है तथा ब्रह्मसूत्र के रचनाकाल तक उनका आवास भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश में था।[८] पद्म पुराण में उल्लेख आता है कि विष्णु आभीरों से कहते हैं कि वे मथुरा में आठवाँ अवतार धारण करेंगे।[९] इसी पुराण में आभीरों को श्रेष्ठ तात्त्विक कहा गया है।[१०]

सात्वत क्षत्रियों का गोप-देवता

उपर्युक्त आधारों एवं गोवर्धन-कथा में अन्तर्निहित तथ्यों से कृष्ण का गोप देवता होना ही सिद्ध नहीं होता, वरन् उनकी प्राचीनता तथा ब्राह्मण धर्म के विरोध में एक विशेष तत्त्वज्ञान की स्थापना भी सिद्ध होती है। कृष्ण के अस्तित्व एवं उनके सिद्धान्तों की प्राचीनता की पुष्टि 'छान्दोग्य उपनिषद्' तथा पुराणों में भी अभिलक्षित होती है। अमरसिंह द्वारा वर्णित पुराणों के लिए आवश्यक सभी तत्त्व 'विष्णु-पुराण' में उपलब्ध होने के कारण इस पुराण को अन्य उपलब्ध पुराणों की अपेक्षा प्राचीन माना जा सकता है। 'विष्णु-पुराण' में इन्द्र-पूजा का प्रतिकार तत्कालीन यज्ञ प्रथा का विरोध सूचित करता है जिसकी पुष्टि हरिवंश में भी होती है।[११] इन्हीं पुराणों में कृष्ण को यदुवंशीय माना गया है।[१२] 'हरिवंश' में

१ के० शे० भांडारकर, पृ० ३६।
२ दि रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, ए० पी० करमरकर, पृ० १७२।
३ के० शे० भांडारकर, पृ० ३६।
४ दि रिलिजन्स आफ इण्डिया ए० पी० करमरकर, पृ० १७२।
५ महाभारत, मौसल पर्व, अध्याय ७।
६ के० शे० भांडारकर, पृ० ३७।
७ हरिवंश, ५१६१-६३।
८ ब्रह्मसूत्र, १४।१२, १८।
९ पद्मपुराण, सृष्टि-खण्ड, १७ ११।
१० वही, १७-१।
११ हरिवंश १, १६, ४१।
१२ हरिवंश ५१६१-६३।

मथुरा एवं उसके आस-पास के प्रदेश में आभीरों के राज्य के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है।[१]

ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मेगास्थनीज के उल्लेख से हरिवंश के कथन का समर्थन होकर वासुदेव एवं कृष्ण तथा मथुरा मे आभीरों के राज्य का पता चलता है। उपर्युक्त सभी उल्लेख आभीर जाति की प्राचीनता, उसका भारतीय आदि-जाति होना तथा कृष्ण का सात्वत-क्षत्रियों का गोप-देवता होना सिद्ध करते हैं। डॉ० भाडारकर का यह अनुमान कि वैदिक कृष्ण-द्रपसः और परवर्ती कृष्ण एक ही विभूति थे, ठीक मान लिया जाय तो कृष्ण एवं उनके तत्त्वज्ञान का काल ऋग्वेद का समकालीन सिद्ध होता है। वस्तुतः डॉ० भाडारकर का अनुमान निराधार नही प्रतीत होता, क्योकि ऋग्वेद[२] मे जहां इन्द्र और कृष्ण-द्रपसा के युद्ध का उल्लेख है, वही अंशुमती अथवा यमुना के तीर पर कृष्ण की सेनाओं के एकत्रित होने तथा इन्द्र द्वारा देवताओं को न मानने वाले उस सैन्य समूह से युद्ध करने के लिए मारुतों का आवाहन भी अंकित है। उपर्युक्त मन्त्रों मे अंशुमती तथा इन्द्र शत्रुओं की देवताओं में अनास्था का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और सात्वत-धर्म के तत्त्वज्ञान तथा सात्वतों के राज्य के सीमा-प्रान्त को स्पष्ट रूप से सूचित करता है। इस प्रकार कृष्ण की प्राचीनता ऋग्वेद के समान ही प्राचीन सिद्ध होती है।

मेगस्थनीज द्वारा उल्लेख

कृष्ण की प्राचीनता उनकी काम-लीलाओं तथा रुक्मिणी-कृष्ण-विवाह से भी परिपुष्ट होती है। पहले कहा गया है कि 'महाभारत' में कृष्ण का चरित्र उनके पाण्डवों के सम्पर्क में आने के बाद का चरित्र है तथा 'विष्णु-पुराण' में उसके पूर्व के चरित्र की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। 'विष्णु-पुराण' में वर्णित रुक्मिणी-स्वयंवर के अनुसार कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह राक्षस पद्धति से होता है, यानी कृष्ण रुक्मिणी का हरण करते हैं, तत्पश्चात् उससे विवाह करते हैं।[३] राक्षस-विवाह-पद्धति मनु द्वारा वर्णित वैदिक विवाह पद्धति के आठ प्रकारों मे से ही एक है[४] तथा विवाह की ये आठों पद्धतियां वैदिक-काल मे प्रचलित थी। इसी प्रकार बहुपत्नीत्व की प्रथा भी ऋग्वेदकालीन समाज में मान्य थी।[५] इन प्रथाओं के अनुरूप कृष्ण का, 'विष्णु-पुराण' में वर्णित रुक्मिणी आदि मिलाकर सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियों से विवाह करना जहाँ एक ओर तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल सिद्ध होता है वहाँ गोपियों के साथ केलि-क्रीड़ाएँ तत्कालीन समाज-व्यवस्था की विरोधी प्रतीत होती है।[६] कृष्ण और गोपियों की केलि-क्रीड़ाएँ तार्किक दृष्टि से यूथ-विवाह-सम्बन्धी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत आ सकती हैं। ऋग्वेद-पूर्वकालीन समाज में यूथ-विवाह को मान्यता थी।[७] 'महाभारत' मे उत्तर कुरु-देश में यूथ-विवाह अथवा गो-

रुक्मिणी तथा बहु-पत्नीत्व, यूथ-विवाह

---

१. हरिवंश, ५१६१-६३।
२. ऋग्वेद, ८.८५.१३-१५।
३. विष्णु-पुराण, पंचांश, अध्याय २६।
४. वैदिक संस्कृति का विकास, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ० १०२।
५. वही।
६. विष्णु-पुराण, पंचांश, अ० १३।
७. वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १००।

प्रथा के प्रचलन का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि ऋग्वेद-काल से भी पूर्व निगूढ़ अतीत में यूथ विवाह की मान्यता थी। इस दृष्टि से यदि कृष्ण-गोपी केलि-क्रीड़ाओं को इस प्रथा का प्रतीक मान लिया जाय तो कृष्ण का समय ऋग्वेद से भी पहले का प्रतीत होता है। कृष्ण की प्राचीनता विषयक इस अनुमान की पुष्टि 'छान्दोग्य उपनिषद्' से भी होती है जहाँ कृष्ण को देवकी-पुत्र कहा गया है। 'देवकी-पुत्र' में देवकी का समावेश मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को सूचित करता है जो निश्चय ही वैदिक पैतृक-सत्ता से पूर्व की मानी जा सकती है तथा जिसका समर्थन मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यता से भी होता है। आदिम सेमेटिक जातियों में भी आरम्भ में मातृसत्ता की ही मान्यता थी तथा युद्ध के समय माता ही अपने जन की प्रधान हुआ करती थी।[1] इस प्रकार गोपाल-कृष्ण तथा गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का सूत्र भी सरलता से मिल जाता है तथा गोपाल-कृष्ण को डॉ० भांडारकर के अनुसार ईसा के बाद की कल्पना समझने की आवश्यकता नहीं रहती।

पाणिनि के विषय में पातञ्जलि द्वारा प्रयुक्त 'दाक्षी पुत्र' शब्द को देखते हुए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन काल में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित होने के कारण माता के बोध के लिए तथा माता और पुत्र के सम्मानार्थ मातृवाची नाम का प्रयोग होता था।[2] पर यह मत असन्दिग्ध नहीं जान पड़ता क्योंकि एक ओर जहाँ विद्वानों द्वारा निर्धारित छान्दोग्य काल तक एकपत्नीत्व की प्रथा प्रचलन में आ चुकी थी वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-देवकी के एक-मात्र पुत्र होने के कारण उपर्युक्त सुविधा की दृष्टि से नामकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यदि कृष्ण की केलि क्रीड़ाओं को प्राचीन मान लिया जाय तो वे तत्कालीन समाज के विरुद्ध प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि शिशुपाल द्वारा कृष्ण की निन्दा में केलि क्रीड़ा विषयक आक्षेपों का अभाव इस मान्यता को स्वीकार करता हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है। दूसरी सम्भावना यह है कि शिशुपाल के समय यानी महाभारत के रचना-काल तक कृष्ण की लीला-सम्बन्धी कल्पनाएँ अस्तित्व में ही नहीं थीं वे कालान्तर में विकसित हुईं। यदि रासलीला के अन्तर्गत इन क्रीड़ाओं को यूथ विवाह का प्रतीक न माना जाय तो विष्णु-पुराण से लेकर आधुनिक साहित्य तक वर्णित प्रतिपादित एवं परिवर्द्धित क्रीड़ाओं का एक ही समाधानकारक तथा साधार उत्तर उपलब्ध होता है और वह है विष्णु और कृष्ण के एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु की काम विशेषताओं का कृष्ण पर आरोपण, जो महाभारत और विष्णु पुराण में अंकित कृष्ण चरित्र की भिन्नता का निराकरण कर सकता है। सम्भवतः कृष्ण की प्राचीनता ही वह उद्गम रही है जिससे कृष्ण की लीला सम्बन्धी परवर्ती कल्पनाएँ प्रवाहित हुई थीं तथा कालान्तर में विष्णु की काम क्रीड़ाओं से सम्पन्न होकर उन्होंने उदात्त रूप धारण कर लिया।

वैदिक साहित्य में विष्णु के सम्भोग-सम्बन्धी कई उल्लेख मिलते हैं जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। विष्णु के प्राचीन चरित्र के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द 'शिपिविष्ट' है जो ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।[3] मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने इस शब्द की व्याख्या में विशेष

१ ई० आर० ई० खण्ड, ७ पृ० ४३१।
२ प्राचीन चरित्र कोष, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, 'कृष्ण'।
३ ऋ० ७ ११ ७ ८ १०० ५-६।

सतर्कता से काम लिया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका अर्थ पुरुष का परिवर्तनशील लिंग होता है जो विकसित तथा संकुचित होता है।[१] विष्णु के इस रूप की पुष्टि निरुक्त से भी होती है जहाँ उनके विषय मे 'कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति' कहा गया है।[२] इसी प्रकार वैदिक श्राद्ध-क्रिया मे विष्णु-मन्त्रोच्चार के साथ-साथ पितरों को अर्पण की जाने वाली सामग्री मे अंगुष्ठारोपण की क्रिया मे अंगूठा लिंग का प्रतीक है।[३] परवर्ती साहित्य में 'अंगुष्ठमात्रो भगवान् विष्णुः पर्यटते महीम्' कहकर अंगुष्ठ को ही विष्णु मान लिया गया है।[४] 'तैत्तिरीय संहिता' में विष्णु का भू-माता मे प्रविष्ट होना उत्पत्ति का ही प्रतीक है।[५]

प्राचीन जावा के भौम-काव्य मे विष्णु का लावण्यमयी पृथ्वी देवी पर आसक्त होने का तथा वराह-रूप मे अपने ही घुटनों पर बिठाकर उसके साथ सम्भोग करने का उल्लेख मिलता है।[६] मलाया देश मे भी वराह-रूप विष्णु के पृथ्वी चीरकर अन्दर जाने तथा वहाँ एक प्रासाद देखकर राक्षस रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ सम्भोग करने की कल्पनाएँ प्रचलित हैं।[७] 'तैत्तिरीय संहिता' मे 'तनवावृद्धानाह' शब्द भी विष्णु की केलि-क्रीडाओं को चरितार्थ करता है।[८] अथर्ववेद में वर्णित दीर्घ नितम्ब वाली सीनी वाली देवी से विष्णु का सम्बन्ध समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।[९] 'शांखायन-गृह्य-सूत्र' के 'विष्णुर्योनिकल्पयतु' मन्त्र के अनुसार विष्णु गर्भ के रक्षक हैं। अथर्ववेद में विष्णु का सम्बन्ध काम-क्रियाओं से माना गया है तथा उन्हें वीर्य का रक्षक यानी 'निषिक्तया' और 'सुमज्जानि' कहा गया है।[१०] 'विष्णुसहस्रनाम' में वृषाकपि विष्णु का नाम है। यही वृषाकपि एक विशाल वानर के रूप में पौरुषहीन इन्द्र को एक ओषधि देता है जिससे इन्द्र पुनः पुरुषत्व प्राप्त कर लेता है।[११] 'पद्मपुराण' में विष्णु का तपस्वी रूप धारण करके जालन्धर की पत्नी वृन्दा के सतीत्व-हरण की कथा है।[१२] देवी भागवत मे विष्णु द्वारा शखचूड़ का रूप धारण करके उसकी पत्नी तुलसी का पातिव्रत्य नष्ट करने का उल्लेख है।[१३] 'भविष्य-पुराण' में विष्णु ब्रह्मा और रुद्र के साथ सती-साध्वी अनुसूया के पास जाते हैं तथा रतिदान माँगने पर उसके शाप से बालक बन जाते हैं[१४]—ऐसा वर्णन है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट विदित होता है कि ऋग्वेद से लेकर पौराणिक साहित्य

१. विष्णु इन वेदाज, आर० एन० दाण्डेकर, पृ० १०८।
२. निरुक्त, ५. ८-६।
३. विष्णु इन वेदाज, दाण्डेकर, पृ० १०८।
४. हेमाद्रि, ३.१३७८।
५. तैत्तिरीय संहिता, ६. २४. २।
६. पस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज्म, जे० गोंडा, पृ० १४३।
७. वही।
८. विष्णु इन वेदाज, आर० एन० दाण्डेकर, पृ० १०८-१०६।
६. वही।
१०. वही।
११. वही।
१२. पद्मपुराण, उखं० अ० १६।
१३. देवी भागवत, सर्क- ८, अ० २४।
१४. भविष्य-पुराण, प्र० प० ख० ४, अ० १७।

तक विष्णु में काम की बहुलता अक्षुण्ण रूप से अंकित मिलती है। परवर्ती काल में कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु की इस विशेषता का कृष्ण पर आरोपण होता है, जिसका माध्यम राधा की कल्पना बन जाती है। राधा पूर्णरूपेण पौराणिक उपज है तथा लक्ष्मी की प्रतिछवि है। उसका सीधा सम्बन्ध विष्णु के आठवें अवतार से दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में राधा के उल्लेख का अभाव राधा की कल्पना का अर्वाचीन होना सिद्ध करता है। आदि-पुराण के अनुसार विष्णु की पृथ्वी पर अवतार धारण करने की इच्छा जानकर ही राधा मृत्यु-लोक में अवतरित होती है।[१] 'पद्मपुराण' में वृषभानु राजा को यज्ञ के लिए भूमि शुद्ध करते समय राधा मिलती है तथा उसका लालन-पालन वह अपनी कन्या समझकर करता है।[२] अन्य पुराणों में राधा की उत्पत्ति के विषय में और भी कई कारण बताए गए हैं, जिनमें विष्णु के विरजा नामक गोपी के साथ रासमण्डल में जाने और राधा के खोजने पर अदृश्य हो जाने तथा सुदामा और राधा के बीच शापों का आदान प्रदान आदि कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं।[३] 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' राधा की उत्पत्ति कृष्ण के वामांग से मानता है।[४] आदि तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराणों एवं देवी भागवत में राधा को लक्ष्मी का ही दूसरा रूप कहा गया है। लक्ष्मी स्वर्ग में विष्णु के साथ वास करती है और राधा कृष्ण के साथ मृत्युलोक में। अतः उसे कृष्ण की पत्नी माना गया है।[५] उपर्युक्त आधारों से कृष्ण-सम्बन्धी पूर्व विवाह की कल्पनाओं पर ही प्रकाश नहीं पड़ता, अपितु ये कल्पनाएँ कृष्ण के ऋग्वेद से भी प्राचीन होने तथा आर्येतर होने की सम्भावना की ओर इंगित करती हैं जिसकी पुष्टि ग्रीक तथा सीरियन क्रिश्चियन धर्मों की दैवी कल्पनाओं में उपलब्ध साम्य से भी होती है।

कृषि-देवता बलराम

बलराम का हलधर होना एक पहेली है जो अभी तक नहीं सुलझ सकी है। स्पष्ट ही हल कृषि का प्रतीक है तथा बलराम का उसे धारण करना बलराम का कृषि-देवता होना सूचित करता है। बलराम का दूसरा अस्त्र मूसल भी कृषि का ही प्रतीक है। कृषि-देवताओं की कल्पनाएँ यद्यपि प्राचीन भारतीय विश्वासों में नहीं मिलतीं, तथापि ऐसी अनेक कल्पनाएँ प्राचीन ग्रीक एवं ईसाई धर्मों में उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट ही हल, मूसल और मुरली का योग अथवा कृष्ण और बलराम का गठबंधन आभीर जाति की जीविकोपार्जन की क्रमशः दो अवस्थाओं के योग का प्रतीक है। इस तरह आरम्भ में गौओं पर आश्रित रहने वाली जातियाँ कृषि की ओर अग्रसर होती हुई-सी दिखाई देती हैं।

इसी प्रकार भारतीय कृष्ण और यूनानी अकिलीस में साम्य ही नहीं मिलता, वरन् द्वारका के समुद्र में समा जाने एवं प्राचीन विदेशी धार्मिक कल्पनाओं में भी साम्य दृष्टिगोचर

---

१ आदि-पुराण अध्याय ११।

२ पद्मपुराण, ब्रह्म-खण्ड, ७।

३ प्राचीन चरित्र कोष, चित्राव शास्त्री पृ० १२६।

४ ब्रह्मवैवर्त पुराण, २ १२।

५ ब्रह्म-वैवर्त, २ ११।
देवी-भागवत ३ १।
आदि पुराण, ११।

होता है। यूनानी देवता अकिलीस प्राचीन यूनानी जाति में सबसे लोकप्रिय देवता माना जाता था तथा उसकी लोकप्रियता मध्य एशिया में बसे हुए यूनानी लोगों तक मे फैली हुई थी।[1] अकिलीस के मन्दिर समुद्र-किनारे पर थे तथा उसे मार्गदर्शक के रूप मे माना जाता था। भारतीय कृष्ण की लोकप्रियता भी विशेषत: गीता पर ही आधारित है, जो मार्गदर्शन का ज्योति-स्तम्भ कही जा सकती है। कृष्ण की ही भाँति अकिलीस भी सबसे वीर योद्धा, अत्यन्त स्वरूपवान् एवं तेजस्वी देवता था।[2] इलियड के आधार पर अकिलीस का लालन-पालन उसकी माता ने उसके चचेरे भाई पेट्रोक्लस के साथ किया था तथा अकिलीस के गुरु भी दो थे।[3] कृष्ण भी बलराम के साथ बड़े हुए थे तथा उनके भी घोर अंगिरस और सांदीपनी नामक दो गुरु थे। इलियड के सिवाय अन्य प्रचलित गाथाओं मे अकिलीस के विषय मे कई लोक-कथाएँ प्रचलित है जैसी कि कृष्ण के बारे मे पाई जाती है। ल्यूक द्वीप में अकिलीस का मन्दिर प्राचीन काल में नाविकों का मार्गदर्शक माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि उस मन्दिर मे रात को अकिलीस हैलन से अभिसार करता है, अतः प्राचीन काल में उस मन्दिर मे ठहरना निषिद्ध था।[4]

कृष्ण और अकिलीस की मृत्यु में साम्य

अकिलीस एवं कृष्ण के जन्म और मृत्यु मे भी अद्भुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार अकिलीस की माँ ने अपने सात बालकों को अमरत्व प्रदान कराने हेतु अग्नि पर रख दिया, जिनमे से अकेला अकिलीस बचा तथा एड़ी को छोड़कर उसका सारा शरीर अमर बन गया। अग्नि में लटकाते समय अकिलीस की एड़ी माँ के हाथ में होने के कारण उसकी एड़ी उसका मर्मस्थल बनकर अन्त मे उसकी मृत्यु का कारण बनी।[5] इसी एड़ी में विषाक्त बाण लगकर अकिलीस का अन्त हुआ।[6] कृष्ण के भी सात भाई-बहनों का कंस के हाथ वध होता है। वे अकेले बच जाते हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनका अन्त भी एड़ी मे जरा नामक व्याध का विपाक्त बाण लगने से होता है।

द्वारका और जेरुसेलम की कथा में साम्य

द्वारका के समुद्र में समा जाने और जेरुसेलम की कथा मे भी तात्त्विक दृष्टि से साम्य दृष्टिगोचर होता है। जेरुसेलम का प्राचीन नगर कई बार विध्वंस हुआ था तथा ईसा-पूर्व पाँच सौ पन्द्रह मे इस नगर की दीवारो का निर्माण दुबारा आरम्भ हुआ।[7] यद्यपि जेरुसेलम नगर के विध्वंस का मुख्य कारण बाह्य आक्रमण थे, तथापि इन आक्रमणों से वहाँ ईसा-पूर्व ५१५ में एक सुधारवादी धार्मिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीन जेरुसेलम में मूर्ति-पूजा का खण्डन एवं एकेश्वरवाद की स्थापना[8] ही यह नई चेतना

१. ई० आर० ई०, पृ० ७३।
२. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटानिका, पृ० १२१-१२२।
३. वही।
४. ई० आर० ई०, पृ० ७३।
५. डिक्शनरी ऑफ़ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफ़ी एण्ड माइथोलॉजी, खण्ड १ (अकिलीस)।
६. डिक्शनरी, आफ़ फ़ोकलोर, पृ० ७।
७. ई० आर० ई०, खण्ड ४, पृ० ४५४।
८. ई० आर० ई०, खण्ड ४, पृ० ४५४।

थी। यद्यपि द्वारका पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ था, पर उसके समुद्र में समा जाने विषयक लोक विश्वासों एवं कृष्ण के योग मार्ग की स्थापना तथा जेरुसेलम विषयक घटनाओं में काफी साम्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि जहाँ एक ओर कृष्ण द्वारा वैदिक धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड के विरोध में एकेश्वरवाद तथा योग मार्ग को मान्यता मिली और वैयक्तिक आचरण पर जोर दिया गया, वहीं दूसरी ओर द्वारका के समुद्र में समा जाने एवं यादवों के नाश के पीछे भी वास्तविक धर्म और आचार का ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में वर्णित यादवों के संहार का कारण विश्वामित्र कण्व तथा नारद आदि ऋषियों का शाप[1] यथार्थ में ब्राह्मण तथा ऋषियों के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता-सा प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि भारतीय और विदेशी पौराणिक-कल्पनाओं में साम्य तथा समानान्तर कथाएँ अतीत के किसी निगूढ़ सत्य की सूचक हों तथा वर्तमान काल-गणना से बहुत प्राचीन हों। कल्पनासाम्य के इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि कृष्ण की कल्पना विदेशी कल्पनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुई है। इतना ही नहीं डॉ० भाण्डारकर ने तो गोपालकृष्ण की कल्पना को पूर्णरूपेण ईसाई धर्म से प्रभावित माना है।[2]

माधवाचार्य का मत ब्रह्म जीव और ईश्वर की कल्पना

कई विद्वान् ब्रह्म जीव और ईश्वर विषयक माधवाचार्य के निरूपण में भी ईसाई तथा इस्लाम धर्मों का प्रभाव देखते हैं। प्रो० हुमायूँ कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि दक्षिण भारत में आचार्यों द्वारा निरूपित एवं प्रतिष्ठापित एकेश्वरवाद में इस्लाम धर्म का विशेष रूप से हाथ रहा है क्योंकि वैदिक धर्म मूलतः बहुदेववादी धर्म था।[3]

विद्वानों का यह आक्षेप विशेष रूप से क्रमशः पाँच तत्त्वों पर आधारित है—दक्षिण भारत में ईसा की दसवीं शताब्दी के आसपास वेदान्त निरूपण तथा एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना बालरूप परमेश्वर अथवा बाल-कृष्ण की उपासना, प्रकृति के रूप में जगत् माता की प्रतिष्ठापना, माधवाचार्य का द्वैतवाद एवं भक्ति आन्दोलन तथा मद्यप्रिय बलराम और यूनानी देवता बेक्किस में साम्य। भारतीय धर्म निरूपण पर पाश्चात्य प्रभाव के परीक्षण के लिए उपर्युक्त तत्त्वों का प्राचीन भारतीय रूप देखना नितान्त आवश्यक है।

पहले कहा गया है कि ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि वास्तव में प्रकृति के कवि थे तथा प्रकृति के साहचर्य में ही उन्होंने उसकी विभिन्न शक्तियों में विविध देवताओं की कल्पना की थी जिसका मुख्य आधार सृष्टि चमत्कार की अनुभूति तथा उसकी पुनरावृत्ति ही थी। प्रकृति की शक्तियाँ अनेक होने के कारण ही ऋग्वेद में अनेक देवताओं का विधान अभिलक्षित होता है। इन देवताओं के नामों से स्पष्ट विदित होता है कि उनमें अधिकतर देवताओं का सम्बन्ध पृथ्वी अप तेज तथा वायु आदि सृष्टि-तत्त्वों से है।[4] तथापि प्रकृति के इन विभिन्न तत्त्वों के अधिष्ठाता देवताओं से भी परे एक नियमात्मक शक्ति के दर्शन होते हैं जिसका स्पष्ट निरूपण ऋग्वेद में हुआ है।[5]

---

१ विष्णु-पुराण पंचांश, अ० ३७।
२ वै० शै० डॉ० भाण्डारकर पृ० ३६-३७।
३ दि इण्डियन हेरिटेज, हुमायूँ कबीर, पृ० ८८।
४ भारतीय तत्त्वसार, मराठी विश्वकोश कलकर पृ० १।
५ ऋग्वेद, १०।८१-८२।

ऋग्वेद का देवता-विधान क्रमशः तीन अवस्थाओं से संचरण करता दृष्टिगोचर होता है—एक व्यक्ति का एक ही समय अनेक देवताओं मे विश्वास, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही देवता में विश्वास तथा एकेश्वरत्व की कल्पना की प्रतिष्ठापना और सर्वसाधारण जनता द्वारा उसका स्वीकार।[1] वैदिक एकेश्वरत्व की कल्पना तथा विदेशी एकेश्वरवाद की स्थापना में तात्विक दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर है। जर्मन विद्वान् डायसेन के अनुसार मिस्र मे एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना के लिए बड़ी कृत्रिमता से अनेक छोटे-बड़े देवताओं का भौतिक एकीकरण किया गया। इसी प्रकार फ़िलस्तीन में भी जेहोवा की प्रतिष्ठापना के लिए अन्य सभी देवताओं का बहिष्कार करके उनके उपासकों पर अनेक अत्याचार किये गए। पर भारत में वही बात वैदिक ऋषियों द्वारा अनेक में एकत्व खोजने से बिना किसी संघर्ष के सिद्ध हुई।[2] पुरुष सूक्त तथा उपनिषदों मे भी एकेश्वरत्व के रूप में परब्रह्म का विस्तारपूर्ण निरूपण मिलता है[3] तथा एकेश्वरत्व की यही स्थापना गीता का आधारमूल सिद्धान्त है। गीता[4] मे अनेक देवताओं का उल्लेख करते हुए भी एकेश्वर के रूप मे परब्रह्म-रूप वासुदेव को ही सर्वत्र स्वीकार किया है। ऐतिहासिक आधार पर भी ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक वासुदेव की उपासना इसी एकेश्वरत्व का समर्थन करती है, पांचरात्र-धर्म के नारायण, शैव-धर्म के शिव, शाक्तों की शक्ति तथा ब्राह्मणों के यज्ञ-प्रधान धर्म के विष्णु इसी एकेश्वरत्व के प्रतीक है। इस प्रकार एकेश्वरत्व की कल्पना वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान थी। अन्तर केवल इतना था कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से भारतीय उपासना-पद्धति विभिन्न मार्गों पर प्रवर्तित होकर शिथिलप्रायः होने लगी थी, जिसके फलस्वरूप वैदिक धर्म-दर्शन के ही धरातल पर बौद्ध एवं जैन जैसी निरीश्वरवादी विचार-धाराओं का आविर्भाव तथा विकास हो सका। इन्हीं निरीश्वरवादी विचारधाराओं के अत्यधिक प्रचार की प्रतिक्रियास्वरूप वैदिक धर्म-दर्शन के पुनरुत्थान की आवश्यकता प्रतीत हुई। दक्षिण भारत मे आलवारों की भक्ति तथा शंकराचार्य का अद्वैतवाद इसी आवश्यकता-पूर्ति का प्रथम क्रम अभिलक्षित होता है। इतिहास बताता है कि शंकराचार्य के काल तक भारतीय धर्म-चेतना असंख्य भागों में बँटकर विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में प्रतिफलित हो रही थी तथा इन सम्प्रदायों के आराध्य के रूप में अनेक छोटे-बड़े देवताओं की स्वतंत्र रूप से उपासना होने लगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य का ब्रह्मनिरूपण निःशेषप्राय होने लगा था। शंकराचार्य का अद्वैतवाद तथा मायावाद वेदान्त-दर्शन का ही पुनरुत्थान था। उनमें प्राचीन उपनिषदों की व्याख्या तथा बौद्ध-धर्म के कतिपय सिद्धान्तों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने ज्ञान-मार्ग को ही स्वीकार किया। उनका यह ज्ञान-मार्ग उपनिषदों पर आधारित होते हुए भी प्राचीन पांचरात्र तथा भागवत धर्मों मे निरूपित भक्ति का विरोधी था। मध्वाचार्य की ब्रह्म, जीव तथा जगत्-विषयक पंचभेद की कल्पना[5]

विदेशी प्रभाव का खण्डन

---

१. भारतीय तत्वज्ञान : नरसिंह चिन्तामण केलकर, पृ० १५।
२. भारतीय तत्वज्ञान : न० चि० केलकर, पृ० १४-१५।
३. वही, पृ० ११।
४. गीता, अ० ७, श्लोक २३।
५. भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास : देवराज, पृ० ४११।

जीव और ब्रह्म के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करती हुई प्राचीन[१] भक्ति-मार्ग को पुनः प्रतिष्ठापित करती है, जिसका उल्लेख पाणिनि द्वारा वासुदेव के विषय में किया हुआ मिलता है।[२] दक्षिण भारत में १२वीं सदी के लगभग भक्ति के इस प्रचार को कई विद्वान् विदेशी प्रभाव मानते हैं। डॉ० ग्रियर्सन इसे ईसाई धर्म की प्रेरणा मानते हैं। डॉ० ताराचन्द अपनी पुस्तक 'इन्फ्लुएन्स आफ़ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' में उसे इस्लाम का प्रभाव कहते हैं। डॉक्टर साहब की कल्पना अत्यन्त भ्रामक प्रतीत होती है, क्योंकि भक्ति का यह निरूपण अनिवार्यतः शंकरभाष्य के विरोध में हुआ था तथा लोकमत-संग्रह के लिए आवश्यक था कि वह केवल वैदिक तत्त्वों से ही सम्बद्ध होता। अतः मध्वाचार्य का ईश्वर निरूपण एवं अद्वैत ईसाई अथवा इस्लामी धर्मों से प्रभावित न होकर पूर्णरूपेण भारतीय परम्परा प्रतीत होती है।

सीरिया के ईसाई लोगों में Child God with an unknown father की क्राइस्ट कल्पना तथा ई० सन् की कृष्ण-कल्पना में अवश्य कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है।

चाइल्ड गाड विद एन अननोन फादर

पर वस्तुतः इस साम्य के आधार पर कृष्ण की कल्पना पर शिशु क्राइस्ट का प्रभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुतः यह आकस्मिक साम्य है। मथुरा की प्राचीन शिल्प-कला से बाल कृष्ण की कुछ लीलाओं का पता चला है जो भारत में ईसाई धर्म के प्रचार से बहुत पहले की है।[३] इसी प्रकार ईसा पूर्व पहली शताब्दी की मथुरा की जैन शिल्प-कला में भी कृष्ण-विषयक प्राचीन लोक-कथाएँ प्रतिध्वनित होती हैं।[४] अतः बाल-कृष्ण की कल्पना को क्राइस्ट विषयक ईसाई आख्यानों से प्रभावित मानना वस्तुस्थिति को ईसाई चश्मे से देखना मात्र है। वास्तविकता इसके ठीक विपरीत प्रतीत होती है। सीरिया निवासी लेखक जैनब मानता है कि आर्मीनिया देश में ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में केवल कृष्णोपासना ही प्रचलित नहीं थी, वरन् वान झील के किनारे मन्दिरों में कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी अस्तित्व में थीं जो बाद में ईसाइयों द्वारा तुड़वा दी गई।[५] उसका कहना है कि ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी के आरम्भ में वहाँ लगभग पाँच हजार कृष्णोपासक विद्यमान थे। जैनब और यवन राजदूत मेगस्थनीज़ के कथन से यह बात पूर्णतः सिद्ध होती है कि ईसा से लगभग चार शताब्दियों पूर्व पश्चिमी देशों की जनता कृष्ण को जानती ही नहीं थी, वरन् कृष्णोपासना से भली भाँति परिचित एवं प्रभावित भी थी। इसी दशा में कृष्ण पर क्राइस्ट का प्रभाव पड़ने की अपेक्षा क्राइस्ट पर ही कृष्ण का प्रभाव पड़ने की अधिक सम्भावना हो सकती है। प्रारम्भिक ईसाई धर्म में क्राइस्ट के मुख-मण्डल के चारों ओर चक्राकार तेजोमण्डल एवं कुमारी मेरी के अनेक बाहु होने की कल्पना[६] क्या इसी प्रभाव को सूचित नहीं करती? एम० एस० रामस्वामी अय्यर का जो मत है कि फ़िलस्तीन को भारतीयों ने बसाया था तथा ईसा तमिल

१ कम्परेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्चियानिटी—साल, पृ० ५।
२ अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट, रायचौधरी, पृ० १४०।
३ जे० आर० ए० एस० १९०८, पृ० ५३।
४ विण्टरनित्ज—ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (हाक्सरा ट्रान्सलेशन) खण्ड २, पृ०।
५ शिशिर कुमार मित्र, 'द विज़न आफ इंडिया', पृ० १७८।
६ इंडियन एण्टीक्वेरी, १८७४, पृ० ५०-५१।

देशवासी थे।[1] आधुनिक स्वीकृत धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में यह एक अत्यन्त साहसपूर्ण मत है तथा स्वतंत्र रूप से सूक्ष्म गवेषणा की अपेक्षा रखता है। यदि रामस्वामी का मत प्रामाणिक सिद्ध हो सका तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि क्राइस्ट की पाश्चात्य कल्पना कहीं कृष्ण के व्यक्तित्व पर ही तो आधारित नहीं ? वास्तव में कृष्ण की मृत्यु के विषय में पौराणिक कथाएँ रहस्यात्मक तथा प्रतीक-मात्र हैं। विष्णु-पुराण के अनुसार ऋषियों के शाप से उत्पन्न हुए लौह-मूशल के अवशिष्ट टुकड़े से बना हुआ बाण, दुर्वासा के वचनानुसार, कृष्ण के समाधिस्थ होने पर उनकी एड़ी में लगने से कृष्ण की मृत्यु होती है।[2] स्पष्ट ही ब्राह्मणों के शाप से यादवों के नाश तथा कृष्ण के देह-त्याग के विषय में मैत्रेय द्वारा पूछने पर ही उपर्युक्त कथा का आयोजन हुआ है। विष्णु-पुराण की कथा से केवल दो तत्त्वों का निरूपण होता है—एक ब्राह्मणों के सामर्थ्य तथा श्रेष्ठता का समर्थन तथा दूसरा कृष्ण का विष्णु का ही पूर्ण रूप होना, जो केवल साम्प्रदायिक धारणा प्रतीत होती है। कथा से यदि इन दोनों तत्त्वों को निकाल दिया जाय तो कृष्ण की मृत्यु पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

महाभारत के अनुसार श्रीकृष्ण ज्ञाति-अमात्य और पुत्र-रहित होकर महाभारत-युद्ध के छत्तीस वर्ष पश्चात् जंगल में विचरण करते हुए कुत्सित उपाय से स्वर्ग जाते हैं।[3] महाभारत में वर्णित यह 'कुत्सित उपाय' समस्या को रहस्यमय ही छोड़ देता है। भागवत-पुराण विष्णु-पुराण की कथा का ही अनुकरण करता प्रतीत होता है तथा कृष्ण की मृत्यु के विषय में कोई अतिरिक्त सामग्री प्रस्तुत नहीं करता।[4] तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र के महानुभाव तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का निधन 'कर्पूरकज्जलवत्' माना गया है[5] तथा उसमें जरा नामक व्याध के बाण मारने की पौराणिक कल्पना का सर्वथा अभाव है। 'जरा' का एक अर्थ वैष्णव कल्पनानुरूप किसी व्याध-विशेष का नाम न होकर 'कालावधि' का भी सूचक हो सकता है।[6] जरा नामक व्याध की पौराणिक कल्पना राम और वालि की कथा के उपसंहार के रूप में कल्पित हुई प्रतीत होती है। जो हो, इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण के निधन के बारे में सभी प्राचीन उल्लेख रहस्यमय हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि एशिया के पूर्वी देशों में रामोपासना तथा बौद्ध धर्म का प्रचार होते हुए भी इन धर्मों का प्रचार पश्चिमी देशों में न हो सका, जैसा कि ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व कृष्णोपासना का हो पाया। केवल प्रचार ही नहीं, प्राचीन यूनानी देवता अकिलीस, (Achilles) डायोनिसस (Dionysus), सेलिनस (Sillnus) तथा कृष्ण और बलराम-विषयक भारतीय कल्पनाओं में

---

१. एम० एस० रामस्वामी अय्यर, एपासल आंत वैष्णव नामम, 'लीडर' इलाहाबाद, ३-२-१९४१।

२. विष्णु-पुराण, पंचमांश, अध्याय ३७।

३. त्वमप्युपस्थिते वर्षे षड्त्रिंशे मधुसूदन।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचर॥
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥ महाभारत, स्त्री-पर्व, २५-१४।
षट्त्रिंशेऽथ ततोवर्षे वृष्णीनामनयो महान्।
अन्योन्यं मुषलैस्तेतु निजघ्नुः कालचोदिताः॥ महाभारत, मूषलपर्व, १-२।

४. डॉ० देवसहाय त्रिवेद, 'महाभारत युद्धकाल', अवन्तिका।

५. सूत्रपाठ : सं० हरिनारायण नेने, विचार ६३।

६. श्रीकृष्ण, हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स, डॉ० एन० पाल, (इंट्रोडक्शन)।

साम्य, एकेश्वरवाद की स्थापना तथा ईसा का तत्वज्ञान, पश्चिमी देशों में कृष्ण के प्रभाव का स्पष्ट द्योतक है। बहुत सम्भव है कि कृष्ण की भारतीय कल्पनाओं के समानान्तर इन पाश्चात्य कल्पनाओं का उद्गम कृष्ण ही रहे हों तथा कृष्ण का अस्तित्व आधुनिक काल-गणना से बहुत पहले रहा हो और यह साम्य किसी निगूढ़ अतीत में एक समाज अथवा राष्ट्र, पूर्व और पश्चिम के निकट सम्पर्क या एक ही देश का सूचक हो।

यूनान के डायनिसस (Dionysus) और कृष्ण में कई बातों में आश्चर्यजनक साम्य दृष्टिगोचर होता है। डायनिसस वनस्पति का (Vegetation) संगीतप्रिय, आनन्दमय तथा चमत्कारी देवता है[1] तथा उसका स्वरूप स्त्री सुलभ व्यक्त किया गया है।[2] मिस्र निवासी अपने ओसिरिस तथा रोमन लोग अपने लिबर (Liber) अथवा बैकस (Bacchus) को डायनिसस का ही रूप मानते हैं।[3] डायनिसस के बारे में कहा जाता है कि उसने कई पुरुष और स्त्रियों के साथ कई देशों में भ्रमण किया था तथा वह भारत में भी आया था। भारत में वह तीन अथवा बावन वर्ष रहा तथा भारतवासियों को पराजित करके उसने उन्हें मदिरा बनाना तथा फल उगाने के साथ-साथ देवताओं की उपासना भी सिखाई। यहाँ पर उसने कई नगर भी बसाए तथा भारतवासियों को कई नियम सिखाए। भारतवासी उसे देवता मानकर पूजते थे।[4]

डायनिसस और सलिनस का कृष्ण और बलराम की भाँति अटूट गठबंधन दिखाया गया है। यूनानी देवता सेलिनस (Silenus) और बलराम-विषयक प्राचीन कल्पनाएँ बहुत कुछ समानान्तर प्रतीत होती हैं। सलिनस डायनिसस का केवल सहचर ही नहीं है वरन् उसीके समान देवता है तथा कई दानवों का बलराम की तरह वध भी करता है। यह मद्यप्रिय है और संगीत का प्रेमी होते हुए वंशी का आविष्कार करता है तथा वंशी बजा-बजाकर प्रायः नृत्य करता रहता है। उसकी इस नृत्यप्रियता के ही कारण एक नृत्य विशेष का नाम सेल्लिनस (Sillnus) पड़ा था। सेलिनस की मद्यप्रियता को सूचित करने वाला एलिस (Elis) में उसका एक मन्दिर भी है जिसमें मदिरा-देवी उसे मदिरा का प्याला देती हुई चित्रित की गई है।[5] 'विष्णु पुराण' में भी बलराम के विषय में ऐसी ही कल्पना दृष्टिगोचर होती है। बलराम की ही भाँति परवर्ती काल में सलिनस के भी मन्दिर नहीं मिलते।

बलराम और सेलिनस

अब हम देखते हैं कि डायनिसस और सलिनस तथा कृष्ण और बलराम विषयक लोक विश्वासों में कई ऐसी आश्चर्यजनक समानान्तर कल्पनाएँ हैं जो एक सामान्य उद्गम को ही सूचित नहीं करतीं, वरन् उनका क्राइस्ट से बहुत प्राचीन होना भी सिद्ध करती हैं।

कई पाश्चात्य पंडितों ने तो नारायणीय में वर्णित श्वेत-द्वीप को भी विदेशी देश मानकर एकेश्वरवाद के आधार पर उसे ईसाई धर्म का ऋणी मानने का साहस किया है।[6]

---

१ आक्सफोर्ड कम्पेनियन टू क्लासिकल लिटरेचर, पृ० १४७।

२ वही।

३ वही।

४ डिक्शनरी आफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथोलोजी, वो० स्मिथ, खण्ड १, पृ० १०४७।

५ डिक्शनरी आफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथोलोजी, खण्ड ३, पृ० ८२२।

६ जे० आर० ए० एस०, १९०७ पृ० ४८२।
कम्पेरेटिव स्टडीज इन विष्णुइज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी—सील पृ० ३०, ५१।

वास्तव में इस भ्रामक मत के प्रवर्त्तकों के पास कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है। देखा जाय तो वैदिक दर्शन की तुलना में जहाँ ईसाई धर्म में किसी भी आकर्षक तत्त्वज्ञान के दर्शन नहीं होते वहाँ दूसरी ओर उस धर्म में प्रतिपादित कृपालु ईश्वर की कल्पना तथा भक्ति की स्थापना वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक भारतीय धार्मिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप से दृष्टि-गोचर होती है, जिसका स्पष्ट निरूपण ईसा से बहुत पहले प्रचलित वासुदेव-सम्प्रदाय में हो चुका था। इसी प्रकार 'चाइल्ड गाड विद एन अन्नोन फ़ादर' की कल्पनाएँ भी सर्वप्रथम केवल क्राइस्ट से ही सम्बन्धित नहीं थीं, वरन् उनका अस्तित्व क्राइस्ट से भी पहले संसार की विभिन्न जातियों में विद्यमान था। प्राचीन सेमेटिक जातियों में महापुरुषों की देवताओं से उत्पत्ति-विषयक कल्पनाएँ इसी बात की पुष्टि करती हैं। भारतीय कथाओं में पंच-पांडवों की देवताओं से तथा राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की देवता-प्रसाद से उत्पत्ति कुछ ऐसी ही प्राचीन समानान्तर कल्पनाएँ हैं जो तात्त्विक दृष्टि से अज्ञात या दैवी पिता वाली सन्तान-सम्बन्धी कल्पनाओं को सूचित करती हैं।

महामाता की पूजा

बाल-कृष्ण पर क्राइस्ट के प्रभाव-विषयक दूसरा आक्षेप है जन्म-महोत्सव के अवसर पर बाल-कृष्ण के साथ माता देवकी की पूजा। वेबर[1] का कहना है कि माता देवकी का स्तन-पान करते हुए बाल-कृष्ण की कल्पना ईसाई धर्म की 'मेडोना एण्ड दि चाइल्ड' की कल्पना से प्रभावित है। वेबर का अनुमान पक्षपातरहित नहीं है, क्योंकि एक ओर जहाँ केन्डी[2] स्पष्ट रूप से कहता है कि ईसा की दसवीं शताब्दी तक ईसाई धर्म मे स्तन-पान कराने वाली माता की कल्पना ही नहीं थी तथा उसे प्राचीन हिन्दू धर्म में देखता है, वहाँ दूसरी ओर पायपर[3] कहता है कि कुमारी मेरी की पूजा का प्रचार ईसा की चौथी शताब्दी तक नहीं हो पाया था। सत्य तो यह है कि ऐसी कल्पनाएँ हिन्दू धर्म के लिए नवीन नहीं थी, अपितु वे प्राचीन भारतीय साहित्य मे बहुलता से मिलती है। उदाहरणार्थ रामायण मे, जिसे विद्वान् ईसा-पूर्व की रचना मानते हैं, बालक राम को कौशल्या की गोद में लेटा हुआ चित्रित किया गया है।[4] ग्रियर्सन का कहना है कि स्तन-पान कराने वाली माता की पूजा बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हारिति की पूजा पर आधारित है जिसे 'बौद्ध मेडोना' भी कहा जाता है।[5]

अतः बाल-कृष्ण-सहित माता देवकी की पूजा की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर छान्दोग्य उपनिषद् के 'देवकी-पुत्र' शब्द मे निहित अर्थ-परम्परा का ही अनुशीलन करती प्रतीत होती है।

परमेश्वर के बाल-रूप की उपासना की ही भांति (Mother Goddess) की उपासना भी ईसाई धर्म की देन न होकर अत्यन्त प्राचीन कल्पना सिद्ध होती है। महामाता की उपासना का प्रचलन संसार की लगभग सभी प्राचीन जातियों में था तथा मुख्यतः उसका सम्बन्ध सृष्टि की उत्पत्ति तथा संहार से अभिलक्षित होता है। वैबिलोनिया मे मदर गोडेस की

---

१. इंडियन एण्टिक्वेरी १८७४, पृ० २१।
२. जे० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ४८४।
३. इम्पृ० पाटे०, पृ० ४७।
४. मैक्डोनेल-संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०७-१०।
५. राय चौधरी, अर्ली हिस्टरी ऑफ़ वैष्णव सैक्ट, पृ० १४७-४८।

उपासना इश्तर (Ishtar) की कल्पना में दृष्टिगोचर होती है तथा उसका सम्बन्ध जल, वनस्पति पशु, यौन, विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा संहार आदि से ही रहा है।[१] साथ ही वह पुरुषों की स्वामिनी संहारक, पानगात्री, प्रलय एवं युद्ध की देवता मानी जाती थी। अरब से, जहाँ का जीवन जल है, वह जलाशय की देवता के रूप में पूजनीय थी।[२] इश्तर की कल्पना सुमेरियन अथवा सेमेटिक बेबिलोनिया के लोगों की न होकर आर्य-सेमेटिक जाति की कल्पना थी[३] तथा इश्तर प्रकृति की रचनात्मक तथा संहारात्मक शक्ति का मूर्त रूप मानी जाती थी। प्राक्-सेमेटिक जातियों में युद्ध के समय माता अपने पुत्रों की मुखिया एवं अगुआ होने के कारण ही कदाचित् इश्तर युद्ध देवता मानी जाने लगी।[४] प्राचीन फिलिस्तीन में भी मदर गाडेस की उपासना का प्रचलन था।[५] इसी प्रकार कनान, मेसोपोटामिया, साउथ अरब तथा एबिसीनिया में भी आरम्भ में इश्तर की उपासना को मान्यता मिली हुई थी।[६]

इश्तर और दुर्गा में इतना साम्य दृष्टिगोचर होता है कि उसे केवल संयोग नहीं कहा जा सकता।[७] सीरियन देवी कादेश (Kadesh) सिंह की पीठ पर खड़ी दिखाई गई है।[८] वाणीकान्त काकती का अनुमान है कि जिस समय आर्य मेसोपोटामिया में थे, उस समय महामाता की उपासना उन्होंने बेबिलोनिया से ली थी,[९] क्योंकि बेबिलोनिया के चन्द्र-देवता का नाम सिन' (Sinn) और कूर्म-पुराण में[१०] दुर्गा के सहस्रनामों में 'सिनीवली' नाम परस्पर सम्बन्धित दृष्टिगोचर होते हैं।[११] यही चन्द्र-देवता जापान में यद्दो (Yeddo) कहा जाता है तथा उसकी योनि के रूप में पूजा होती है।[१२]

भारत में महामाता की उपासना आर्यों के भारत में आकर बसने से भी पहले विद्यमान थी। मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से पता चला है कि आर्य-पूर्व भारत की बाह्य जातियों की उपासना-पद्धति में शिव अम्मा तथा मुरुगण की उपासना का प्रचलन था।[१३] प्रागैतिहासिक त्रिदेवता की यही प्राचीन कल्पना ऐतिहासिक शिव, सुब्रह्मण्य या कार्तिकेय और पार्वती में रूपान्तरित होती है।[१४] इन त्रिदेवों की ओर ऋग्वेद[१५] में स्पष्ट संकेत मिलता है जहाँ इन्द्र पुमान् स्त्री तथा मरुदेव कहा गया है। यहाँ स्त्री को तन्त्र अथवा माया में पारंगत कहा

१ दि मदर गाडेस कामाख्या बेनीकान्त काकती, पृ० ३६।
२ ई० आर० ई०, खण्ड ७, पृ० ४२१, ४३२।
३ वही, पृ० ४२८।
४ वही, पृ० ४३१।
५ व्हाइ मेन दाउ स्टोन्स, बरोज, पृ० २११।
६ ई० आर० ई० खण्ड ७, पृ० ४२८।
७ वेंकटरामैया रुद्र शिव, १९४१, पृ० ६१-६३।
८ व्हाइ मेन दाउ स्टोन्स बरोज, पृ० २०५।
९ दि मदर गाडेस कामाख्या वाणीकान्त काकती पृ० ३६।
१० कूर्म पुराण, ११२।
११ वही।
१२ वही।
१३ मोहेनजोदड़ो एण्ड दि इन्डस सिविलाइजेशन जॉन मार्शल खण्ड १, अध्याय ४।
१४ दि रिलिजन्स ऑफ इण्डिया ए० पी० करमरकर, खण्ड १ प० ३६।
१५ ऋग्वेद ७,१०४,२४।

गया है। प्राचीन 'आम्मा' का यही तन्त्र अथवा माया आर्य-देव विधान में परब्रह्म की माया-शक्ति अथवा 'पुरुष और प्रकृति' में 'प्रकृति-तत्त्व' का रूप धारण करती है। प्रागैतिहासिक काल में भी अम्मा उत्पत्ति की देवता तथा शिव की पत्नी मानी जाती थी तथा उसकी पूजा योनि-पूजा के रूप में प्रचलित थी। योगिनी-तन्त्र में योनि को उत्पत्ति का ही प्रतीक माना गया है।[1] इतना ही नहीं, योगिनी-तन्त्र मे काली स्पष्ट रूप से ब्रह्मा से योनि का स्मरण करके सृष्टि-निर्माण करने के लिए कहती है।[2] गोहाटी से तीन मील दूर कामाख्या देवी का मन्दिर तथा उसमें मूर्ति के स्थान पर पत्थर मे उत्कीर्ण योनि महामाता अथवा काली की उत्पत्ति-शक्ति का ही प्रतीक है।[3] इस प्रकार की उपासना केवल प्राचीन भारत में ही नहीं, वरन् जापान तथा चीन में भी विद्यमान थी। महाभारत मे वर्णित देवताओं की माता अदिति की कल्पना इसी प्राचीन मान्यता पर आधारित है।[4]

महामाता की कल्पना को 'मेडोना' की कल्पना से प्रभावित मानना केवल प्रमाद ही नहीं है वरन् ऐतिहासिक सत्य को जान-बूझकर अस्वीकार करना है। वस्तुतः शिव की पत्नी-रूपा आम्मा की प्राचीन कल्पना ही वैदिक श्री और पौराणिक लक्ष्मी की कल्पना मे विकसित हुई है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन वासुदेव-सम्प्रदाय की विशेषताएँ पौराणिक काल में विष्णु और कृष्ण के एकीकरण से सम्पन्न होकर कृष्ण-विषयक वर्तमान कल्पनाओं में उद्‌भूत हुईं तथा वे किसी भी प्रकार ईसाई धर्म से प्रभावित नहीं हैं।

बुद्धावतार

विष्णु के दशावतारों में गौतम बुद्ध के समावेश का बीज बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव एवं उसके विकास में ही अभिलक्षित होता है। स्पष्ट ही इस नई विचारधारा का प्रादुर्भाव ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत हिंस्र, बलिदान तथा चातुर्वर्ण्य के चरम विकास की प्रतिक्रिया के रूप मे भागवत तथा जैन धर्मो की भाँति हुआ।[5] अतएव बौद्ध-तत्त्ववाद प्राचीन भागवत-धर्म के अधिक निकट होते हुए भी सांख्य की अपेक्षा प्राचीन वेदान्त से सम्बन्धित प्रतीत होता है।[6] वस्तुतः बौद्ध-दर्शन निरात्मवादी होते हुए भी उपनिषदों की वैचारिक प्रणाली पर आश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषदों का तत्त्ववाद एवं तर्क-साक्षात्कार की अनुभूति एवं निष्ठा पर आधारित होने के कारण पूर्णरूपेण ईश्वरवादी था, पर बौद्ध-दर्शन वैचारिक अथवा आत्मा में अनास्था होने के कारण निरीश्वरवादी। मैकनिकल (Macnical) तथा सीनार्ट (Senart) तो बौद्ध धर्म का उद्‌गम प्राचीन कृष्ण-उपासना के वातावरण में ही मानते हैं।[7]

बुद्ध का निरात्मवाद मूलतः वैयक्तिक होने के कारण साधारण जनता की उपासना-क्षुधा को शान्त करने में असमर्थ था, तथापि वैदिक कर्मकाण्ड और चातुर्वर्ण्य की विषमताओं

१. दि मदर गोडेस कामाख्या, वाणीकान्त काकती, पृ० ३७।
२. योगिनी-तन्त्र, प्रथम भाग, अध्याय १५।
३. दि मदर गोडेस कामाख्या, पृ० ३५।
४. महाभारतांक (संक्षिप्त), गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० ७१।
५. राय चौधरी, पृ० ६; इण्डियन एंटिक्वरी, मार्च, पृ० ३२६।
६. वही।
७. इंडियन थीइज्म, पृ० ६५।

से भक्ति जनता में उसके प्रति आदर भाव का अभाव कभी भी नहीं था। अतः बुद्ध निर्वाण के बाद बुद्ध के अनुयायी सद्धर्म की लोकग्राह्यता के लिए बौद्ध धर्म में ऐसे तत्त्वों का समावेश करने लगे जो केवल जनसाधारण की उपासना के लिए ही सुलभ न थे, वरन् साथ ही जिन्हें जनता में मान्यता भी मिली हुई थी। इन तत्त्वों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व था भक्तिवाद।[1] वैदिक धर्म के अन्तर्गत ध्यान-मार्ग, श्रद्धा एवं उपास्य के प्रति अनन्य भाव में भक्ति का निरूपण बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से बहुत पहले हो चुका था तथा वह साधना की दृष्टि से लोकप्रिय भी होने लगा था। वासुदेव-सम्प्रदाय ने इसी भक्ति को साधना का एकमात्र मार्ग मानकर चातुर्वर्ण्य की सीमाओं का उल्लंघन करके जनसाधारण के लिए उपासना का सरल उपाय अनन्य भक्ति घोषित करके भक्ति मार्ग को और भी सुदृढ़ बना दिया। बौद्ध नैरात्म्यवाद के प्रादुर्भाव के पहले यह साधना प्रणाली अत्यन्त लोकप्रिय बन चुकी थी। अतः यह आवश्यक था कि वह किसी न किसी रूप में बौद्ध धर्म की नैरात्म्यवादी चेतना को प्रभावित करती।

परमतत्त्व के बारे में स्वयं गौतम बुद्ध का मौन[2] जिज्ञासु साधक की बौद्धिक क्षुधा शान्त कर सकने में असमर्थ था। यद्यपि परमतत्त्व की विवेचना के विषय में बुद्ध का मौन इन्द्रियों की भाँति मानसिक व्यभिचार को रोकने मात्र के लिए ही प्रतीत होता है, तथापि अन्तिम तत्त्व विषयक लोक-जिज्ञासा का समाधान न करने के कारण ही बौद्ध धर्म में परम तत्त्व के विषय में भक्ति, श्रद्धा अथवा ध्यान जैसी अनुभूतिपरक मानसिक अवस्थाओं के लिए अनायास ही स्थान बना रहा।

गौतम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते ही महायान सम्प्रदाय की स्थापना में इन्हें स्वीकार किया गया तथा बौद्ध तत्त्ववाद जनसाधारण सुलभ न होने के कारण ही बुद्ध के अनुयायियों ने निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा वैदिक भक्ति के सरल मार्ग का अनुसरण करके बुद्ध को परमेश्वर मानकर सम्भवतः उन्हें स्वयम्भू या अनाद्यनन्त पुरुषोत्तम का रूप प्रदान किया।[3] इस सम्भावना का समर्थन बौद्ध ग्रन्थों से होता है जिनमें बुद्ध को जगत्-पिता और जीवों को बालक माना गया है तथा बुद्ध के समदृष्टि-सद्धर्म का ह्रास होते ही बुद्ध के पुनराविर्भाव में आस्था प्रकट की गई है। यही नहीं बुद्ध की भक्ति, बौद्ध ग्रन्थों की पूजा, स्तूपों के सम्मुख कीर्तन तथा कमल अर्पण करने से मनुष्य के सद्गति प्राप्त करने का भी प्रतिपादन किया गया है।[3] मिलिन्द ग्रन्थ में तो गीता[4] की तरह अन्तिम समय में बुद्ध की शरण जाने से जीव को स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी बताया गया है। इस प्रकार बुद्ध का नैरात्म्यवादी तत्त्ववाद, जो अपने मूल रूप में निवृत्ति मार्ग, दुःखवाद तथा जीव दयावाद आदि वैदिक धर्म की विभिन्न प्राचीन धर्म चेतनाओं व स्थापनाओं को आत्मसात् किये हुए था, कालान्तर में स्वयं बुद्ध को परमेश्वर के रूप में समासीन करके तथा अवतार-तत्त्व को मान्यता देकर वैदिक धर्म तत्त्वों के सामान्य धरातल पर उतर आया। बौद्ध धर्म में वैदिक तत्त्वों का यही समावेश तथा परवर्ती-काल में उस धर्म का ह्रास और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान बुद्ध का विष्णु के दशावतार की कोटि में आने से सम्भव हुआ। वैष्णव धर्म-क्षेत्र में बुद्ध का महत्त्व जीव-दयावाद के प्रतिपादन तथा

१ भारतीय तत्त्वज्ञान न० चि० केलकर, पृ० ३८७।
२ भारतीय तत्त्वज्ञान न० चिं० केलकर, पृ० ३८८।
३ वही।
४ गीता ८।५।

विभिन्न प्राचीन उपासना-प्रणालियों के समन्वय में ही दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन धर्म-सम्प्रदायों में निरूपित इन दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में वैदिक आत्मवाद के समावेश के कारण ही गौतम-बुद्ध को निरीश्वरवादी धर्म के प्रवर्त्तक होते हुए भी वैष्णव-धर्म में स्थान मिल सका। बुद्ध और विष्णु के इस एकीकरण मे दूसरा सहायक तत्त्व बौद्ध धर्म के अन्तर्गत संघों की स्थापना है। गौतम बुद्ध ने प्रचलित वर्णाश्रम तथा जाति-भेद का तो खण्डन किया, पर साथ ही केवल निवृत्ति-मार्ग को ही निर्वाण का सच्चा मार्ग मानकर अनजाने ही वैदिक वर्णाश्रम के समानान्तर संघ-संस्था को जन्म दिया। बौद्धों के संघ यद्यपि नीति, मानवता तथा आचरण पर आधारित अपने विशिष्ट ध्येय को लेकर ही अस्तित्व में आए, तथापि वैचारिक स्वतन्त्रता के गतिरोध तथा सद्धर्म के विषय मे कट्टरता के कारण वे वास्तविक निर्वाण से परावृत्त होकर केवल संघ मात्र रह गए। इस तरह वर्णाश्रम का खण्डन करते हुए भी बौद्ध धर्म ने जनता को एक ऐसा समाज प्रदान किया जो वर्णाश्रम का ही एक दूसरा रूप था।[1]

जीव-दयावाद

पौराणिक काल में विष्णु के दशावतारों में बुद्ध का समावेश प्राचीन भारतीय विभिन्न धर्म-चेतनाओं का समन्वय सूचित करता है तथा इस प्रकार वैदिक धर्म में जीव-दयावाद अथवा अहिंसा के महत्व की प्रतिष्ठापना करके वैष्णव धर्म को और भी व्यापक तथा लोकग्राही स्वरूप प्रदान करता है। यही कारण है कि भागवत-पुराण मे गौतम-बुद्ध को देवताओं के शत्रुओं के नाश के लिए अवतार माना गया है, गीता में प्रतिपादित धर्म की संस्थापना के लिए नही।[2] यह पौराणिक मान्यता गौतम बुद्ध को धर्म-संस्थापक के रूप में महत्त्व न देकर उपरोक्त अहिंसा तथा मानवता के कारण ही देवत्व की कोटि में रखती है।

कल्कि-अवतार

विष्णु के दशावतारों में से अन्तिम अवतार भविष्य से सम्बन्धित है। पुराणों में इसे कल्कि-अवतार कहा गया है। महाभारत कल्कि को विष्णु का दसवाँ अवतार तथा उसका जन्म 'विष्णुयशा' नामक ब्राह्मण के घर मानता है।[3] पौराणिक उल्लेखों के अनुसार कलियुग के अन्त में 'सम्भल ग्राम' में विष्णु कल्कि के रूप में अवतरित होकर म्लेच्छों तथा शूद्र राजाओं का विनाश करके धर्म की संस्थापना करेंगे तथा इसी अवतार के साथ-साथ कृत-युग का पुनः उदय होगा।[4] वायु और मत्स्य-पुराणों के अनुसार प्रमाति भार्गव ही विष्णु के अवतार का कार्य करेंगे।[5] महाभारत, वायु तथा भागवत-पुराणों का कहना है कि कल्कि अवतार म्लेच्छों को पराजित करके सार्वभौम चक्रवर्ती तथा धर्म-विजयी राजा होगा तथा उसीके समय से कृत-युग का आरम्भ होगा।[6]

विष्णु के इस भावी अवतार को पुराणों मे 'कल्कि' कहा गया है तथा इस अवतार के

---

१. इन्डियन इन्टिक्वेरी, पृ० ३२६।
२. अर्ली हिस्टरी ऑफ विष्णुइज्म, रायचौधरी, पृ० ७७।
३. महाराष्ट्र ज्ञानकोष, भाग १०, पृ० १४५।
४. हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र—पी० वी० काणे, खण्ड ३, पृ० ६२३।
५. वायु-पुराण, ५८.७५-६०, मत्स्य-पुराण, १४४.५०-६४।
६. वायु-पुराण, ६८.१०४-११०, ६६.२६६-६७; भागवत-पुराण, अ० १२, २.१६-२३; महाभारत, वन-पर्व, १६०.१२-६७।

हो चुकने तथा भविष्य में होने विषयक दोनों का उल्लेख मिलता है। महामहोपाध्याय काणे के मतानुसार जहाँ तक कल्कि-अवतार के हो चुकने के उल्लेखों का सम्बन्ध है, वे सम्भवतः भारतीय साहित्य में कल्प-कल्पान्तर की पुनरावृत्ति का ही सूचित करते हैं तथा इस प्रकार भावी अवतार विषयक अन्य पौराणिक उल्लेखों के विरोधी नहीं हैं।[१] उनका अनुमान है कि कल्कि का विष्णुयशा-सम्बन्धी पौराणिक उल्लेख भी ऐतिहासिक घटना पर कल्पित है। इस अनुमान की पुष्टि में मिहिरगुल नामक बर्बर हूणाधिपति की यशोधर्मन अथवा विष्णुवर्धन के हाथों ऐतिहासिक पराजय को उद्धृत करते हुए म० म० काणे ने 'विष्णुयशा' को इन दोनों नामों की संयुक्ति माना है।[२] महामहोपाध्याय काणे का अनुमान युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि कलि-काल आरम्भ होने के कुछ ही शताब्दियों पश्चात् मिहिरगुल जैसे बर्बर म्लेच्छाधिपति का भारत पर आक्रमण, लाखों की संख्या में नर-नारियों का वध तथा यशोधर्मन या विष्णुवर्धन के हाथों उसके दमन में यदि पुराणकार विष्णुयशा में यहाँ कल्कि-अवतार होने की कल्पना कर लें तो वह सर्वथा अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। इस सम्भावना को मान लेने पर विष्णुयशा के रूप में अवतार हो चुकने को सूचित करने वाले उल्लेखों का भी एक हद तक समाधान हो जाता है।

कल्कि-अवतार का बीज भी अन्य अवतारों की भाँति गीता में ही द्रष्टव्य होता है। कलियुग से ग्रसित जन-जीवन, वैदिक धर्म की ग्लानि, निरीश्वरवादी नई-नई विचारधाराओं के उद्गम और दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए अनाचार को देखकर ही पुराणकारों ने जनसाधारण को निराशा रूपी विनाश के गह्वर से बचाने के लिए भगवद् वाक्य[३] को प्रमाण रखकर भावी अवतार की कल्पना की होगी। इस सम्भावना का समर्थन अवतार के नामकरण से भी होता है। 'कल्कि' शब्द स्पष्ट ही कल्क पाप कल्मष तथा कलियुग के गुण-धर्म विशेष अनाचार का प्रतीक होकर कलियुग में अधर्म के चरम विकास को सूचित करता है। अतः भावी अवतार को 'कल्कि' नाम प्रदान करने में कलियुग के कल्मष के चरम विकास का बोध कराना ही अभिप्रेत है।

श्रेडर ने 'कल्कि' शब्द का बड़े ही विचित्र ढंग से अर्थ किया है। उसका कहना है कि 'कल्कि' का अर्थ है पाप और 'कर्क' होता है सफेद घोड़ा। अतः 'कल्कि' 'कर्की' का ही अन्य रूप है, जिसका अर्थ 'सफेद घोड़े वाला सवार' होता है।[४] इस प्रकार श्रेडर खींच-तान कर कल्कि-अवतार विषयक पौराणिक कल्पना का बीज ईसाइयों की बुक ऑफ रेवेलेशन[५] में निरूपित कल्पना में देखता है तथा इस प्रकार अनायास ही समस्या-समाधान को एक विपरीत दिशा में मोड़ देता है। श्रेडर का अर्थ निरूपण कोरी कल्पना है, क्योंकि एक तो सफेद घोड़े पर आरूढ़ देवता की कल्पना पूर्णरूपेण ईसाई अथवा हिन्दू दृष्टि से म्लेच्छ-धर्म की मान्यता होने के कारण धर्मनिष्ठ पुराणकारों को मान्य नहीं हो सकती थी और दूसरे उनकी दृष्टि में कलियुग धर्म की ग्लानि का युग होने के कारण ही भावी अवतार की कल्पना की

१ हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पा० वे० काणे, पृ० ९२ २५।
२ वही।
३ गीता, ४।७।
४ मर्कविश, भा० १ श्रेडर, पृ० १८० ७।
५ बुक आफ रेवेलेशन, अध्याय १६।

आवश्यकता प्रतीत हुई, जो पूर्ण रूप से तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतीत होती है। अमृत-मंथन में समुद्र से प्राप्त 'उच्चैश्रवा' अश्व भी श्वेत था।

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत कल्कि अवतार की भाँति बौद्ध धर्म में भी तत्सम परिस्थितियों मे भविष्यत बुद्ध-अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। बौद्ध विश्वासों के अनुसार प्रत्येक कल्प के आरम्भ में जल-निमग्न पृथ्वी पर केवल उतने ही कमल फूलते हैं जितने बुद्ध अवतरित होने वाले हो।[१] वर्तमान कल्प के आरम्भ मे, जिसे भद्रकल्प कहा गया है, परवर्ती-काल में एक सहस्र कमलों का प्रकट होना माना गया है[२] तथा इस कल्प मे चार बुद्धो का हो चुकना स्वीकार करके गौतम के पाँचवें बुद्ध के रूप मे मैत्रेय बुद्ध के अवतरित होने का निर्देश है।[३] हिन्दू धर्म की भाँति बौद्ध धर्म मे भी सद्धर्म की ग्लानि होते ही उसकी संस्थापना के लिए बुद्ध अवतार ग्रहण करते है[४] तथा वर्तमान युग मे इसी कार्य-पूर्ति के लिए भविष्यत मैत्रेय नामक बुद्ध-अवतार की कल्पना है। ललितविस्तर के अनुसार गौतम के बुद्ध बनने के लिए आते समय यही मैत्रेय तुषित-स्वर्ग मे बुद्ध के सिंहासन पर आसीन हुए थे।[५]महायान सूत्रों के अनुसार बौद्ध निदेशना के समय मैत्रेय बोधिसत्त्व के रूप मे वहाँ उपस्थित थे।[६]

मैत्रेय बुद्ध : भविष्यत बुद्धावतार

हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों की भाँति भावी अवतार की कल्पना प्राचीन ईरानियों के अवेस्ता धर्म में भी उपलब्ध होती है। अवेस्ता धर्म के अनुसार जरथुस्त्र ने मरते समय अपने तीन बीज संसार मे छोड़े थे जो कासू झील मे सुरक्षित हैं तथा आगामी तीन सहस्राब्दियों में से प्रत्येक सहस्राब्दि में उनमें से एक-एक बीज झील में नहाने वाली कुमारियों के गर्भ में प्रवेश करके महापुरुषों के जन्म का कारण बनेगा जो दुर्दिन में अपने-आपको प्रकट करके कुकाल का नाश करेगे। इन तीन महापुरुषों में से अंतिम महापुरुष किरीसास्प (Keresaspa) के हाथों अजही दहक (Azhi Dahaka) की मृत्यु होते ही प्रकट होगा तथा सबको पराजित करके संसार से समस्त पाप मिटा डालेगा।[७] एक अन्य विश्वास के अनुसार जोरास्टर (Zoroaster) से तीन हजार वर्ष बाद उसीके बीज से एक नये साओशियान्ट (Saoshyant) का जन्म होगा तथा उसके उत्पन्न होते ही मृत पुनः जीवित होंगे और निष्कलंक-सृष्टि का आरम्भ होगा।[८]

जरथुस्त्र धर्म में भावी अवतार

वस्तुतः भावी अवतार की कल्पना केवल हिन्दू धर्म मे ही न होकर संसार के लगभग सभी धर्मो मे किसी-न-किसी अंश या रूप में विद्यमान है तथा उसका मुख्य आधार है अधः-पतन से पुनरुत्थान मे मनुष्य का चिरन्तन विश्वास।

---

१. ई० आर० ई०, खण्ड १, पृ० १९०।
२. वही, पृ० २०१।
३. वही।
४. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटानिका, पृ० ६६६।
५. वही।
६. वही।
७. डिक्शनरी ऑफ़ फोकलोर, पृ० ११९६।
८. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ९८१।

(इ) कालियमर्दन—नाग-संस्कृति के दमन का प्रतीक

कृष्ण की बाल-लीलाओं के अन्तर्गत कालियमर्दन कथा का भी समावेश हुआ है। इस कथा का विशद वर्णन विष्णु पुराण और भागवत में मिलता है। भागवत में कथा इस प्रकार है—'कालिय काद्रवेय-कुलोत्पन्न एक नाग था। पहले वह रमणक द्वीप में रहा करता था। गरुड उस द्वीप में जाकर नागों को बार-बार खाया करता था। इसलिए सब नागों ने मिलकर तय किया कि वे गरुड को नियमित रूप से भक्ष सामग्री देते रहेंगे। उन्होंने अपना निर्णय गरुड को कह सुनाया तथा गरुड ने उसे स्वीकार कर लिया और नाग सुखी हुए। एक बार गरुड का भक्ष्य उसे न देकर कालिय स्वयं खा गया। परिणामस्वरूप गरुड ने उससे युद्ध किया और कालिय भागकर यमुना में जा छिपा। उसे यमुना में छिपा हुआ देखकर गरुड लौट गया, क्योंकि सौभरि ऋषि के शाप के कारण वह स्थान गरुड के लिए वर्ज्य था और यह रहस्य कालिय जानता था, इसीलिए वहाँ जाकर वह निर्भयता से छिपा था। उसका विष इतना भयानक था कि पक्षी भी वहाँ की जलवायु के स्पर्श से मर जाया करते थे। कालिय के कारण यमुना का जल विषमय हो गया था। कृष्ण के साथी गोपाल एक बार भूल से वहाँ जा पहुँचे तथा वहाँ का जल पीकर मर गए। इस बात का पता चलते ही कृष्ण तत्काल वहाँ जा पहुँचे और एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर पानी में कूद पड़े। तत्पश्चात् कालिय के पास पहुँचकर उन्होंने अपनी अद्भुत शक्ति से उसे पकड़ लिया और उसका इतना मर्दन किया कि उसकी जान निकलने-सी लगी। कालिय को मरणासन्न देखकर उसकी पत्नियों ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसे प्राणदान दे दें। कृष्ण ने उसे प्राणदान दे दिया और यमुना का जल शुद्ध करके बाल-गोपालों को जिलाकर उन्होंने कालिय को फिर से रमणक द्वीप की ओर भगा दिया।[1]

भागवत की इस कथा से स्पष्ट होता है कि कृष्ण भक्त कवियों ने कालिय को परम्परानुसार एक विषैला साँप समझकर कृष्ण द्वारा उसके मर्दन की कथा कही है पर वस्तुतः कालिय कोई साँप न होकर नाग-संस्कृति का नेता है और कृष्ण द्वारा उसका मर्दन तथा समुद्र में जाने के लिए उसे विवश करना नाग-संस्कृति पर यादवों की विजय का प्रतीक है। हमने पहले कहा है कि पुराणों के रचना-काल में कई ऐतिहासिक घटनाएँ पौराणिक कथाओं से घुल मिल गई हैं। हमारी इस धारणा का समर्थन इस बात से भी होता है कि द्वापर युग में नाग जाति विद्यमान थी। नागों के कई उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, वैशाली के शासक करंधम पौत्र मरुत्त से नागों का युद्ध हुआ था। दूसरी बार उन्होंने तक्षशिला जीतकर अपने वैभव की वृद्धि की थी। हस्तिनापुर में आक्रमण करके परीक्षित द्वितीय को मार डाला था। शिशुनाग मगध के शासक थे। वे मुरूप और बहुरूप थे तथा कल्मष-कुंडल पहनते थे। उनके राजा वासुकी और शेष प्रसिद्ध थे।[2] नागों ने उत्तर-पश्चिम भारत से मगध तक आर्यों से युद्ध किया था। उन्होंने पुरुकुत्स से प्रार्थना की थी कि वह उन्हें मौनेय गन्धर्वों से बचाये जिन्होंने उन्हें उत्तर-पश्चिम भारत में दबा लिया था।[3] नाग

१ भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय १६।

२ असुर इण्डिया, पृ० ६४।

[3] वही।

भोगवती से सिन्धु, सिन्धु से मध्य प्रदेश और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर गये थे। कुन्ती के पिता शूरसेन का नाना, सुमुख नामक नाग का पितामह तथा चिकुर नामक नाग का पिता था।[1] इन्द्र के सारथी मातलि ने अपनी पुत्री गुणकेशी के लिए सुमुख नाग को चुना था। महाभारत में नारद ने सुमुख का परिचय यह कहकर दिया है कि वह ऐरावत नाग के कुल में उत्पन्न हुआ है। उसका नाम सुमुख है, पिता का नाम चिकुर और पितामह का आर्यक तथा नाना का नाम वामन है। कुछ दिन पहले विनता के पुत्र गरुड़ ने चिकुर को मार डाला था।[2] समस्त नाग जल के वासी थे।[3] नागलोक का केन्द्र पाताल था। वहाँ जल बहुत था।[4] अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन की माता नागकन्या ही थी। नागवंश का उल्लेख करते हुए राय चौधरी लिखते हैं कि गणपति नाग नागसेन और नन्दी नाग-राजपुत्र थे। गणपति तो स्पष्ट ही नागराज थे। मथुरा में पाई हुई मुद्राओं से भी इसका समर्थन होता है।[5] वे आगे कहते हैं कि गरुड़ गुप्त राजाओं का राज-चिह्न था, जिन्होंने नागों का दमन किया था। गुप्त वंश के राजाओं के आराध्य-देव कृष्ण थे और पुराणों में कृष्ण द्वारा कालिय नाग का मस्तक कुचलने की कथा है।[6] ध्यान देने की बात है कि पुराणों में ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में यमुना के मैदान में और मध्य प्रदेश में नागों के राज्य का उल्लेख है। विष्णु-पुराण से पता लगता है कि पद्मावती और मथुरा में नाग-वंश का राज्य था।[7] कदाचित् विदिशा में भी नागों के ही किसी वंश का राज्य था।[8] वैदिक साहित्य में कालिय का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि नागों के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य के ये उल्लेख नाग जाति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि कृष्ण ने यमुना में रहने वाले किसी सर्प को न नाथकर यमुना के मैदान के अधिपति कालिय नामक किसी नाग सामन्त को पराभूत करके वहाँ से भगा दिया था। कालान्तर में यह ऐतिहासिक घटना सूत्र रूप से कालिय-मर्दन लीला में परिवर्तित हो गई, जिसका वर्णन हिन्दी और मराठी कवियों ने लीला के रूप में किया है।

(ई) वैष्णव धर्म और दर्शन

सम्प्रदाय

महाभारत से पूर्व वैदिक साहित्य में 'सम्प्रदाय' का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में भी केवल पांच सम्प्रदायों की चर्चा की गई है—सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत। पांचरात्र मत वैष्णव-भक्ति मत का प्रतिपादक था और पाशुपत शैव-भक्ति का,[9] तथापि ये 'सम्प्रदाय' की

---

१. इंडिका, पृ० २८५, १७०३, १७०७।
२. महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १०३।
३. एपिक माइथोलौजी, पृ० २६।
४. वही।
५. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शेंट इण्डिया, डॉ० राय चौधरी, पृ० ५३५-३६।
६. वही पृ० ५३६।
७. वही, पृ. ५३५।
८. कलि एज, परगिटेरी, पृ० ४६।
९. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० ५६१।

सम्प्रदाय अथवा 'मत' के ही रूप में विद्यमान थे।

पौराणिक युग से पूर्व मूल वैदिक धर्म नारायणीय भागवत, पांचरात्र आदि विभिन्न रूपों में विभाजित हो चुका था। इन विभाजनों में अन्तिम तत्त्व विषयक एकता होते हुए भी उपासना पद्धति और तत्त्व विवेचन में किंचित् भेद होने के कारण शैव मत जैसे अनार्य और बौद्ध, जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के विरोध के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्म सुसम्बद्ध रूप धारण करता। यह सम्भवतः वह काल था जब वैदिक धर्म दो प्रमुख वर्गों में बँट चुका था। एक था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड, जिसके उपास्य देवता 'यज्ञात्मक विष्णु' थे तथा जिसके अन्तर्गत यज्ञ में हिंसा को प्रश्रय मिला हुआ था और दूसरा था वासुदेव द्वारा प्रतिपादित हुआ प्राचीन अध्यात्म अथवा क्षत्रिय उपासना मार्ग, जो भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध था तथा जिसमें हिंसा वर्ज्य समझी जाती थी। आर्येतर धर्मों के प्रचार की प्रतिक्रिया-स्वरूप आवश्यक था कि ये दोनों मुख्य वैदिक विचारधाराएँ एकसूत्र होकर व्यापक रूप धारण करतीं। यह प्रयत्न महाभारत के नारायणीय उपाख्यान की कल्पना में स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। महाभारत के शान्ति-पर्व के नारायणीय उपाख्यान में इस धर्म को, जो भागवत धर्म का ही पर्यायवाची माना जाने लगा था, वैष्णव धर्म कहा गया है तथा प्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रवृत्ति मार्ग के विपरीत इसे निवृत्ति-मार्ग कहकर इन दोनों प्रमुख विचारधाराओं का गठबन्धन सम्पन्न किया गया है। इस अभेद को प्रतिपादित करने के लिए ही वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु से अभिन्न माना गया[1] तथा विष्णु परमेश्वर पद पर अधिष्ठित हुए। इस समन्वय के फलस्वरूप पारस्परिक आदान प्रदान में अनायास ही एक सभी तत्कालीन लोक-विश्वासों का समावेश हुआ जो किसी-न-किसी रूप में वैदिक धरातल पर अवलम्बित थे। पहले कहा गया है कि लौकिक विश्वासों के इस समावेश में ही विष्णु के दशावतार के बीज अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार पौराणिक युग में आकर प्राचीन वैदिक धर्म ने सुसम्बद्ध होकर एक नया रूप धारण किया, जिसके अधिष्ठाता विष्णु माने जाने लगे। विष्णु के एकमात्र आराध्य तथा सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता निर्धारित होते ही विष्णु-पदगामी आचार धर्म ने सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया और वह वैष्णव धर्म अथवा सम्प्रदाय कहलाने लगा। आगे चलकर इसी मूल सम्प्रदाय अथवा धर्म से उनकी अनेक शाखा-उपशाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

सम्प्रदाय के रूप में वैष्णव धर्म के प्रादुर्भाव के समय भारत में शिव शक्ति-उपासना व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। यह धर्म भारत की प्राचीन द्रविड़ जातियों का धर्म था[2] और

शैव-मत का वैष्णवों द्वारा विरोध

द्रविड़ जन थे आर्यों के शत्रु। अतः स्वाभाविक था कि आर्य उनके धर्म को अनार्य अथवा हीन समझकर उसका प्रतिकार करते।[3] वैदिक धर्म आरम्भ से ही यज्ञ प्रधान धर्म था। उसकी आस्था इन्द्र, अग्नि, सूर्य, उषा आदि अनेक देवताओं पर थी तथा उसमें चातुर्वर्ण्य एवं दान को विशेष महत्त्व मिला हुआ था। इसके विपरीत द्राविड़ों के शैव-शक्ति-धर्म में शिव, आम्मा और मुरुगण नामक त्रिदेवों की स्थापना थी और शक्ति से युक्त केवल शिव

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५३०।

२ रिलिजन्स ऑफ इंडिया, डॉ० ए० पी० करमरकर, पृ० ३६।

३ इंडियन फिलासफी, डॉ० राधाकृष्णन, पहला भाग, पृ० ७२१।

को ही परमेश्वर माना जाता था, जिसकी उपासना में कई जुगुप्सा-विधियों का प्रचलन था।[1] त्रिदेव की ऐसी ही कल्पना सुमेर की प्राचीन मान्यताओं मे मिलती है तथा शिव-शक्ति की प्राचीनता को सिद्ध करती है।[2] प्राचीन शैव-धर्म के अन्तर्गत लिंगोपासना का अत्यधिक प्रचलन वह मुख्य कारण था जिसे आर्य आरम्भ में स्वीकार नही कर सके। महाभारत मे स्पष्ट उल्लेख है कि शिवलिंग के रूप मे शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। इसीलिए शिव को अद्वितीय और अन्य वैदिक देवताओं से अलग माना गया था।[3] यद्यपि जननेन्द्रियों का प्राचीन सभ्य संसार में काफ़ी प्रचार था,[4] फिर भी आर्यो के लिए यह उपासना अग्राह्य थी। ऐसी दशा में विरोध स्वाभाविक था तथा वह सर्वप्रथम ऋग्वेद में अभिलक्षित होता है।[5] तथापि लिंगोपासना संसार में अधिक व्यापक और प्राचीन होने के कारण आर्य उसका सर्वथा दमन करने में असमर्थ रहे। इतना ही नही, आर्य-देवमाला में स्वयं रुद्र भी उर्वरता के ही देवता थे तथा उनके कर्मकाण्ड मे उर्वरता-सम्बन्धी अपनी विधियाँ थी। अतः लिंगोपासना का विरोध करते हुए भी आर्य उससे अछूते न रह सके तथा किंचित् परिवर्तित रूप मे ही क्यों न हो, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। यह स्वीकृति सर्वप्रथम वैदिक 'रुद्र' और प्राचीन 'शिव' के एकीकरण में दृष्टिगोचर होती है। वैदिक देवता रुद्र वस्तुतः झंझावात के प्रतीक थे। मैकडोनल ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी विद्युत् के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक माना है।[6] भाण्डारकर भी रुद्र को प्रकृति की विध्वंसक शक्ति का ही प्रतीक मानते हैं[7] और यही मत कीथ का भी रहा है।[8] इस प्रकार रुद्र अन्य आर्य-देवताओं की भाँति एक प्राकृतिक तत्त्व के प्रतीक होने के कारण पूर्ण रूप से आर्य-देवता माने गए है तथा वे प्रकृति की भयावह शक्ति के रूप में ही ऋग्वेद के तीनों पूर्ण सूत्रों मे प्रस्तुत किये गए है।[9] तथापि रुद्र की कल्पना मे प्राचीन शिव की छाप स्पष्ट झलकती है तथा आर्य-देवमाला में रुद्र का समावेश आर्यों के प्राचीन शिव की कल्पना के समानान्तर प्रतीत होती है। यही कारण है कि झंझावात के आर्य-देवता पर्जन्य, मृत्यु के देवता यम और वज्रधारी इन्द्र के होते हुए भी आर्यो को रुद्र की कल्पना करनी पड़ी। अतः इस कल्पना मे प्राचीन शैव-धर्म का प्रभाव एवं विरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है और यही कारण है कि कालान्तर मे रुद्र और शिव का पूर्णरूप से अभेद स्थापित हो गया। ब्राह्मण-युग से आज तक शिव और विष्णु को लेकर मतभेद की परम्परा भी इसी तात्त्विक भेद पर आधारित है। निगूढ़ अतीत में प्रचलित इस भेद के कारण ही उसका निराकरण भारतीय साहित्य मे एक क्रम से अभिलक्षित होता है। इस निराकरण की पराकष्ठा पौराणिक युग में हुई है तथापि शैव मत में आर्येतर उपासना-

१. रिलीजन्स ऑफ् इंडिया, डॉ० ए० पी० करमरकर, पृ० ३६।
२. वही, पृ० ३६।
३. शैव मत, डॉ० यदुवंशी, पृ० २५।
४. हिन्दुत्व, रामदास गौड, पृ० ६८८-८९।
५. ऋ० ७, १०४.२४।
६. वैदिक माइथोलौजी, मेकडोनल, पृ० ७८।
७. वैष्णविज्म शैविज्म, भांडारकर, पृ० १०२।
८. रिलीजन एण्ड माइथोलौजी ऑफ ऋग्वेद, कीथ, पृ० १४७।
९. ऋग्वेद, १,११४; २,३३; ७,४६।

पद्धति की परम्परा प्रमाणित करती है कि शैव धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व थे जो इस प्रयत्न के समक्ष भी निजी अस्तित्व बनाए रहे तथा आर्य उन्हें स्वीकार नहीं कर सके। वैष्णव और शैव के पारस्परिक विरोध का यही रहस्य है। पुराणों में शैव-मत का व्यापक रूप में वर्णन है, पर सम्प्रदाय के रूप में उसका वर्णन नहीं मिलता। 'शिव पुराण' और 'स्कन्द-पुराण' में भी शैव-सम्प्रदायों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही बात 'लिंग-पुराण' में भी अभिलक्षित होती है। उसमें लिंग धारण और पूजा की महत्ता होने हुए भी सम्प्रदायों का वर्णन नहीं है। अनुमानत पुराणों के रचना-काल तक शैव-सम्प्रदायों की स्थापना नहीं हो पाई थी तथा शिवोपासक केवल लिंग ही धारण किया करते थे।[1] महाभारत में माहेश्वरों के चार मत बतलाये गए हैं—शैव पाशुपत कालामुख और कापालिक। इनमें से कुछ वैदिक हैं और कुछ अवैदिक। इनमें से कालामुख और कापालिक वाममार्गी हैं तथा उनकी साधना में कई बीभत्स तत्त्व समाविष्ट हैं। पांचरात्र का विकास हो जाने के पश्चात् तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर नवीं शताब्दी में कश्मीर शैव मत का आविर्भाव हुआ तथा शिव रूप की प्रधानता मिलकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सामंजस्य स्थापित हुआ। कश्मीर शैव मत अद्वैतवादी ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि अद्वैतवाद के ब्रह्म में कर्तृत्व का सर्वथा अभाव है, पर कश्मीर शैव मत के परमेश्वर में कर्तृत्व माना गया है। इसी प्रकार अद्वैतवाद कोरा ज्ञान मार्ग है जबकि कश्मीर शैव मत में ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। कश्मीर शैव मत विवर्तवाद और परिणामवाद को नहीं मानता अपितु स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद को मानता है।[2] अत कश्मीर शैव मत पाशुपत, शैव सिद्धान्त और वीर-शैव-मत की अपेक्षा वैष्णव धर्म के अधिक निकट है तथा शिव और विष्णु के एकीकरण की एक निश्चित अवस्था को प्रमाणित करता है।

अत हम देखते हैं कि प्राचीन अनार्य शिव और वैदिक विष्णु का समन्वय क्रमश तीन अवस्थाओं में सम्पन्न हुआ है—आर्यों की रुद्र विषयक कल्पना तथा उसमें लिंगोपासना का समावेश, रुद्र और शिव का एकीकरण तथा शिव में कल्याणकारी गुणों की स्थापना, और पौराणिक काल में समान धरातल पर ब्रह्मा विष्णु और महेश को लेकर त्रिमूर्ति की कल्पना। इस प्रकार अनार्य और आर्यों के देवताओं को लेकर जो विरोध ऋग्वेद से भी पहले से चल रहा था, पौराणिक काल में आकर एक सौम्य रूप धारण कर लेता है तथा यही सौम्यता सहिष्णु रूप धारण करके हरिहर की कल्पना में प्रतिफलित होती है।

हरिहर मूर्ति विष्णु और शिव के एकत्व का प्रतीक है। इस कल्पना का आविर्भाव भी पौराणिक युग में हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा वेदों में 'हरिहर' का कहीं भी उल्लेख नहीं है, तथापि उसका आभास महाभारत और पुराणों में होता है जहाँ ब्रह्मा विष्णु, सूर्य आदि आर्य-देवताओं के नामों का प्रयोग शिव के लिए हुआ है,[3] तथा शिव को विष्णु रूप माना गया है।[4] पुराणों

हरिहर मूर्ति

१ हिन्दुत्व रामदास गौड़, पृ० ६६०।
२ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ७७४।
३ रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, डॉ० करमरकर, पृ० ६८।
४ महाभारत, शांति पर्व, अ० ३५०।

में वर्णित हरिहर-विषयक सभी कथाएँ विष्णु और शिव के एकीकरण की द्योतक है तथा इस कल्पना का मुख्य स्रोत हैं।

हरिहर का सर्वप्रथम उल्लेख 'हरिवंश' में मिलता है।[1] 'स्कन्द-पुराण' में कहा गया है कि रुद्र और गौरी का विवाह होते ही हरि और हर में युद्ध छिड़ जाता है। ब्रह्मा बीच-बचाव करते हैं तथा दोनों को एकरूप होकर 'हरिहर' के रूप में विख्यात होने के लिए कहते हैं। इसीलिए रैवतक पर्वत पर दोनों की स्थापना हुई है।[2] 'लिंग-पुराण' के विष्णु के स्त्री रूप धारण करके एकरूप हो जाने की कथा है।[3] 'नारदीय-पुराण' में विष्णु के स्थान पर कृष्ण और शिव 'हरिहर' का रूप धारण करते हैं। यहाँ शिव के पाँच और कृष्ण के केवल चार मुख बताए गए हैं।[4] आगे चलकर कहा गया है कि 'हरिहर पुत्र' नामक पुत्र की उत्पत्ति शिव और विष्णु से हुई है। तमिल के अयनार या अय्यप्पन देवता की उत्पत्ति भी इसी प्रकार शिव और विष्णु से मानी जाती है।[5] कथा है कि अमृतमंथन के समय विष्णु के मोहिनी रूप धारण करते ही शिव कामासक्त होकर उनके पीछे भागने लगे तथा मोहिनी और शिव से जो पुत्र हुआ वही अयनार या अय्यप्पन कहलाया। इसी कथा से शिवजी के ज्योतिर्लिंग का भी उद्भव माना गया है। कहा जाता है कि विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर जब शिव उस पर आसक्त हुए, तब मोहिनी दूर-दूर भागने लगी और कामासक्त होकर उसका पीछा करने वाले शिव का रेत जहाँ-जहाँ स्खलित हुआ वहीं ज्योतिर्लिंग का निर्माण हुआ।[6] अवश्य ही यह कथा विष्णु से समन्वय हो जाने के बाद शिवोपासना के व्यापक प्रचार की ओर इंगित करती है।

पहले कहा गया है कि शिव और विष्णु का ऐक्य व्यावहारिक क्षेत्र में पौराणिक काल में सम्पन्न हुआ है तथा वह स्पष्ट रूप से दो संस्कृतियों के दार्शनिक मिलन का प्रतीक है। उपर्युक्त कथाओं में यही ऐतिहासिक सत्य ध्वनित होता है। ध्यान देने की बात यह है कि हरिहर की कल्पना जितनी दक्षिण-भारत में प्रचलित हुई उतनी उत्तरी-भारत में नहीं। सत्य तो यह है कि प्रारम्भिक काल में उसका आविर्भाव दक्षिण ही में हुआ। कारण यह है कि विष्णु और शिव के इस ऐक्य के समय दक्षिण-भारत में द्रविड़ और आर्य दो विभिन्न सभ्यताएँ विद्यमान थीं तथा उनके निरन्तर सम्पर्क से ही समन्वय के तौर पर हरिहर की कल्पना उद्भूत हुई। हरिहर की उत्पत्ति-विषयक पौराणिक कल्पनाएँ वस्तुतः दैवोत्पत्ति की ओर निर्देश करती हैं तथा इस प्रकार क्राइस्ट की उत्पत्ति-विषयक कल्पना के समानान्तर है। अवश्य ही वे तत्कालीन आचार-विचारों की विषमताओं में सामंजस्य स्थापित करके एक नवीन विचारधारा को प्रवाहित करती है। वस्तुतः 'हरिहर' का प्रादुर्भाव शैव और वैष्णव मत के सामंजस्य से होने के कारण ही पुराणों ने मोहिनी और शिव के समागम की कल्पना करके इस सत्य को लौकिक स्थूल रूप का प्रदान कर दिया। वैष्णवों और शैवों की

---

१. हरिवंश-पुराण २-१२६।
२. स्कंद-पुराण, ७-२-१२६।
३. लिंग-पुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ९६।
४. नारदीय महापुराण, अध्याय ८३।
५. तमिल इंसाइक्लोपीडिया, कालाधिन कलंजयम, दूसरा खण्ड, पृ० ६३२।
६. शिवलिंगोपासना, डॉ० स० कृ० फड्के, पृ० ६५।

धार्मिक कट्टरता का विरोध मराठी संतों की वाणी में प्रमुखता से दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानेश्वर के कृष्ण, शंकर की स्तुति को आत्म-स्तुति कहते हैं।[1] एकनाथ ने भी शिव को राम का परम भक्त दिखाया है,[2] तथा इसी भावना को आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी पुनीत वाणी में व्यक्त किया है।

त्रिमूर्ति

विष्णु और शिव का यह ऐक्य अथवा हरिहर की पौराणिक कल्पना आगे चलकर त्रिमूर्ति की कल्पना में प्रतिफलित हुई जिससे ई० सन् की सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में 'दत्तात्रेय सम्प्रदाय' का उदय हुआ।

त्रिमूर्ति की कल्पना की पार्श्वभूमि ऋग्वेद में देखी जा सकती है जहाँ अग्नि का आकाश में सूर्य, बादलों में विद्युत् तथा पृथ्वी पर अग्नि आदि तीन रूपों में उल्लेख है।[3] 'मैत्रेयणी संहिता' में अग्नि, वायु और सूर्य को एक ही प्रजापति के पुत्र कहा गया है। 'मैत्रेयणी उपनिषद्'[4] ने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को परमेश्वर का ही अन्य रूप कहा है तथा वहीं उन्हें रजस, तमस और सात्विक गुणों का प्रतीक भी माना गया है।[5] ऐसी कई कल्पनाएँ उपनिषदों में उपलब्ध हैं। त्रिमूर्ति की ऐसी ही कल्पना आर्यों से पहले यहाँ की प्राचीन आर्य या द्राविड जातियों में विद्यमान थी।[6] देवता त्रयी त्रिदेव अथवा त्रिमूर्ति की कल्पना अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी पौराणिक युग में ही यह एक निश्चित स्वरूप धारण करती हुई दिखाई देती है और यह रूप धारण दत्तात्रेय में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के समन्वय से सम्पन्न होता है। इस समन्वयवादी दृष्टि के कारण ही दत्तात्रेय के तीन मुख और छः हाथ दिखाए जाते हैं, यद्यपि नेपाल आदि देशों में दत्तात्रेय एकमुखी ही हैं[7] तथा महाराष्ट्र में भी एकमुखी और त्रिमुखी—दोनों प्रकार की मूर्तियों की उपासना का विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलन है। त्रिमुखी दत्तात्रेय की कल्पना मुख्यतः भविष्य-पुराण में उद्धृत कथा पर आधारित है।[8] तथा इसी की पुष्टि 'गुरु चरित्र' से भी होती है।[9] पर अन्य पुराणों में यह कथा न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अंशों से अत्रि ऋषि के यहाँ ब्रह्म रूप सोम, विष्णु रूप दत्तात्रेय तथा रुद्ररूप दुर्वासा आदि तीन बालकों की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[10]

शाण्डिल्योपनिषद् में दत्तात्रेय शब्द की सुन्दर व्याख्या हुई है।[11] 'विष्णु-पुराण' दत्तात्रेय को विष्णु का अवतार मानता है[12] और 'वायु-पुराण' सोम तथा दुर्वासा को दत्तात्रय के

---

१ ज्ञानेश्वरी १३ मु० ३१६ ७१।
२ एकनाथ गाथा, भावटे पृ० ६६-६७।
३ ई० आर० ई०, १२वाँ खंड, पृ० ४५७।
४ मैत्रेयणी संहिता, ४।१२।२।
५ मैत्रेयणी उपनिषद् ४।५,६।
६ रिलिजन्स ऑफ इंडिया, डॉ० करंदकर, पृ० ३५।
७ सुलभ विश्वकोष, प्रसाद प्रकाशन, तीसरा भाग, पृ० ११४४।
८ भविष्य-पुराण, प्र० प० खण्ड, ४ अ० १७।
९ गुरु चरित्र, ४।३७।
१० प्राचीन चरित्र कोष, पृ० २२६।
११ शांडिल्योपनिषद्, अध्याय ३।
१२ विष्णु-पुराण, ४।११।३।

बन्धु।[1] 'भागवत-पुराण' में उन्हें विष्णु का एकमुखी अंश माना गया है।[2] महाभारत में दत्तात्रेय की जन्म-कथा का सर्वथा अभाव है। अतः हम देखते है कि दत्तात्रेय के त्रिमूर्ति-रूप के विषय में पुराण सहमत नही हैं। पर उनके गुणों के बारे में सभी एकमत हैं। लगभग सभी पुराणों मे उन्हे क्षमाशील तथा ब्रह्मज्ञानी कहा गया है तथा अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए दिखाया गया है।[3] इसी प्रकार उन्हें संन्यास-मार्ग का प्रचारक माना गया है।[4] 'मार्कण्डेय-पुराण' में दत्तात्रेय द्वारा मास-भक्षण, मदिरा-पान तथा स्त्रियों के साथ विलास आदि का भी उल्लेख है जो निश्चित रूप से वैष्णव-धर्म की कल्पनाओं का अविरोधी नहीं है।[5] पुराणकर्ताओ के इस मत-मतान्तर से स्पष्ट विदित होता है कि दत्तात्रेय मे विष्णु का आरोपण तथा त्रिदेवों का समन्वय काफ़ी परवर्ती कल्पना है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को लेकर बढ़ते हुए वैषम्य को निःशेष करके हिन्दू धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए ही त्रिमूर्ति की कल्पना की गई।

त्रिमूर्ति अथवा दत्तात्रेय में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समन्वय से ई० सन् की *चौदहवीं शताब्दी से महाराष्ट्र में दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का आविर्भाव* हुआ, जिसके *मुख्य प्रवर्त्तक* नृसिंह सरस्वती थे, जो दत्तात्रेय का अवतार भी माने जाते हैं।[6] इस सम्प्रदाय का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु-चरित्र' है, जिसमें आचार-धर्म-विषयक उपदेश के साथ-साथ रुद्राध्याय महिमा, भस्म, रुद्राक्ष तथा काशी की महत्ता का भी विशद वर्णन है। दत्त-सम्प्रदाय की विशेषता है शिव और विष्णु की उपासना की एकरूपता।[7] इसी प्रकार इस सम्प्रदाय में जगदम्बा, गणेश आदि का समावेश करके उन्हे भी परमेश्वर का रूप माना गया है तथा उसका आत्म-ज्ञान से भी कहीं विरोध नही है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि शैव और वैष्णव मतो के पारस्परिक विरोध के निराकरण के हेतु तथा इन दोनो का समन्वय करके हिन्दू धर्म को व्यापक प प्रदान करने के लिए ही दत्त-सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस समन्वयवादी दृष्टि-कोण के कारण दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का प्रचार जितना महाराष्ट्र मे हुआ है, उतना न तो उत्तर-भारत में और न दक्षिण भारत मे। कारण यह है कि महाराष्ट्र दो विभिन्न सभ्यताओं की सीमा पर होने के कारण उनके आचार-विचारों एवं धार्मिक मान्यताओं से बराबर प्रभावित होता रहा तथा दत्तात्रेय सम्प्रदाय के रूप में ये दो विरोधी धर्म-धाराएँ एकप्राण होकर वैदिक धर्म को व्यापक और सहिष्णु रूप प्रदान करने में सफल हुईं।

भक्ति की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है भजना; और योग है दो तत्त्वों

---

१. वायु-पुराण, २।६।७५-७७।
२. भागवत, ४।१।१४।
३. प्राचीन चरित्र कोष, पृ० २२६।
४. सुलभ विश्व कोष, प्रसाद प्रकाशन, तीसरा भाग, पृ० ११४४।
५. वही।
६. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पांगारकर, दूसरा खंड, पृ० ११३।
७. ब्राह्ममुहूर्ती उठोनी, श्री गुरु स्मरण करोनी।
मग ध्यावा मूर्ती तीन्ही, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर ॥११५—'गुरुचरित्र'
अर्थात्, ब्रह्म मुहूर्त में उठ कर गुरु का स्मरण करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश का ध्यान करना चाहिए।

का तादात्म्य अथवा जीव और ब्रह्म की सामयिक तद्रूपता। अत भक्तियोग का अर्थ है जीव की परमेश्वर के साथ एकता की वह मानसिक अवस्था जो निरन्तर भजन से प्राप्त होती है। शाण्डिल्य-सूत्र मे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' को भक्ति का लक्षण माना गया है।[1] पर रक्ति या प्रेम 'अनु' अथवा आराध्य के रूप-गुणों के ज्ञान के बाद का मनोभाव है।[2] अत भक्ति-साधना में परमेश्वर के रूप की कल्पना तथा उससे निष्काम प्रेम का समावेश अनिवार्य है। भावना की दृष्टि से भक्ति की मीमांसा नारद सूत्र मे हुई है। यहाँ परमेश्वर के विषय म परम प्रेम को ही भक्ति कहा गया है[3] तथा भक्ति को कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ बताया है।[4] कहा गया है कि भक्ति के क्षेत्र में जाति, विद्या क्रिया इत्यादि द्वारा निर्मित भेद लोप हो जाते हैं।[5] शाण्डिल्य ने भक्ति को ही सर्वस्व माना है। उनका सिद्धान्त है कि जीवों को भासमान होने वाला प्रपंच अविद्याजन्य है तथा वह अभक्तिमूलक है। अनन्य भक्ति से ही जीव-ब्रह्मैक्य की अनुभूति होती है। भक्ति के क्षेत्र म ऊँच-नीच, छोटे-बडे सबको समान अधिकार है।[6] भागवत ने भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है।[7] अत वैष्णव सम्प्रदायों ने साधना पक्ष में इसी उपासना मार्ग को प्रश्रय दिया।

दशन भक्ति-योग

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैष्णव धर्म म भक्ति का समावेश ईसाई धर्म के कारण हुआ,[8] पर यह मत नितांत भ्रामक है। सूत्र-साहित्य में वर्णित 'अनुराग' में भक्ति का ही पूर्व रूप दृष्टिगोचर होता है।[9] इसके भी पहले ऋग्वेद के वरुण सूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं म भक्ति का पूर्वाभास स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि ऋग्वेद म 'भक्ति' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि उसमें गीता म उल्लिखित चतुर्विध[10] भक्तों के लक्षण मिलते हैं।[11] इतना ही नहीं, वरुण की प्रार्थना मे दास्य भाव, प्रेम तथा दया की याचना का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।[12] भक्ति भाव से गद्गद वसिष्ठ कहते हैं, 'मैं स्वगत ही बोल रहा हूँ। वरुण के अन्तरतम म (हृदय म) कब अधिष्ठित हूँगा? मेरा हवन क्या वह प्रसन्नचित्त स ग्रहण करेगा? क्या वह उसे रुचिकर होगा? कब मुख पर उसकी कृपा होगी?'[13] ब्राह्मण काल म कर्मकाण्ड की प्रबलता के कारण वैदिक भक्ति-मार्ग कुण्ठित-सा हो गया था। उपनिषद् युग में भी निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के लिए सूर्य आकाश उषा आदि सगुण प्रतीकों की

१ शाण्डिल्य सूत्र, सू० २।
२ ई० आर० ई०, दूसरा खंड, पृ० ५३६।
३ नारद भक्ति सूत्र, १,२ ३।
४ नारद भक्ति सूत्र, २५।
५ शाँडिल्य सूत्र, ३ २-६, १ २ ४, २-२-१।
६ वही।
७ भागवत, १ २ ६, ६ ३ २२।
८ ई० आर० ई०, दूसरा खंड, पृ० ५३६।
९ भक्ति सूत्र, २।३।४।१६, १०।२८।
१० गीता ७ ३।
११ नवभारत अप्रैल १९५१, डॉ० वि० म० भाटे का ऋग्वेदकालीन भक्तिपन्थ नामक लेख।
१२ ऋग्वेद ५।५०।१३ ७।८६।७, ८।४३।६।
१३ ऋग्वेद, ७।८६।२।

उपासना की गई, पर यह उपासना ज्ञानपरक होती हुई भी भक्ति के रूप में ही विकसित हुई थी।[1] महाभारत की भक्ति प्रवृत्तिमयी भक्ति थी।[2] वैदिक साहित्य की ही भाँति प्राचीन व्रात्य-धर्म में भी शिवोपासना के रूप में भक्ति का अस्तित्व था।

भक्ति-योग का सर्वप्रथम उल्लेख गीता में हुआ है,[3] तथा उपासना-पद्धति के रूप में उसका प्रचलन वासुदेव सम्प्रदाय मे विद्यमान था। अतः भक्ति-मार्ग में वासुदेव-भक्ति का प्रथम स्थान सिद्ध होता है। इस प्रकार भक्ति किसी पाश्चात्य धर्म का प्रभाव न होकर वह भारत की प्राचीन परम्परा है। इतना अवश्य है कि ऋग्वेद में उसका आज-जैसा निरूपण नहीं मिलता। कारण यह है कि ऋग्वेद में प्रसंगानुसार विभिन्न देवताओ की स्तुति हुई है। उस काल की धार्मिक व्यवस्था मे सम्प्रदाय की कल्पना दृष्टिगोचर नही होती और भक्ति की कल्पना एवं उसके विशद निरूपण के लिए सम्प्रदाय तथा उसके एकमात्र देवता की स्थापना अनिवार्य है। यही कारण है कि बुद्धोत्तर-काल मे सम्प्रदाय के रूप मे भिन्न-भिन्न देवताओं और विभूतियो की उपासना प्रारम्भ हो जाने के कारण भक्ति का स्वरूप विस्तृत होने लगा।[4] भक्ति अनिवार्यतः नामरूपात्मक उपासना-पद्धति होने के कारण ही विभिन्न देवताओं में सगुण ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ। भागवत-धर्म मे इन दोनो तत्त्वों का संयुक्त विकास अभिलक्षित होता है।

भगवान् के सगुण रूप की कल्पना करते ही उस सगुण आराध्य के विषय मे उपासक के हृदय में परम प्रेम के उद्रेक एवं स्थिति के लिए आवश्यक है कि आराधक अथवा जीव परमेश्वर के सम्मुख सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दे। मन की इसी अवस्था को शास्त्रकारों ने प्रपत्ति कहा है। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण प्रेम का अनिवार्य अंग है। भगवान् के प्रति भक्त की पूज्य भावना में श्रद्धा, प्रेम, प्रीति इत्यादि चित्त-वृत्तियों का संयोग होता है। पर प्रेम को छोड़कर इन सभी चित्त-वृत्तियों का प्राथमिक स्थान है, क्योंकि प्रेम इन वृत्तियों के परिणाम के रूप में ही उत्पन्न होता है। प्रेम का स्थायी भाव है रति। वैष्णव शास्त्रकारों ने इसके पाँच भेद करके पाँच ही रस माने हैं—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता या माधुर्य आदि। पाँच स्थायीभावों से शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, मधुर या उज्ज्वल रस उत्पन्न होते हैं।[5] भगवान् के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित होते ही वह प्रेम-भक्ति कहलाती है। इसीको 'दास्य रस' भी कहते हैं।[6] इसी दास्य-भाव की चरम अभिव्यक्ति 'विनयपत्रिका' में हुई है। इसीलिए भगवान् और भक्त के एकनिष्ठ सम्बन्ध के लिए आत्म-समर्पण को शास्त्रकारों ने भक्ति के अन्तर्गत एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना है।

वैष्णव साहित्य को प्रपत्ति-सिद्धान्त की देन यथार्थ में दक्षिण के आलवारों की देन है। आलवार साहित्य में निरूपित प्रपत्ति के क्रमशः छः तत्त्व माने गए हैं—अनुकूल्यास्य-

१. इंडियन फिलोसोफी, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रथम खंड, पृ० ५२५।
२. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५२४।
३. गीता, १४।२६।
४. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५२५।
५. वही, ० ५२६।
६. भागवत धर्म, हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० १३४।

संकल्प, प्रतिकूल्यास्यवर्जन, रक्षिस्यातीति विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिक्षेप तथा कार्पण्याम्।[1] प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार जो प्रपत्ति मार्ग का अनुसरण करता है वह उपयुक्त तत्वों में से किसी भी एक तत्व का पालन कर सकता है क्योंकि प्रपत्ति मार्गानुगामी भक्त कामनाविहीन होता है। अर्वाचीन मत दास्य भाव के अस्तित्व की सतत अनुभूति के कारण भक्त की मानसिक स्थिति को सर्वथा निष्काम न मानकर उपयुक्त छहों तत्वों के पालन पर जोर देता है। इसी प्रकार प्राचीन मत मुक्ति का कारण प्रपत्ति को न मानकर केवल ब्रह्म को मानता है जबकि अर्वाचीन मत प्रपत्ति को मुक्ति का द्वितीय कारण स्वीकार करता है, क्योंकि प्रपत्ति के ही कारण भगवान् की कृपा का लाभ होता है। प्राचीन मत में पापक्षालन के लिए भगवान् की कृपा पर्याप्त है, उसके लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। अर्वाचीन मत भक्त की शारीरिक अवस्थानुसार प्रायश्चित्त को आवश्यक समझता है। प्राचीन मत के अनुसार अष्टविध भक्ति करने वाला भक्त ब्राह्मण से श्रेष्ठ है पर अर्वाचीन मत में वह ब्राह्मण से श्रेष्ठ न होकर केवल आदरणीय है। इसी प्रकार प्राचीन मत आत्मानुभूति को ही कैवल्य मानता है, जबकि अर्वाचीन मत वैकुंठ की प्राप्ति को।[2] प्रपत्ति को लेकर प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं के कारण ही दक्षिण और उत्तर भारत में भगवान् की कृपा विषयक दो अलग अलग धारणाएँ चल पड़ीं, जिनका विवेचन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

प्रपत्ति

भक्ति और भगवान् के सगुण रूप का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने के कारण ही सगुणोपासना और भक्ति का सुन्दर समन्वय एवं निरूपण भागवत में हुआ है। वस्तुतः भागवत की यह विशेषता ही वह उद्गम है जिससे भक्ति की मधुर धारा प्रवाहित हुई तथा दक्षिण के आलवारों की कण्ठ मधुरिमा से मज्जित होकर समस्त भारत में फैल गई।

वैष्णव धर्म की सगुणोपासना का यह भक्ति प्रवाह ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के आविर्भाव से सहसा रुद्ध-सा हो गया। शंकराचार्य ने ब्रह्म को एक अखण्ड, अद्वितीय त्रिविध भेदरहित तथा एकमात्र सत्ता के रूप में माना। उनके मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व की सत्ता नहीं है। उनका ब्रह्म निर्गुण शुद्ध चैतन्य है और जगत् मिथ्या एवं मायामय। माया ब्रह्म की ही शक्ति होने के कारण अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है। शांकर-मत के अनुसार जीव ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब मात्र है। ब्रह्म नित्य, मुक्त और स्वयंप्रकाश है। बुद्धि रूपी उपाधि के नष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है यही मुक्ति है। मुक्ति का साधन है ज्ञान।

अद्वैतवाद

शंकराचार्य का अद्वैतवाद सगुणोपासना के लिए वह चुनौती थी जिसका उत्तर देना आवश्यक था। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई। शांकर मत के ठीक विपरीत रामानुजाचार्य ने तीन पदार्थ माने—चित्, अचित् तथा ईश्वर। परम तत्त्व ईश्वर की ही भाँति चित् और अचित् अथवा जीव और जगत् भी नित्य और स्वतः स्वतन्त्र हैं

विशिष्टाद्वैत

---

१ हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, डॉ० दासगुप्त, चतुर्थ खण्ड, पृ० ६०।
२ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, डॉ० दासगुप्त, तीसरा खण्ड, पृ० ९३।

तथापि उनके भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान रहने के कारण वे ईश्वर के अधीन रहते हैं। उनका ईश्वर सर्वदा निर्गुण ही रहता है। निर्गुण ब्रह्म का अर्थ केवल यही है कि ईश्वर प्राकृत तथा लौकिक गुणों से रहित है। चित् तथा अचित् उसके शरीर हैं, पर चिदंश अचित् अंश से भिन्न है। रामानुजाचार्य की सृष्टि भगवान् की लीला है तथा संहृति विशिष्ट लीला। सृष्टि-निर्माण और उसके संहार में ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है, पर सृष्टि को नित्य मानने के कारण उन्होंने ईश्वर को दो प्रकार का माना है—(१) कारणावस्थ ब्रह्म तथा (२) कार्यस्थ ब्रह्म। प्रलय-काल मे जीव और जगत् के सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने के कारण तत्संबद्ध ईश्वर 'कारण ब्रह्म' कहलाता है तथा सृष्टिकाल में स्थूल रूप हो जाने के कारण वही 'कार्य ब्रह्म' कहलाता है। यही जीव जगत् और ईश्वर का अद्वैत है। यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार आदि पाँच रूप धारण करता है।[1]

रामानुजाचार्य ने चित् अथवा जीव को देह-इन्द्रिय-मन-प्राण-बुद्धि से विलक्षण, चेतन, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय माना है तथा उसमें शेषत्व या अधीनत्व नामक एक विशेष गुण की मान्यता दी है। इस गुण-विशेष के कारण ही जीव अपने समस्त कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर आश्रित रहता है, इसीलिए वह शेष है तथा ईश्वर शेषी। जीव को रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का ही अंश माना है।

अचित् वस्तु अथवा जगत् के तीन भेद है—शुद्ध-तत्त्व, मिश्र-तत्त्व और सत्त्व-शून्य। तम तथा रज से मिश्रित मिश्र-तत्त्व प्राकृत सृष्टि का उपादान है जो माया, अविद्या अथवा प्रकृति कहलाता है। शुद्ध-सत्त्व अमिश्रित होने के कारण शुद्ध-सत्त्व है अतः वह नित्य ज्ञानानन्द का जनक, निरवधिक तथा तेज रूप। इसी शुद्ध-सत्त्व से मुक्त पुरुषो के शरीर तथा स्वर्गादिक स्थानो की रचना होती है। इसी शुद्ध-सत्त्व से परमेश्वर के व्यूहादिक रूप बनते हैं। रामानुजाचार्य शरीर के अभाव मे आत्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करते तथा मुक्त दशा मे भी जीवो के शरीर प्राप्त करने को मान्यता देते हैं जो शुद्ध-सत्त्व का बना हुआ अप्राकृत शरीर होता है।

इस प्रकार शांकर-मत में निरूपित कोरे ज्ञान-मार्ग का खण्डन करके रामानुजाचार्य ने ब्रह्म, जीव और जगत् का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करके सगुणोपासना एवं भक्ति की पुनः स्थापना करके परवर्तीकाल मे भक्ति-साहित्य की अजस्र धारा को प्रवाहित किया।

पहले कहा गया है कि रामानुजाचार्य ने चित्, अचित् और ईश्वरये तीन पदार्थ माने हैं तथा जीव और जगत् को भी ईश्वर की भाँति ही नित्य और स्वतः स्वतन्त्र बताया है। साथ ही ईश्वर और चिताचित् अथवा जीव-जगत् का सम्बन्ध उन्होंने आत्मा और शरीर का सम्बन्ध माना है। शरीर वह है जिसे आत्मा नियमतः धारण करके कार्य-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकारई श्वर भी जीव-जगत् को आश्रित करके उसका नियमन करता है तथा धर्म मे प्रवृत्त करता है। नियामक होने के नाते ईश्वर प्रधान तथा विशेष्य है और नियम्य तथा अप्रधान होने के कारण जीव-जगत् विशेषण। विशेष्य की पृथक सत्ता है, पर विशेषण उसके साथ सम्बद्ध होने के कारण पृथक् नही है। विशेष्य और

१. भागवत धर्म, बलदेव उपाध्याय, पृ० २१०।

विशेषण के इस सम्बन्ध के कारण ही तीन पृथक् तत्त्व मानते हुए भी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी है, पर तत्त्व निरूपण की विशिष्टता के कारण वह विशिष्टाद्वैतवाद है।

रामानुजाचार्य का ईश्वर सगुण और सविशेष है। वह चिद्विशेष रूप में जगत् का उपादान है। वह सृष्टिकर्ता, कर्म फलदाता, नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। उसकी शक्ति माया है। वह शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज है। श्री भू और लीला-सहित है तथा किरीटादि भूषणों से अलंकृत है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी वह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं, पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव अंश। ब्रह्म स्वामी है, जीव दास। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास है। रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है उपासनात्मक भक्ति। भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति में प्रपत्ति का विशेष स्थान है। प्रपत्ति है भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण, जिसका स्वरूप निम्नलिखित श्लोक में अंकित हुआ है—

> पितरम् मातरम् दारान् पुत्रान् बन्धून सखीन गुरून।
> रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
> सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्व कामान्च साक्षरान।
> लोक विक्रान्तचरणौ शरणम् तेऽव्रजम् विभो॥[1]

रामानुजाचार्य ने विष्णु के दशावतार की मान्यता दी है तथा अवतार का प्रयोजन माना है दुष्कृत्यों का विनाश और साधुओं का परित्राण। उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संचित पापों का नाश करता है, पर जीव अपने वर्तमान जन्म में सदाचारादि अच्छे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसीलिए प्रपत्ति श्रेय है।[2] इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्होंने सम्पूर्ण आत्म समर्पण पर जोर दिया है वहाँ दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया है। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की इस महत्ता तथा आत्म-समर्पण की आवश्यकता के परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न शाखाओं का आविर्भाव हुआ जो उत्तरी और दक्षिणी शाखाएँ कहलाई।[3] उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न करने से ही प्राप्त हो सकती है। इस शाखा के अनुसार मुक्तावस्था स्तर रहित होती है। कर्म ज्ञान मुक्ति का सीधा साधन न होकर केवल भक्ति का पूरक तत्त्व है। मोक्ष भक्ति से ही प्राप्त होता है। श्री में उनकी आस्था स्वरूप-व्याप्ति के रूप में है तथा वह मोक्ष प्रदान करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। उत्तरी शाखा के मतानुसार जीव विषयक ईश्वर का प्रेम अंधा होता है वह जीव के दोषों की ओर नहीं देखता। प्रपत्ति का उद्रेक भक्ति की ही भाँति जीव द्वारा प्रयत्न करने पर होता है तथा मोक्ष प्राप्ति के साधनों में से वह एक साधन है।

उत्तर और दक्षिण का भेद

उत्तरी शाखा के ठीक विपरीत दक्षिणी शाखा ईश्वर की कृपा को अप्रयत्नज मानती

---

१ हिन्दुत्व में उद्धृत, पृ० ६६६।
२ हिन्दू कन्सेप्शन ऑफ डीटी भरतन् कुमारप्पा पृ० ३१०।
३ ई० आर० ई० एस० १९१०, पृ० ११०२।

है। उसका विश्वास है कि मुक्तावस्था में स्तर-भेद विद्यमान रहते हैं, पर ये भेद मुक्त जीव को प्रदत्त विभिन्न कर्तव्यों के ही कारण रहते हैं। दक्षिणी शाखा के अनुयायी कर्म, ज्ञान और भक्ति में से किसी एक को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक संकल्प और हृदय की एकाग्रता से है। वे श्री को विभु व्याप्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसे जीव की माता अथवा पुरुष के प्रकृति-तत्व के रूप मे मानते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष प्रदान करने की शक्ति नारायण में ही है। श्री केवल एक सहायक तत्त्व है। जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम केवल अन्धा ही नहीं होता, वरन् वह इतना प्रबल होता है कि पापी जीव अनायास ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दक्षिणी शाखा प्रपत्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन मानती है। जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध तथा ईश्वर की कृपा-विषयक मतों में भेद होने के कारण ही ये शाखाएँ क्रमशः वडकले तथा तेंकले शाखाएँ कहलाईं।[1]

तमिल भाषा में वडकले मर्कट को कहते हैं और तेंकले मार्जार को। शाखाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर सम्बन्ध का प्रतीक है। मर्कट-न्याय के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी में अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए स्वयं उसका आश्रय लेना पड़ता है अथवा उसके पेट से दृढ़ता से चिपक जाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आगार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना आवश्यक है। उत्तर-भारत के सन्त कवियों ने इसी न्याय को स्वीकार किया है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तथा अष्टछाप के कवियों की वाणी में सर्वत्र इसी भावना का दर्शन होता है।

तेंकले शाखा ने 'मार्जार न्याय' को स्वीकार किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का खण्डन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जारी स्वयं ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है, उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा-शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है। दक्षिण के आलवार पूर्णरूपेण मार्जार-न्यायवादी कवि थे तथा इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली। सन्त तुकाराम कहते है—

तुका म्हणे माझी विठ्ठल माउली,
आणि कांचे बोली चाड़ नाहीं।[2]

× × ×

जेणें माझें हित होईल तो उपाय,
करिसील भाव जाणोंनियां।[3]

× × ×

---

१. जे० आर० ए० एस०, १६१०, पृ० ११०३।
२. श्री देवडीकर-कृत तुकाराम महाराज की गाथा, अभंग, ३०५७।
३. वही, अभंग ३०६१।

घाले हे शरीर कोणाचिये सत्ते,
कोण बोलविते हरीविण।[1]
हरिविया भक्ता नाही भय चिन्ता,
दुःख निवारिता नारायण ॥[2]

पौराणिक-काल में वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु को विशिष्ट महत्त्व मिला है। प्राचीन वैदिक-दर्शन में, सृष्टि रचना में आकाश अथवा शब्द-तत्त्व से स्पर्श अथवा वायु-तत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है।[3] वस्तुतः वायु व्यापकत्व का प्रतीक है और वायु विष्णु का प्रतिनिधि विष्णु की व्युत्पत्ति भी विष् धातु से होने के कारण स्वयं विष्णु का गुण धर्म भी सक्रिय होना अथवा व्यापक होना है। गुण-धर्म की इस प्राचीन समानता के कारण ही पौराणिक-काल में वायु को विशेष महत्त्व मिला तथा वायु-पुराण की रचना हुई, जो अठारह महापुराणों में से एक माना जाता है।[4] विष्णु-पुराण में अंकित पुराणों की सूची में वायु-पुराण के स्थान पर शिव पुराण का उल्लेख[4] इस बात की ओर संकेत करता है कि वायु विष्णु का ही प्रतिनिधि होने के कारण पुराणों की सूची से वायु-पुराण को हटाकर शिव-पुराण को स्थान देकर एक अन्य प्रचलित सम्प्रदाय को स्थान दिया गया।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति के द्वितीय उत्थान-काल में वायु की विष्णु के प्रतिनिधि रूप में कल्पना एवं महत्ता में कई विद्वान् पाश्चात्य प्रभाव देखते हैं।[5] उनका अनुमान है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत में ईसाई धर्म के आगमन के कारण ईसाइयों का होली घोस्ट ईसाई धर्म-शास्त्र में 'होली घोस्ट' की कल्पना का प्रभाव वैष्णव दर्शन पर पड़ा। वस्तुतः 'होली घोस्ट विषयक' ईसाई धर्म-शास्त्र तथा वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु के व्यापकत्व आदि के आकस्मिक साम्य के कारण ही विद्वानों ने ऐसा अनुमान लगाया है। ईसाई धर्म शास्त्र में 'होली घोस्ट अथवा 'होली स्पिरिट' का स्थान देवत्रयी में माना जाता है[7] तथा मनुष्यों में उसका अस्तित्व जीवन्त सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[8] वस्तुतः 'स्पिरिट' शब्द, जो 'रूह' का पर्याय है, सेमेटिक धातु 'रूह' से बना है तथा उसका अर्थ है 'साँस लेना अथवा बहना।[9] शब्दार्थ के इसी आधार पर प्राचीन काल में वायु को ईश्वर का श्वास कहा गया है।[10] वायु रूप रूह अथवा 'स्पिरिट की यही कल्पना कालान्तर में विकसित होकर पवित्रात्मा का रूप धारण करता है तथा उसी से समस्त संसार व्याप्त माना गया है। यही 'रूह मनुष्य को पवित्र कर्मों

---

१ श्री देवनीकर कृत तुकाराम महाराज की गाथा, अभंग ३०६६।
२ वही, अभंग ३०५८।
३ हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसोफी दासगुप्त, खण्ड ३, पृ० ५१०।
४ हिन्दुत्व रामदास गौड़, पृ० २५७।
५ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खंड १, पी० वी० काणे, पृ० १५६ १६१।
६- दि हैरिटेज ऑफ इंडिया, हुमायूँ कबीर, पृ० ८३-८८।
७ ई० आर० ई०, खंड २ पृ० ७८४।
८ वही, पृ० ७८८।
९ वही।
१० वही, पृ० ७८६।

की ओर अग्रसर करती है तथा सृष्टि-रचना के समय परमेश्वर ने अपने इसी अंश को मनुष्य को प्रदान किया था।[1]

ईसाई धर्म-शास्त्र में निरूपित 'होली गोस्ट' की कल्पना से एक स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है और वह है ईश्वर और जीव के बीच 'होली गोस्ट' रूपी तत्त्व, जो ईश्वर रूप भी है और मनुष्य में विद्यमान भी। इस प्रकार ईश्वर और जीव मे द्वैताद्वैत होते हुए भी अद्वैत का आभास सरलता से देखा जा सकता है तथा आभास के कारण कुछ विद्वान् वैष्णव-दर्शन में ईसाई धर्म का प्रभाव देखते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए दक्षिण में वैष्णव-धर्म के द्वितीयोत्थान के समन्वयवादी दृष्टिकोण पर जोर देते हैं। पर, वस्तुतः यह धारणा अत्यन्त भ्रांत है। विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में वायु की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर पूर्ण रूप से भारतीय है तथा उसके कई उल्लेख वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। रामायण में राम के सेवक पवन-सुत हनुमान की कल्पना वायु की महत्ता-विषयक प्राचीन मान्यता को सिद्ध करती है। महाभारत के वन-पर्व मे प्राचीन पुराण की अभिव्यक्ति वायु से ही मानी गई।[2] बाणभट्ट के 'हर्षचरित' मे वायु-पुराण के पठन का उल्लेख मिलता है।[3] कुमारिल भट्ट के 'तंत्रवर्तिकार' मे पुराणों के विषयन्यास की चर्चा मे भी वायु-पुराण का उल्लेख हुआ है।[4] अत. यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी से बहुत पहले वायु-पुराण अस्तित्व मे था तथा वायु-विषयक दार्शनिक कल्पनाएँ तब तक पूर्ण रूप से निश्चित हो चुकी थी।

मोक्ष : पाप से मुक्ति

यही बात वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत मोक्ष के निरूपण पर भी लागू होती है। शांकर-मत के अनुसार बुद्धि-रूपी उपाधि नष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, क्योंकि वह अपने मूल रूप में ब्रह्म का ही अंश है, अज्ञान के कारण ही वह उससे पृथक् भासमान होता है। सांसारिक दशा में जीव उपाधि से अविच्छिन्न रहता है और मुक्तावस्था मे वह ब्रह्म मे लीन हो जाता है। पर रामानुजाचार्य को शंकराचार्य का यह मत मान्य नहीं है। उनके मतानुसार जीव अणु और अल्पज्ञ होने के कारण ब्रह्म के साथ उसका एकीकरण सम्भव नहीं है तथा जिस प्रकार वह सांसारिक दशा में ब्रह्म से पृथक् रहता है, उसी प्रकार मुक्त दशा में भी। इतना अवश्य है कि मुक्त दशा मे वह निरन्तर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता है। यही मुक्ति का वैशिष्ट्य है। शंकराचार्य की भाँति रामानुजाचार्य माया और अविद्या को अभिन्न नहीं मानते तथा माया का आश्रय भगवद्-शक्ति और ब्रह्म में मानते हैं। ज्ञान की अनुपस्थिति मे जीव अज्ञान से परिपूर्ण रहता है तथा इसी अज्ञान के कारण वह संसार से बद्ध है। यह अज्ञान भक्ति-जन्य भगवद्-प्रसाद से अपने-आप तिरोहित हो जाता है। भगवद्-प्रसाद से अज्ञान का तिरोहित हो जाना ही मुक्ति है।[5] पर मुक्ति पाने के लिए भगवद्-प्रसाद अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् की कृपा से ही जीव समस्त पापों से मुक्त हो सकता है।

१. ई० आर० ई०, खण्ड-२, पृ० ७८८।

२. हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड १, ० १५८-६१।

३. वही।

४. जे० बी० आर० ए० एस०, १८२५, ० १२२।

५. भागवत सम्प्रदाय, डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० २१४-१५।

पापों से मुक्त होने के लिए शरणागति आवश्यक है।[१]

ईसाइयों का डाक्टरिन आफ़ इटर्नल डैमनेशन तथा ईश्वर और आत्मा में भेद

ईसाइयों के डाक्टरिन ऑफ़ इटर्नल डेमनेशन के अनुसार भी स्वर्ग प्राप्ति के लिए पापों का नाश आवश्यक है। पापों का नाश सदाचार से ही सम्भव है। सदाचार-विहीन पापी जीव अनादि काल तक नरक भोगता रहता है। ईसाई धर्म में जीव की सत्ता ईश्वर से पृथक मानी गई है। यद्यपि जीव सम्पूर्ण रूप से ईश्वर की ही कृति है। तथापि उसमें कर्म की स्वतन्त्रता होने के कारण वह अपने कर्मों द्वारा ही स्वर्ग या नरक का अधिकारी है। जीव कर्म करने के लिए स्वतन्त्र होते भी कृपालु ईश्वर उसे निरन्तर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर के साथ एकाकार नहीं होता, अपितु अपने पवित्र आचरण से उसके निकट स्थान पाता है। इस दृष्टि से वैष्णव-दर्शन और ईसाई-दर्शन में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि यह साम्य केवल ऊपरी और आकस्मिक है।[१] उल्टे देखा जाए तो, ईसाइयों का भक्तिवाद ही महायानियों के सम्पर्क का परिणाम हो सकता है, क्योंकि अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि ईसा के जन्म से पूर्व पश्चिमी एशिया में बौद्धों का अस्तित्व था।[२] वस्तुतः शंकराचार्य के पीछे वैष्णव धर्म के चारों प्रधान सम्प्रदाय श्रुति और दर्शन-वेदान्त पर ही आधारित हैं। इतना अवश्य है कि व्याख्या और बाह्याचार में परस्पर अन्तर होने के कारण सम्प्रदाय भेद अवश्य उत्पन्न हो गया है,[३] पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वैष्णव दर्शन पर ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा है।

(उ) स्मार्त्त तथा वैष्णव

स्मार्त

स्मार्त्त वैदिक धर्म की ही एक प्राचीन शाखा है। 'स्मार्त्त' का अर्थ है स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित मार्ग। यह मार्ग वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है तथा इस मार्ग की प्राचीन कल्पना में वैदिक प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति-मार्ग—दोनों का समन्वय सम्पन्न हुआ है।[४] इस प्रकार स्मार्त्त धर्म अपने पूर्व रूप में समन्वयवादी सिद्ध होता है। इस समन्वयवादी रूप के कारण ही इस मार्ग में किसी एक देवता विशेष की उपासना के स्थान पर सभी देवताओं की समान रूप से उपासना स्वीकार की गई है। विद्वानों का कथन है कि स्मार्त्त धर्म का प्रचलन शंकराचार्य की पंचायतन-उपासना पर आधारित है।[५] शिव, सूर्य, शक्ति, विष्णु और गणेश—इन पाँच

---

१ "मनोवाक्कायैरनादिकालप्रवृत्तानन्ताकृत्यकरण कृत्याकरण भगवद्
 अपचार भागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्तापचारान्—
 आरब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणांश्च सर्वान् अशेषतः क्षमस्व।' —हिन्दुत्व, पृ० ६५६
 "शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारम्मा तारय"—हिन्दुत्व पृ० ६५६।

१ सूर साहित्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६-६०।

२ भक्ति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रो० आनन्द नारायण शर्मा, साहित्य सन्देश अक्टूबर, १९५८।

३ हिन्दुत्व रामदास गौड़, पृ० ६४०।

४ गीता रहस्य लो० बाल गंगाधर तिलक, पृ० ३३७।

५ वही, पृ० ३४०।

देवताओं की प्रतिमाओं का समुदाय 'पंचायतन' कहलाता है।[1] पर वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि महाभारत के अध्ययन से विदित होता है कि महाभारत के रचना-काल में भी किसी-न-किसी रूप में विष्णु, शिव, दत्तात्रेय, दुर्गा और स्कन्द आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। इन देवताओं की उपासना के साथ-साथ उस समय भी आह्निक-सन्ध्या, होम, तप-उपवास, जप, अहिंसा-व्रत, आतिथ्य-पूजन, शौचाचार, प्रायश्चित्त और श्राद्ध-बलिदान आदि वैदिक कर्मों का प्रचलन था।[2]

अतः शंकराचार्य से बहुत पहले स्मार्त्त-धर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। इतना अवश्य है कि बौद्ध और जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के प्रचलन से यह धर्म कुण्ठित-सा होने लगा था। शंकराचार्य ने काल की आवश्यकता को समझकर इसकी पुनः स्थापना की तथा विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति को परमात्मा के ही पाँच रूप स्वीकार कर के इनमें से किसी एक रूप को प्रधान मानकर तथा अन्य रूपों को उसीका अंग मानकर उपासना की प्रथा चलाई। पंचदेव की यही उपासना स्मार्त्त-धर्म या स्मार्त्त-मत कहलाई।[3]

भागवत सर्व-देववादी

पहले कहा गया है कि अपने मूल रूप में स्मार्त्त और भागवत अथवा वैष्णव-धर्म भिन्न-भिन्न नहीं थे, अपितु वे वैदिक धर्म की ही दो शाखाएँ थीं —एक की आस्था निवृत्ति मार्ग में थी, दूसरी की प्रवृत्ति-मार्ग में। परवर्ती-काल में जब शिव और विष्णु को लेकर धार्मिक ववण्डर उठ खड़ा हुआ, तब स्मार्त्त और भागवत 'शैव' और 'वैष्णव' के पर्याय बन गए[4] तथा उनमें वेदान्त की ही भाँति ज्योतिष यानी एकादशी, चन्दन लगाने की पद्धति आदि भिन्न हो गई।[5] उपास्य देव-विषयक इस भेद का निराकरण इस बात से भी होता है कि शांकर-भाष्य में जहाँ कहीं भी प्रतिमा-पूजन का उल्लेख हुआ है, वहाँ शिव-लिंग का निर्देश न होकर शालग्राम यानी विष्णु-प्रतिमा का ही उल्लेख किया गया है।[6] स्मार्त्त और वैष्णव-धर्म में सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद न होने के कारण ही दक्षिण में इन दोनों मतों की उपासना-पद्धति मेंएक-दूसरे के आराध्य देवों को प्रश्रय मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण में स्मार्त्त-धर्म के पुनरुत्थान में एक प्रकार से भागवत-धर्म की ही पुनः स्थापना हुई। इतना अवश्य है कि इस स्थापना में सभी देवताओं को समान स्थान मिला तथा एक प्रकार से धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार हुआ। महाराष्ट्र में स्मार्त्त और वैष्णव इन दोनों का प्रचार है। स्मार्त्तों की एक उपशाखा भागवत कहलाती है तथा वह सभी देवताओं को समान मानती है। स्मार्त्त शिव, विष्णु, देवी, गणेश, सूर्य इत्यादि देवताओं को पंचायतन की पूजा करते हैं। स्मार्त्त-मत मुख्यतः महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश में प्रचलित है तथा उसके अनुयायी रुद्राक्ष और भस्म धारण करते हैं और पहली

---

१. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ४२७।
२. हिन्दुत्व, पृ० ६०९।
३. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ० ६१०।
४. गीता-रहस्य, लो० बा० गं० तिलक, पृ० ३३६।
५. वही।
६. वे० सू० शां० भा० १. २. ७; १. ३. १४; ४. १. ३; छां० शां० भा० ८. १. १।

एकादशी व्रत करते हैं।[१] स्मार्तों के ठीक विपरीत वैष्णव केवल विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे विष्णु के सभी अवतारों और अवतार रूप देवों तथा गणों की उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग भवानी, खण्डोबा, काली, मल्लारी आदि कुल देवताओं को भी पूजते हैं। कर्नाटक-निवासी वैष्णव इसी प्रकार के वैष्णव हैं तथा उनके मुख्य चिह्न गोपी चन्दन और कमलाक्ष-माला हैं। वे दूसरी एकादशी का व्रत पालन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति के पुनरुत्थान के समय महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म विभिन्न सम्प्रदायों एवं दार्शनिक विचारधाराओं को आत्मसात करके व्यापक रूप धारण कर चुका था। स्मार्त धर्म के रूप में जहाँ उसमें एक ओर सर्वदेववाद को मान्यता मिली वहाँ दूसरी ओर विष्णु के दशावतारों की शक्तियों के रूप में शक्ति तत्त्व की उपासना को भी प्रश्रय मिला। फिर भी आचार के क्षेत्र में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के समन्वय का ही अनुशीलन होता रहा तथा वर्णाश्रम धर्म की महत्ता अक्षुण्ण रूप से बनी रही। धर्म की व्याख्या विद्वानों द्वारा शास्त्रीय ढंग से होने के कारण इस व्यापक स्वरूप के बावजूद भी धर्म पूर्ण रूप से विद्वानों की सम्पत्ति थी तथा शौचाचार, जाति भेद और अस्पृश्यता के कारण वह जनसाधारण से दूर रही। यह स्थिति न्यूनाधिक रूप में लगभग चौदहवीं शताब्दी तक बनी रही। इस सामाजिक एवं धार्मिक विषमता का निराकरण सर्वप्रथम महानुभाव एवं तत्पश्चात् वारकरी पंथ ने किया तथा धर्म को समाज के श्रेष्ठ वर्ग की कारा से छुड़ाकर जनसाधारण की वस्तु बनाया।

महाराष्ट्र में वारकरी पंथ की स्थापना अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है, यद्यपि उसका विकास चौदहवीं शताब्दी में ही दृष्टिगोचर होता है। 'वारकरी' का अर्थ है यात्रा करने वाला। धार्मिक दृष्टि से जो पंढरपुर में स्थित विट्ठल अथवा विठोबा का उपासक है और आषाढ़ तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा करता है वही वारकरी कहलाता है। यात्रा के दिन पांडुरंग को तुलसी की माला पहनाने के कारण यह 'मालकरी' पंथ भी कहलाता है।[३] वारकरी पंथ पूर्ण रूप से वैदिक धर्मान्तिगत है तथा कृष्ण भक्ति-प्रधान होने के कारण उसे भागवत सम्प्रदाय भी कहते हैं।[४]

महाराष्ट्र में वारकरी पंथ के संस्थापक पुण्डरीक मुनि माने जाते हैं। उन्हींकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् पंढरपुर में प्रकट हुए थे।[५] पंढरी के विठोबा बाल-रूप हैं। महाराष्ट्र की प्रसिद्ध सन्त बहिणाबाई ने ज्ञानेश्वर को इस पंथ का संस्थापक माना है[६], पर ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव के 'पूर्वी अनन्त काल' पद से बहिणाबाई की धारणा निराधार एवं भावना-मात्र सिद्ध होती है। वारकरी कीर्तन के आरम्भ में 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल' की शान्ति घोषणा की प्राचीन परम्परा भी पुण्डरीक पंथ का संस्थापक होना सिद्ध करती है। विट्ठल मन्दिर के एक शिलालेख से भी इसका समर्थन होता है जिसमें पुण्डलीक मुनि का -

१ महाराष्ट्र परिचय पृ० ५७४।
२ महाराष्ट्र परिचय, पृ० ५७४।
३ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, आचार्य विनय मोहन शर्मा, पृ० ६८।
४ महाराष्ट्र परिचय पृ० ५७८।
५ पांगारकर पृ० ३४४।
६ मराठी साहित्य का इतिहास, ना० बा० गोडबोले, पृ० १७।

उल्लेख है।[1] यह शिलालेख १२२० ई० का माना जाता है।[2]

वारकरी पंथ के उपास्य देव विट्ठल माने जाते हैं। विट्ठल को बालकृष्ण माना जाता है। भक्त पुण्डरीक को वर देने के लिए ही बाल-कृष्ण पंढरपुर आये थे तथा भक्त के संकेत करने पर ईंट पर खड़े हो गए और अब तक खड़े हैं—

"पाहतां विटेवरी जगदीश, पुराण पुरुष व्यापक।
भक्ताचिया काजा, उभा पंढरीचा राजा।"[3]

(पुराण पुरुष विट्ठल भक्त के लिए ईंट पर खड़े हो गए।)

विट्ठल की कल्पना के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कई स्थलों पर विट्ठल-मूर्ति को कन्नड़ देश से आई हुई कहा गया है।[4] कई विद्वान् विट्ठल की उत्पत्ति विट्टि से मानते हैं। विट्टि विष्णु का कन्नड रूप है।[5] राजवाड़े के मतानुसार विट्ठल शब्द 'विष्ठल' से बना है, जिसका अर्थ है दूर, अर्थात् जो दूर रहता है, वह विट्ठल है।[6] नामदेव ने भी पंढरी के विट्ठल को कानडा कहा है—

"कानडा विट्ठल पंढरीये।"

अर्थात्

पंढरी का विट्ठल कानडी है।

एकनाथ कहते हैं :—

"कानडा विट्ठल, कानडा विट्ठल,
कानडा विट्ठल विटेवरी॥
कानडा विट्ठल, कानडा बोले,
कानड्या विट्ठले, मन वेधियले।

(ईंट पर खड़ा विट्ठल कानडी है और कन्नड़ ही बोलता है। इस कानडी विट्ठल ने मेरे मन को वेध दिया है।)

उपर्युक्त आधारों पर कहा जा सकता है कि विट्ठल पंढरपुर में कहीं दूर से आये थे। विट्ठल मूर्ति का गोप वेष—

रुक्मिणी रुसली ती दिंडिरवना आली॥
गाई गोपाळांचा मेळा, गोपालपुरीं तो ठेविला॥
आपणगोपवेषधरी। एकाजनार्दनीं श्री हरी।[7]

(रुक्मिणी रूठकर दिंडिरवन में आ गई और हरि ने गौओं-गोपालों को वृन्दावन में ही छोड़कर गोप वेष धारण कर लिया है।)

विट्ठल की प्राचीनता का सूचक है क्योंकि श्रीकृष्ण का पुण्डरीक के लिए पंढरी में बाल-रूप

१. श्री विट्ठल आणि पंढरपुर, पृ० ३७।
२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ७१।
३. पांगारकर, पृ०३४५।
४. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ७०।
५. वही।
६. वही।
७. पांगारकर, पृ० ३४३।

म आना इस बात को प्रमाणित करता है कि पुण्डरीक के उपास्य देव महाभारत के कृष्ण न होकर गोप-वपधारी बाल-कृष्ण थे। पहले कहा गया है कि गोपाल कृष्ण की कल्पना डा० भाण्डारकर के मतानुसार ई० स० की पहली शताब्दी की न होकर निश्चित रूप से उससे बहुत प्राचीन है। विट्ठल मूर्ति के मस्तक पर शिवलिंग—[1]

'रमारमेण मस्तकीं हर' विष्णु और शिव के ऐक्य का प्रतीक है। इस दृष्टि से भी विठ्ठल की कल्पना नायककालीन न होकर अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है तथा पूर्ण रूप से वैदिक धर्मान्तर्गत सिद्ध होती है, क्योंकि वारकरी पथ की आस्था विशेष रूप से भागवत, गीता तथा ज्ञानेश्वरी मे है। दक्षिण मे प्राचीन विट्ठल भक्ति का स्वरूप कैसा रहा होगा, यह नहीं कहा जा सकता पर महाराष्ट्र म ज्ञानेश्वर द्वारा वारकरी पथ के पुनरुद्धार के समय तथा उसके अनन्तर यह पथ अत्यन्त उदार मतवादी रहा है। उसकी आस्था न तो जाति भेद में है, और न वर्ण भेद म। वारकरी सम्प्रदाय सभी ईश्वर भक्तो को स्वीकार करता है तथा 'विष्णुमय जग वैष्णवाचा धर्म' की भावना से ही अन्य धर्मावलम्बियो की ओर देखता है। इसी कारण कुछ मुसलमान भी इस पथ म शामिल हो सके। पढरी में सभी को समान अधिकार है और सत किसी भी जाति का क्या न हो, पूज्य एव वन्दनीय समझा जाता है।[2] वारकरी पथ के इस समतावादी दृष्टिकोण तथा ऐक्य भावना ने महाराष्ट्र मे वैष्णव धर्म को अत्यन्त व्यापक और समन्वयवादी बनाकर धर्म को पडितों एव विद्वानों के चगुल स छुडाकर जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया।

वारकरी विट्ठल के उपासक हैं तथा गले मे तुलसी की माला पहनते हैं, क्योंकि तुलसी विष्णु को प्रिय है और कृष्ण उनकी दृष्टि मे विष्णु के ही अवतार हैं। इस प्रकार वे कृष्णोपासक हैं यद्यपि व राम के भी उतने ही एकनिष्ठ उपासक हैं। इस पथ म हरि और हर दोनों को एक माना जाता है। यह ऐक्य स्वय विट्ठल की मूर्ति से निर्दशित होता है जिसके मस्तक पर शिवलिंग विराजमान है।[3] इसीलिए एकादशी के साथ सोमवार, शिवरात्रि और राम नवमी व्रत मान्य हैं। उनके आचार धर्म में वैष्णव मुद्रा धारण भजन सकीर्तन, विट्ठल का नाम-स्मरण तथा पढरी की यात्रा का विशेष महत्त्व है। वारकरी लोग आषाढ़ी-कार्तिकी एकादशी रामनवमी तथा गोकुलाष्टमी को व्रत रखते हैं तथा ससार-त्याग का उपदेश न देकर विरक्त भाव से गृहस्थाश्रम में ही परमार्थ लाभ करने में विश्वास रखते हैं। तुकाराम कहते हैं—

पधरा दिवसां एक एकादशी,
कां रे न करिसी व्रतवार।
काय तुझा जीव जातो एकादिसें।[4]

(पन्द्रह दिन के बाद जाकर कहीं एकादशी आती है। क्यों तू उस दिन व्रत नहीं

---

१ पांगारकर पृ० ३४३।

२ तुकाराम रा० गा० दवें पृ० ११८।

३ रूप पाहतां डोळसूं सुन्दर पाहतां गोपवेषु ॥
महिमा वर्णितां महेशू जेणें मस्तकीं वंदिला ॥ —श्री ज्ञानेश्वर

४, देवर्डीकर कृत तुकारामाची गाथा पृ० ३२४ अभंग २०५०।

रखता ? एक दिन व्रत रखने से क्या तेरी जान जाती है ?)

× × ×

"नाम संकीर्तन साधन पैं सोपें, जळतील पापें जन्मांतरिचीं।
न लागती सायास जावें वनांतरा, सुखे येतो घरा नारायणा।
ठायींच बैसोनी करा एकचित्त, आवडी अनंत आळवावा।
'रामकृष्ण हरी' विठ्ठल केशवा, मंत्र हा सोपा जपा सर्वकाळ ॥[1]

(नाम और संकीर्तन, ये साधन अत्यन्त सरल है तथा इनसे जन्म-जन्मान्तर के पाप जल जाते हैं। न वन जाना पड़ता है और न प्रयत्न करना पड़ता है, नारायण स्वयं ही घर आ जाता है। अपने घर बैठे-बैठे एकचित्त होकर अनन्त का ध्यान कीजिए और सर्वदा 'राम-कृष्ण-हरि' इस सरल मंत्र का जप करते रहिए।)

हरी हराभेद, नाहीं करूं नये वाद।
एक एकाचे हृदयीं, गोडी साखरेच्या ठायीं।
भेदकालीनाऊ, एक वेळांटीच आड।
उजवें वाम भाग, तुका म्हणे एकचि अंग ॥[2]

(हरि और हर में भेद मानकर विवाद नहीं करना चाहिए। वे दोनों एक-दूसरे के हृदय मे ठीक उसी प्रकार निवास करते है जिस प्रकार चीनी में मिठास। भेद के नाम केवल एकमात्र की बात है, परन्तु उससे क्या होता है। बायाँ और दाहिना दोनों शरीर के ही अंग होते हैं।)

× × ×

तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर।
हरिहरा भेद नाहीं, नका करूं वाद्।

—तुकाराम

(तुकाराम कहते हैं कि भक्ति करने के लिए ही हरिहर है। उनमे परस्पर कुछ भी भेद नहीं है, व्यर्थ ही विवाद में न पड़ो।)

१. देवढीकर कृत तुकारामाची गाथा, पृ० ३७१, अभंग २३५३।
२. वही, पृ० १६, अभंग ६६।

अध्याय–२

मराठी कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

किसी भी युग का साहित्य तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से बनता है तथा उन्हींको प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य-सर्जना विषयक यह सत्य प्राचीन मराठी काव्य के विकास में उसी प्रकार अभिलक्षित होता है जिस प्रकार अन्य भाषाओं के विकास में। अन्य भाषाओं की भाँति मराठी का प्रारम्भिक साहित्य भी काव्यमय था। वस्तुतः मराठी भाषा वर्तमान महाराष्ट्र की ही भाषा न होकर प्राचीन काल में दक्षिण भारत के अन्य भागों में भी बोली जाने वाली भाषा थी। 'महाराष्ट्री' नाम से विदित होता है कि इस भाषा का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेश के कारण न होकर अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत प्रदेश में बोली जाने के कारण ही हुआ होगा।[1] ऐसी दशा में वर्तमान महाराष्ट्रेतर प्रदेशों के आचार विचारों तथा धार्मिक विचार-धाराओं का प्रभाव मराठी भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही है। यद्यपि मराठी भाषा की परम्परा प्राचीन है, तथापि हालसातवाहन की सप्तशती में मराठी भाषा प्राकृत या अपभ्रंश का मूल मानी जाती है।[2]

मराठी के उत्पत्ति-काल के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इतिहासाचार्य राजवाडे मालखेडे के ताम्रपट के आधार पर मराठी भाषा की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।[3] भारताचार्य चिं० वि० वैद्य इसकी उत्पत्ति सातवीं शताब्दी में मानते हैं।[4] पर सत्य यह है कि प्राचीन ताम्रपटों में यत्र-तत्र मराठी स्वरूप के प्रयोग उपलब्ध होने पर भी उनमें मराठी वाक्यों का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। मराठी का प्रथम वाक्य-रूप आविष्कार 'श्री चावुण्डराजें करविलें' मैसूर राज्य में श्रवणबेल-गोला के शिलालेख से हुआ है। इस शिलालेख का समय सर्वसम्मति से सन् ९०५ के आसपास माना जाता है।[5] इस प्रकार मराठी भाषा का महाराष्ट्र में दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग रूढ़ होना माना जा सकता है। शक पूर्व चालुक्य राजवंश के शिलालेखों में संस्कृत के

---

१ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५७० ।

२ वही पृ० ५७१ ।

३ राजवाडे द्वारा सम्पादित ज्ञानेश्वरी की प्रस्तावना पृ० १८ ।

४ मराठी भाषेचा कालनिर्णय चिं० वि० वैद्य विविध ज्ञान विस्तार १९२२ ।

५ महाराष्ट्र सारस्वत पृ० ८७२ ।

साथ-साथ देशी भाषा के रूप में कन्नड़ का प्रयोग इसी सत्य की ओर निर्देश करता है।[१] बारहवीं शताब्दी में लिखित मराठी के निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस काल में मराठी काव्य पूर्ण रूप से धार्मिक है, अतः प्रश्न उठता है कि बारहवीं शताब्दी में इस आकस्मिक धार्मिक काव्य की सर्जना के पूर्व महाराष्ट्र में धार्मिक आचार-विचारों का स्वरूप कैसा रहा होगा। इसका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है।

इतिहासाचार्य राजवाड़े के मतानुसार ईसा-पूर्व एक हजार वर्ष के लगभग उत्तर की नाग जातियाँ दक्षिण की ओर बसने लगी थी।[२] इस समय दक्षिण की प्रमुख जातियाँ द्राविड़-भाषी थीं। राजवाड़े ने इन्हीं नाग लोगों के साहचर्य से महाराष्ट्री का अपभ्रंश में रूपान्तर माना है,[३] पर यह मत साधार नहीं प्रतीत होता। अवश्य ही इस काल तक महाराष्ट्र मे शिव, नागादि भारत की आदिजातियों के उपास्य देवों की उपासना की प्रथा प्रचलित रही होगी। पाणिनीय सूत्रों में दक्षिणापथ के उल्लेख के अभाव से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि-काल तक आर्य दक्षिण मे नहीं पहुँचे थे। कात्यायन की वार्तिकाओं में अवश्य ऐसे उल्लेख मिलते हैं, पर वे पाणिनीय सूत्रों के पूरक के रूप मे ही हुए हैं।[४]

इन उल्लेखों से इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि कात्यायन के पूर्व आर्य लोग दक्षिण में जाकर बसने लगे थे। यह काल बौद्ध-युग का आरम्भ-काल था तथा इस काल मे बौद्धधर्म की स्थापना के रूप में घटित धार्मिक क्रान्ति के कारण ही सम्भवतः आर्य लोग चारों ओर फैल गए थे।[५] महाराष्ट्र सारस्वतकार के मतानुसार इस विभाजन के कारण ही दक्षिण मे आर्यों का कोई एक राज्य न होकर गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, पांडुराष्ट्र, अपरान्त, विदर्भ, अश्मक आदि छः राष्ट्रों की स्थापना हुई थी जो आगे चलकर महाराष्ट्र कहलाए।[६] कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन काल में महाराष्ट्र की धार्मिक विचार-धारा द्राविड़ तथा आर्य संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित रही होगी तथा उसकी उपासना-पद्धति मे इन दोनों संस्कृतियों की देवमालाओं का समावेश हुआ होगा। इसके पश्चात् जब उत्तर-भारत में अहिंसा के समर्थक, पर निरीश्वरवादी, बौद्ध तथा जैन धर्मों का आविर्भाव हुआ, तब उनका प्रचार भी महाराष्ट्र मे हुआ होगा। ऐतिहासिक प्रमाणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि ईसा से पूर्व ही सातवाहन सम्राटों के शासन-काल में महाराष्ट्र में बौद्धधर्म की महायान शाखा का प्रचार होने लगा था।[७] महायान शाखा में अवतारवाद की कल्पना, पौराणिक देवताओं का समावेश, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व आदि तत्त्वों के कारण महाराष्ट्र में जैन धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का ही अधिक प्रचार हो सका। इस धर्म-प्रचार के लिए अवश्य ही प्रचारकों को अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करना पड़ा होगा जो तत्कालीन लोक-भाषा थी। अलिखित मराठी को अवश्य ही पूर्वकालीन अपभ्रंश भाषा का मार्ग-

१. महाराष्ट्र परिचय, पृ० ३३०।
२. महाराष्ट्रांचा वसाहतकाल (ऐतिहासिक विविध विषय, खण्ड १)।
३. राधामाधव विलास चम्पू, प्रस्तावना, भाग ३।
४. महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ८३२।
५. वही।
६. महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ८३२।
७. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ५६।

दान एवं सहयोग मिला होगा।[१] तेरहवीं शताब्दी की ग्रन्थ रचना में ओवी अभंग-आरती आदि अपभ्रंश के मात्रावृत्तानुसार[२] छन्दों का प्रमुखता से प्रयोग अपभ्रंश भाषा में इन छन्दों की लोकप्रियता को सूचित करता है।

मराठी आदि-काव्य के आध्यात्मिक रूप के परीक्षण से प्रतीत होता है कि ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व महाराष्ट्र में विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का प्रचार, मातृवर्ण तन्त्र, ग्रामदेवताओं की उपासना आदि के सम्मिश्रण से आचार में धार्मिक विषमताएँ तथा पाखंड प्रबल हो उठे थे तथा आचार विचारों के बवंडर में जनता सच्चे धर्म से विमुख होने लगी थी। दक्षिण में वैष्णव और शैवों का परस्पर विरोध, नाथों व गोरख पंथ, महायान-सम्प्रदाय की मठ-व्यवस्था, ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड, शाक्तों का बलिविधान, शैवों का तन्त्र, हठयोग आदि व्यवस्थाएँ जनसाधारण को गलत मार्ग की ओर अग्रसर कर रही थीं। इसीकी प्रतिक्रियास्वरूप जनसाधारण की धर्म भावना को उच्च स्तर पर उठाने के लिए मराठी के आदि काव्य का प्रादुर्भाव हुआ और वह नाथ, महानुभाव, वारकरी, दत्त, समर्थ आदि धर्म पन्थों के आश्रय में अंकुरित एवं पल्लवित हुआ। वस्तुतः महाराष्ट्र के महानुभाव तथा वारकरी दोनों पन्थों का प्रादुर्भाव जनसाधारण के उत्थान के लिए ही हुआ था। इन दोनों पन्थों ने मोक्ष मार्ग का ही प्रचार किया यद्यपि वारकरी पन्थ का झुकाव प्रवृत्तिपरक भक्ति की ही ओर अधिक रहा। प्राथमिक आवश्यकता की दृष्टि से इन दोनों पन्थों के निवृत्ति मार्ग की ओर झुकाव का कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही थी। यह काल धर्म ग्लानि का काल था। विदेशी आक्रमण तथा विविध उपासना-पद्धतियों के कारण वैदिक परम्परा निष्प्रभ-सी हो गई थी तथा परिवर्तनशील परिस्थिति में समाज को नई प्रेरणा देने की सामर्थ्य इस धर्म-संस्था में नहीं रही थी। धर्म केवल यज्ञयाग, व्रत-वैकल्य, जप-जाप तक ही सीमित हो गया था। उच्च वर्ग में भोग विलास का बोलबाला था। ब्राह्मण और क्षत्रिय कर्तव्यच्युत हो गए थे। जैन और लिंगायत पन्थ शूद्रों को धर्मज्ञान देने का प्रयत्न कर रहे थे। इसका स्पष्ट चित्र रामदेव राव द्वारा पंढरपुर के मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा हेमाद्रि जैसे पंडितों द्वारा स्मृति ग्रन्थों पर रचित टीकाओं में देखा जा सकता है। निश्चय ही ये प्रयत्न वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन की दिशा में हुए थे। तुकाराम के वचन—'अर्थें लोपलीं पुराणें' 'नाश केला शब्द ज्ञानें', विषय लोभी मनें', साधनें बुडविलीं',[३] कुछ शताब्दियों बाद ही क्यों न हो, ऐसी ही परिस्थिति के अस्तित्व को व्यक्त करते हैं। इस धार्मिक पुनरुज्जीवन का मुख्य उद्देश्य जन साधारण का उत्थान होने के कारण ही महानुभाव पन्थ के आचार्यों ने ग्रन्थ रचना संस्कृत में न कर के लोक-भाषा मराठी में करने पर जोर दिया—'न को गा केशव दया येणे माझीया म्हातारीया नागवतिल' यही दृष्टि ज्ञानेश्वर की भी थी।[४]

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार महानुभाव तथा वारकरी

---

१ महाराष्ट्र परिचय पृ० ३३०।

२ अपभ्रंश आणि मराठी छंद प्रो० वेलणकर-सह्याद्रि अगस्त १९४०।

३ तुकाराम गाथा पृ० ५२०।
पुराणों के अर्थ का लोप हो गया। शब्दज्ञान ने सर्वनाश कर डाला। विषयों ने मन को लुभा लिया और इस प्रकार सारे साधन डूब गए।

४ मराठी साहित्य का इतिहास ना० वा० गोडबोले पृ० १०।

पन्थों का झुकाव निवृत्ति-मार्ग की ओर होने के कारण ही भगवद्गीता को प्रमाण मानकर महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति का विकास हुआ। परिस्थितियों की इस पार्श्वभूमि को समझने के लिए मराठी कृष्ण-काव्य के उत्थान तथा क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा।

मराठी के आद्य कवि मुकुन्दराज माने जाते हैं। इनके निश्चित काल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं है। इनकी भाषा-शैली भी इतनी प्राचीन नहीं जान पड़ती जितनी ज्ञानेश्वर की है, तथापि वे ज्ञानेश्वर से लगभग एक शताब्दी पूर्व के कवि माने जाते हैं। मुकुन्दराज नाथ-सम्प्रदाय के कवि थे और उन्होंने 'ओंवी' नामक मराठी अक्षर-छन्द में 'विवेक-सिन्धु' और 'परमामृत' नामक दो ग्रन्थों की अद्वैत वेदान्त पर रचना की है। इस समय महाराष्ट्र में ही नहीं, अपितु समस्त भारत में वेदान्त का प्रचार था। वेदान्त चातुर्वर्ण्य पर आधारित होने के कारण समाज के दैनिक व्यवहार में भी जाति-भेद की विषमता फैली हुई थी। समस्त मराठी समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया था तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय निम्न वर्णों को हीनता की दृष्टि से देखते थे। इतना ही नहीं, उन्हें वैदिक मार्ग से वंचित भी रखा जाता था। वैदिक धर्म के अन्तर्गत अनेक देवताओं की उपासना की प्रथा थी। शंकराचार्य के 'केवलाद्वैत सिद्धान्त' तथा 'पंचायतन' की स्थापना से सभी देवताओं की उपासना का प्रचलन महाराष्ट्र में रूढ़ हो गया था। हेमाद्रि पंडित के 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करने के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रतों का आयोजन किया गया था। इस धर्म-विधान के कारण समाज का निम्न वर्ग बुरी तरह से पिस रहा था। चातुर्वर्ण्य की इस विषमता से बचने के लिए गौतम बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता पर आक्रमण करके चातुर्वर्ण्य मिटा डालने का प्रयत्न किया था, पर वे इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। ठीक ऐसा ही प्रयत्न महावीर ने भी किया था, पर वे भी इस प्रयत्न में असफल रहे। चातुर्वर्ण्य से टक्कर लेने के कारण बौद्ध धर्म की जड़ें हिल गईं और जैन धर्म को तो अन्त में वर्ण-व्यवस्था का ही आश्रय लेना पड़ा। महाराष्ट्र के दक्षिण में कन्नड़ प्रदेशवासी बसव ने लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना करके वैदिक धर्म को ललकारा था। इस सम्प्रदाय ने बाल-विवाह की प्रथा की उपेक्षा करके प्रौढ़-विवाह तथा विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा चलाई थी। लगभग इसी काल में महानुभाव पंथ कर्म-जागृति का कार्य कर रहा था। महानुभाव पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने यादवकालीन महाराष्ट्र की इन विषम परिस्थितियों को समझा था। इसीलिए बहुदेववाद और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके उन्होंने एकेश्वरवाद और निवृत्ति-मार्ग को महत्त्व दिया। सभी उपासनाओं का अन्तिम साध्य मोक्ष होने के कारण उन्होंने जनता को मोक्ष का मार्ग दिखाया। बहुदेववाद के निर्मूलन के लिए उन्हें द्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन करना पड़ा। इसी प्रकार गीता के आधार पर उन्होंने मोक्ष का मार्ग स्त्री और शूद्रों के लिए भी खोल दिया। इतना ही नहीं, चातुर्वर्ण्य का खण्डन करने के लिए उन्होंने पंथ के आचार-धर्म में चारों वर्णों के घरों से भिक्षा स्वीकार करने का आदेश दिया है।

'चातुर्वर्ण्य चरेत् भैक्ष्यम्'[1]

१. सूत्रपाठ, स० ह० ना० नेने, आचार, ८१।

स्वामी चक्रधर के पूर्व दक्षिण के आलवार भक्तों ने और रामानुजाचार्य ने वैष्णव भक्ति का प्रचार करते कृष्ण और विष्णु के अभेद को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था। प्राचीन परम्परा के आधार पर स्वामी चक्रधर के लिए यह कल्पना जनता को भ्रम में डालने वाली लगी। अतः सबसे पहले उन्होंने श्रीकृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानकर उन्हें विष्णु से भिन्न प्रमाणित किया। स्वामी चक्रधर ने एक-दो स्थानों पर स्वयं अपने को भी कृष्ण का अवतार माना है। शंकराचार्य के केवलाद्वैत सिद्धान्त का खण्डन करके सच्चे धर्म की प्रतिष्ठापना को ही उन्होंने अपना अवतार कार्य समझा।

यादवकालीन महाराष्ट्र की इन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण ही महानुभाव पंथ के आचार और तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। स्पष्ट ही तत्कालीन महाराष्ट्रीय जनता में धर्म भावना की कमी नहीं थी अपितु उनकी धर्म भावना इतनी प्रबल थी कि वह अनेक देवताओं की उपासना के बवंडर में सात्वत धर्म से विमुख होने लगी थी। इसीलिए महानुभाव कृष्ण-काव्य में तत्त्व निरूपण और आचार को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ब्राह्मण धर्म का घोर विरोधी होने के कारण इस पंथ के ग्रंथों की रचना सकल, सुन्दरी, अंक, वज्र, सुभद्रा सिंह, मात्स्य आदि लिपियों में हुई। महानुभाव पंथ के ग्रंथ लिपि-बद्ध होने के कारण तथा इस पंथ में निवृत्ति मार्ग का ही स्वीकार होने के कारण इस पंथ का तत्त्वज्ञान उच्च आदर्शों पर आधारित होते हुए भी साधारण गार्हस्थ्य जीवन तक नहीं पहुँच सका। इस पंथ को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हुए भी बहुत ही कम लोग उसका अनुसरण कर सके। आश्चर्य की बात तो यह है कि लिपि-बद्ध होने के कारण महानुभाव ग्रंथ कई शताब्दियों तक अप्रकाशित ही पड़े रहे। १९२५ में य० खु० देशपाण्डे ने 'महानुभावीय मराठी वाङ्मय' की रचना करके इस पंथ पर कुछ प्रकाश डाला था। बाद में वि० भि० कोलते ने अपने प्रबन्ध 'महानुभावाचे तत्त्वज्ञान' में इस पंथ के तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म विवेचन करके मराठी जनता को उसका महत्त्व समझाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। महानुभाव पंथ की अलिपिबद्ध कविता की सर्जना मराठी की आद्य कवयित्री महदम्बा ने की। महदम्बा महानुभाव पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर के मुख्य शिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। इस कवयित्री ने विवाह प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण भक्ति रस से परिपूर्ण 'धवले' लिखे हैं, जो अभंग छन्द की ही भाँति चार समान चरणों वाला अनियमित अक्षर-संख्या का छन्द है। महदम्बा के 'धवलों' द्वारा मराठी की अतुकान्त कविता का आरम्भ माना जाता है। स्वामी चक्रधर के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य माहे व्यास ने 'पूजावसर' ग्रन्थ की रचना की, जिसमें श्री चक्रधर का जीवन चरित दिया गया है।

महानुभाव पंथ निवृत्ति निष्ठ वेद विरोधी और सामान्य जनता से दूर होने के कारण ही महाराष्ट्र में वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिए सन्त ज्ञानेश्वर का प्रादुर्भाव हुआ। सन्त ज्ञानेश्वर ब्राह्मण होते हुए भी शूद्र वर्ग में धकेल दिये गए थे। शूद्र वर्ग और स्त्री जाति के लिए वैदिक परम्परा ने आध्यात्मिक उन्नति के द्वार बन्द कर रखे थे। केवल गीता ने ही उन्हें आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बताया था। शूद्रों तथा स्त्रियों को धर्म का अधिकार देने के लिए स्वामी चक्रधर पहले ही गीता को प्रमाण मान चुके थे। सन्त ज्ञानेश्वर ने भी गीता का ही आश्रय लिया। १२९० ई० में उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की। ज्ञानेश्वरी'

भगवद्गीता के अठारह अध्यायों पर नौ हजार ओवियों की पद्यात्मक टीका है तथा मराठी साहित्य में उसका अपूर्व स्थान है। 'ज्ञानेश्वरी' में वे लिखते हैं—

वेद सम्पन्नु होय ठाईं। परी कृपणु ऐसा आनु नाहीं।
जे कानीं लागला तिहीं। वर्णाचाचि ।।
येरां भवव्यथा ठेलियां। स्त्री शूद्रादिकां प्राणियां।
अनवसरु मांडूनियां। राहिला आहे ।।
तरी मज पाहतां तें भागील उणें। फेडावया गीतापणें।
वेदु वेठला भलतेणें। सेव्य होआवया ।।[1]

(वेद सम्पन्न अवश्य हैं, पर उन जैसा कोई कृपण भी नहीं है, क्योंकि वे केवल तीनों वर्णों को ही श्रुति-गोचर हैं। उन्होंने स्त्री और शूद्रों को वंचित रखा है। मेरे विचार में इस कमी को दूर करने के लिए ही वेद पुनः गीता के रूप में प्रकट हुए हैं।)

वस्तुतः शूद्र और स्त्री-वर्ग के उद्धार के लिए ही ज्ञानेश्वर ने गीता पर टीका लिखी है। उनके इस कार्य का जनता पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। परम्परावादी होने के कारण सन्त ज्ञानेश्वर ने चातुर्वर्ण्य को बनाए रखने में ही योग दिया तथा अद्वैत का समर्थन किया। बौद्ध और जैन धर्मों की ही भाँति महानुभाव पन्थ में भी संन्यास को आध्यात्मिक दृष्टि से प्रधानता दे रखी थी। स्वामी चक्रधर ने कहा था—

कर्म-धर्म-विधि विखोत्यजूनि परमेश्वरांशरण रिगावे।

(कर्म, धर्म, विषय आदि सब-कुछ छोड़कर ईश्वर की शरण जाओ।)

कर्म और विषय-त्याग के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। केवलाद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी संन्यास को आवश्यक माना था, परन्तु संसार के सब लोगों को संन्यास ग्रहण करना सम्भव नहीं था। इसीलिए ज्ञानेश्वर ने संन्यास-मार्ग को स्वीकार नहीं किया। वे गृहस्थाश्रम में रहकर ही ईश्वर-प्राप्ति का मन्त्र जनता को देना चाहते थे। अतः ज्ञानेश्वरी में उन्होंने निष्काम कर्मवाद का समर्थन किया। निष्काम-बुद्धि से अपने कर्म करते हुए ईश्वर-पूजा करने से ही परमेश्वर सन्तुष्ट होता है। इसीलिए वे कहते हैं—

तया सर्वात्मका ईश्वरा। स्वकर्म कुसुमांची वीरा।
पूजा केली होय अपारा। तोषालागीं ।[2]

(सर्वात्म ईश्वर की अपने कर्म-रूपी पुष्पों से पूजा करने से ही वह सन्तुष्ट होता है।)

आध्यात्मिक क्षेत्र में सब वर्णों को तथा पापियों समान अधिकार देते हुए गीतोक्ति को प्रमाण मानकर सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

यापरी पापयोनी ही अर्जुना। कां वैश्य शूद्र अंगना।
मातें भजतां सदना। माझिया येती।[3]

(स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापी, सब मेरा भजन करने से मुझे प्राप्त होते हैं।)

---

१. ज्ञानेश्वरी, अ० १८, १४५६-५८।
२. वही, १८.९१७।
३. वही, ९.४७४।

ज्ञानेश्वरी की रचना में सामाजिक विषमता और चातुर्वर्ण्य का विरोध ही मुख्य रूप से प्रेरक रहा है। ज्ञानेश्वरी के द्वारा कर्म, योग और भक्ति का सुन्दर समन्वय करके सन्त ज्ञानेश्वर ने जनसाधारण को उपासना का एक सुगम मार्ग दिखाया।

'ज्ञानेश्वरी' के अतिरिक्त सन्त ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' तथा कुछ स्फुट अभंगों की भी रचना की है। ज्ञानेश्वर के समकालीन कई अन्य सन्त-कवि हो गए हैं जिनमें से अधिकांश नीची जाति के थे। नामदेव, जनाबाई, गोरा कुम्हार, सावता माली, विसोबा खेचर, नरहरि सुनार, बंका महार चोखा मेला, परसा भागवत, चाङ्गोवाया पतुरिया, सेना नाई, सजन कसाई आदि इसी कोटि में आते हैं। ये सब वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वारकरी सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति-परक था।

ज्ञानेश्वरी के ही समान वारकरी पंथ भी कृष्ण भक्ति-परक था तथा जाति-भेद की विषमता की पार्श्वभूमि पर ही उभरा था। काव्य के इतिहास की दृष्टि से इन सन्तों में नामदेव तथा एकनाथ उल्लेखनीय हैं। सन्त नामदेव जाति के दर्जी थे। उनका काल १२७०-१३५० ई० माना जाता है। अपनी जाति के कारण ही उन्हें अनेक उपहासों और अपमानों का सामना करना पड़ा। ब्राह्मणों ने उन्हें बुरी तरह से दुत्कारा था और उन्हें अपने साथ न बिठाकर मन्दिर के एक कोने में बिठाया था। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए नामदेव कहते हैं—

जाति नाहीं म्हणोनी कायसी पंगती।
बैसोनी एकांती बैसवीलें ॥[1]

(जातिहीन होने के कारण अपनी पंक्ति में न बिठाकर ब्राह्मणों ने उन्हें एक कोने में बिठाया।)

जाति भेद पर प्रहार करते हुए वे आगे कहते हैं—

कुश्चल भूमीवरी उगवली तुळसी,
अपवित्र तियेसी ह्मणों नये।
नामा म्हणे तैसा जातीचा मी शिंपी,
उपमा जातीची देऊं नये॥[2]

(अपवित्र स्थान पर यदि तुलसी का पौधा उग आए तो उसे अपवित्र नहीं कहना चाहिए। उसी तरह, नामदेव कहते हैं मैं भी जाति का दर्जी हूँ, अतः जाति की उपमा न दीजिये।)

इसी प्रकार एक हिन्दी-पद में वे कहते हैं—

हीन दीन जात मोरी पंढरी के रामा।
ऐसा तुमने नामा दरजी कायकू बनाया॥
टाल बिना लेकर नामा राउल में आया
पूजा करते बह्मन उन्हें बाहेर ढकाया[3]

---

१ नामदेव गाथा क्र० १५०२।
२ वही क्र० १७५।
३ वही क्र० १८६८।

इन उल्लेखों से दिखाई देता है कि निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण उस समय सन्त भी ब्राह्मणों द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। इसी वर्ण-व्यवस्था से त्रस्त होकर सेना नाई कहता है—

मी तो आहे जाति हीन, माझा राखा अभिमान ॥[1]

(मैं जातिहीन हूँ। मेरी प्रतिष्ठा आपके हाथ में है। आप ही उसे बनाए रख सकते हैं।)

चोखा महार के अभंगों मे भी यही दैन्य व्यक्त हुआ है। चोखा मेला के निम्नलिखित अभंग से शूद्रों की तत्कालीन स्थिति का सही-सही दर्शन होता है।

जोहार मायबाप जोहार। तुमच्या महाराचा मी महार।
बहु भुकेला जाहलों। तुमच्या उष्ट्यासाठी आलों।
बहु केली आस तुमच्या दासाचा मी दास।
चोखा म्हणे पाटी। आणिली तुमच्या उष्ट्या साठी।[2]

प्रणाम माय बाप प्रणाम। मैं तुम्हारे चमार का भी चमार हूँ। बहुत भूखा हो गया था। इसीलिए आपके जूठन के लिए बड़ी आशा से आ पहुँचा हूँ। मैं आपके दासों का भी दास हूँ। चोखा कहता है, आपका जूठन ले जाने के लिए टोकरी लाया हूँ।

जाति-भेद के कठोर नियंत्रण के कारण ही यज्ञयागादि से वंचित शूद्र जाति में उत्पन्न वारकरी संतों ने विट्ठल-भक्ति का मार्ग अपनाया और भक्तिपूर्ण अभंगों की रचना की। वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त नामदेव माने जाते हैं। उनकी रचना सूर की तरह मुख्यत. पदों में हुई है तथा उनमे यत्र-तत्र कृष्ण की रासलीलाओ से सम्बन्धित शृंगार-प्रधान पद भी समाविष्ट है। परन्तु ऐसे पद उत्तान-शृंगार की मादक झाँकी प्रस्तुत न करके भाव-दर्शन और परम्परा को ही चरितार्थ करते हैं।

संत ज्ञानेश्वर और नामदेव के पूर्व ही उत्तर भारत मे यवन राजाओं ने मूर्तियों को तोड़ना आरम्भ कर दिया था। ज्ञानेश्वर के समाधिस्थ होने के एक वर्ष पूर्व, १२९५ में अलाउद्दीन खिलजी का दक्षिण हिन्दुस्तान पर आक्रमण आरम्भ हो गया था। इस आक्रमण में अलाउद्दीन ने देवगिरि पर अधिकार जमाकर अपार धन-सम्पत्ति लूटी और यादव राजाओं को अपना माण्डलिक बना लिया। सन् १३०९ में मलिक काफ़ूर द्वारा रामदेवराव यादव पकड़ लिया गया और बाद में मुक्त कर दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद हरपालदेव सिंहासन पर बैठा, परन्तु मुसलमानों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने के कारण अलाउद्दीन की आज्ञा से मलिक काफ़ूर ने खाल खींचकर उसकी हत्या कर डाली। हरपाल-देव की मृत्यु के साथ ही सन् १३१५ मे महाराष्ट्र का स्वातन्त्र्य-दीप बुझ गया और परतन्त्रता का नैराश्य चारों ओर छा गया। सामंतों और क्षत्रियों ने मुसलमान शासकों की दासता स्वीकार कर ली। मुसलमान शासक एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ मे कृपाण लिये हुए आगे बढ़ रहे थे, अतः वे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना रहे थे। कई ब्राह्मणों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। 'बरार के पाथरी गांव के भैरव कुलकर्णी तथा उसके बेटे

१. श्री सन्त गाथा, सेनान्हावी, १२७.
२. श्री सन्त गाथा, सेनान्हावी, १९०।

तिमाभट ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस तिमाभट ने ही आगे चलकर अहमदनगर में निजामशाही की स्थापना की। एलिचपुर (बरार) की इमादशाही का स्थापक फतेहअली भी ब्राह्मण ही था।''[१]

मुसलमानों के सम्पर्क एवं आधिपत्य के कारण ब्राह्मणों के आचार में अब इस्लाम को भी महत्त्व मिलने लगा था तथा हिन्दू सन्तों के समान फकीरों और पीरों की पूजा भी चल पड़ी थी। इन्हीं परिस्थितियों में दत्त-सम्प्रदाय तथा सन्त एकनाथ का प्रादुर्भाव हुआ।

चौदहवीं शताब्दी में दत्त-सम्प्रदाय के प्रणेता नृसिंह सरस्वती तथा जनार्दन स्वामी का अवतरण हुआ। दत्त-सम्प्रदाय की स्थापना में श्री दत्तात्रेय के रूप में अनेक देवताओं का एकीकरण हुआ तथा आचार पर जोर देकर मुसलमानी सत्ता एवं धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा की गई। इस दृष्टि से दत्त-सम्प्रदाय पूर्ण रूप से समन्वयवादी रहा है। उपर्युक्त सन्तों के शिष्य गंगाधर सरस्वती 'गुरु चरित्र' के रचयिता माने जाते हैं। 'गुरु-चरित्र' दत्तात्रेय सम्प्रदाय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा उसका मुख्य विषय है कर्मकाण्ड। महाराष्ट्र में यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है तथा आज भी हजारों लोग नियमपूर्वक उसका पठन पाठन करते हैं। वस्तुतः मुसलमानी राज सत्ता तथा इस्लाम धर्म के सम्मुख अपने आचरण के बल पर ही स्वामी नृसिंह सरस्वती ने वैदिक चातुर्वर्ण्य की स्थापना करके स्त्री-पुरुषों को आचार-धर्म का मार्ग दिखाया। संक्षेप में नृसिंह सरस्वती तथा 'गुरु चरित्र' का सिद्धान्त है—

समस्त सृष्टी ईश्वराची। स्थावर जंगम रचिली साची।
सर्वत्र देव असे साची। तर्क भेद असत्य॥

(जड़ और चेतन, समस्त विश्व की सृष्टि ईश्वर ने ही की है। हर वस्तु में भगवान् विद्यमान है। परन्तु तर्क और भेद असत्य हैं।) 'गुरु-चरित्र' का रचना-काल सन् १५५७ माना जाता है।[२]

सन्त एकनाथ का काल १५३३-१५९९ ईस्वी माना जाता है। एकनाथ ने 'भागवत', 'भावार्थ रामायण' 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। अन्य वारकरी सन्तों की भाँति एकनाथ का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी रहा है तथा जाति भेद का उन्होंने घोर विरोध किया है। 'ज्ञानेश्वरी' के पश्चात् प्राचीन मराठी काव्य में एकनाथ की भागवती टीका अत्यन्त लोकप्रिय हुई है तथा साहित्यिक गुणों में किसी भी तरह 'ज्ञानेश्वरी' से कम नहीं है। भागवती टीका के माध्यम से एकनाथ ने संस्कृत भागवत को सर्वसाधारण तक पहुँचाकर उसे लोकानुरंजिनी तथा लोकोपयोगी बना दिया। एकनाथ का काव्य तुलसीदास के समान सरल, साधारणीकरण-युक्त तथा अर्थ सुलभ है इसीलिए वह अधिक प्रसादपूर्ण एवं लोकप्रिय हुआ।

सन्त एकनाथ ने अहंकार रहित सौजन्य, सबके प्रति समान दृष्टि, दीनों की सहायता तथा कीर्तन प्रवचन और सदाचार का उपदेश जनता को दिया और हिन्दू धर्म में एक नई चेतना उत्पन्न की। पीर-पूजा का निषेध करते हुए वे कहते हैं—

घेऊनि देहा अवतार। करिती दुष्टांचा सहार।
पुढें कसीचा प्रथम करत। देखतें राहिलीं सपुन॥

---

१ मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य डॉ० बि० सि० कोलते, पृ० ६५।
२ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, दूसरा खण्ड पांगारकर, पृ० २११।

तीर्थे सांडोनी महिमान, अठरा वर्ण एक झाले।
म्लेच्छें गांजिलें देवभक्तां, महिमा उच्छेदिला सर्वथा।
न चले जपतप तत्वता, एक रूप सर्व झाले।
बया दार लाव।[1]

(दशावतार धारण करके तुमने दुष्टों का संहार किया। अब कलियुग का प्रथम चरण आया है। तीर्थ छोड़कर देवता छिप रहे हैं। अठारह वर्ण एक हो गए हैं। म्लेच्छों ने देव-भक्तों को विकल कर दिया है। उनकी महिमा का उच्छेद कर दिया है। जप-तप काम नहीं देता। सब लोग एकरूप हो गए हैं। हे देवी, अब तो दरवाजा बन्द करो!)

एकनाथ की परम्परा के मुख्य कवि दासोपंत (१५५१—१६१५ ई०), त्र्यम्बकराज (१५८० ई० के लगभग), शिवकल्याण (१५६८—१६३८ ई०) तथा रमावल्लभदास आदि है। इनके काव्य में सर्वत्र कृष्ण-प्रेम की ही अभिव्यंजना हुई है। त्र्यम्बकराज का ग्रन्थ 'बालबोध' वेदान्त तथा ओंकारोपासनापरक है। शिवकल्याण ने 'नित्यानन्दैक्य दीपिका', 'रास पंचाध्यायी', 'ब्रह्मस्तुति' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका मुख्य विषय श्रीकृष्ण-चरित्र-गायन ही है। रमावल्लभदास की गीता पर 'चमत्कारी टीका' प्रसिद्ध है। 'चमत्कारी टीका' में गीता के अध्यात्म को और भी सुबोध एवं ग्राह्य बनाया गया है तथा समस्त ग्रन्थ कृष्ण-भक्ति रस से ओत-प्रोत है।

प्राचीन मराठी काव्य की अन्तिम कड़ी के रूप में मुक्तेश्वर का नाम आता है। इनके काल के विषय में अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर अधिकतर विद्वान् इन्हें सन्त एकनाथ का भानजा मानते है तथा उनका समय १६०० से १६५० के आसपास निश्चित करते हैं। मुक्तेश्वर की सबसे प्रसिद्ध रचना 'महाभारत' है, पर वह सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके आदि, सभा, वन, विराट तथा सौप्तिक पाँच ही पर्व आज उपलब्ध है। मुक्तेश्वर की कविता में लोकोत्तर प्रसाद, दिव्य ओजस्विता तथा सृष्टि-सौन्दर्य की अनुपम शोभा संग्रहीत है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है आख्यान कविता की सर्जना, जिसके सर्वप्रथम प्रवर्तक मुक्तेश्वर रहे है। सन्त ज्ञानेश्वर को यदि सन्त-साहित्य का भित्ति-चालक[2] कहा जा सकता है तो मुक्तेश्वर को लौकिक साहित्य की नींव डालने वालों में अग्रगण्य माना जा सकता है। महाभारत के अतिरिक्त मुक्तेश्वर ने कुछ स्फुट प्रकरणों तथा आरतियों की भी रचना की है जिनमे कई नीति-पद भी है।

प्रस्तुत विषय की सीमाओं के अन्तर्गत कृष्ण-भक्ति-परम्परा के अन्तिम मुख्य सन्त-कवि के रूप में तुकाराम उल्लेखनीय हैं। तुकाराम का जन्म-काल १६०८ ई० माना जाता है। तुकाराम ने अपने काव्य की रचना अभंगों में की है। उनके सभी अभंग भजनोपयोगी हैं। संकीर्तन उनके आचार का प्रधान अंग होने के कारण उनके सभी अभंग हृदय से प्रस्फुटित हुए है। इसीलिए उनमें गेयता के साथ-साथ हृदयगत भावों के आरोह-अवरोह का सुन्दर चित्र अंकित हुआ है। तुकाराम के अभंग परमेश्वर-विषयक, अनुनय-विनय, उपालंभ, दास्य,

---

१. एकनाथ गाथा, अ० ३६१५।
२. कहा जाता है कि चांगदेव नामक योगी से भेंट के अवसर पर श्री ज्ञानेश्वर ने उस दीवार को चलाया था जिस पर वे उस समय बैठे हुए थे।

प्रेम, वात्सल्य भावों से ओत प्रोत हैं तथा उनका काव्य स्वानुभूत एवं हृदय से स्फुरित होने के कारण महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। तुकाराम ने कृष्ण-गोपी-लीलाओं को लेकर भी कुछ अभंगों की रचना की है, पर वे संख्या में बहुत कम और परम्परानुरूप होने के कारण उनमें सन्त तुकाराम की स्वाभाविक भावुकता तथा विह्वलता के, जो अन्य अभंगों में कूट-कूटकर भरी हुई हैं, दर्शन नहीं होते। कबीर की भाँति सन्त तुकाराम ने भी व्यावहारिक दम्भ और पाखण्ड को आड़े हाथों लिया है तथा कबीर की ही भाँति उनकी रचनाएँ भी लोकोक्ति-रूप बन गई हैं।

तुकाराम के खण्डनात्मक एवं ओजस्वी अभंगों ने भौतिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक नैतिक-बल-संवर्धन का कार्य किया है। इस खण्डन के साथ-ही-साथ धर्माभिमान, स्वामि-निष्ठा, शरीर-सुख की उपेक्षा, धर्म-नीति का श्रेष्ठत्व, धर्म कर्म की अपेक्षा, चित्त शुद्धि तथा सदाचार का महत्त्व आदि उच्चतर जीवन मूल्यों का परिचय सन्त तुकाराम ने सर्वसाधारण जनता को कराया। उनके इस विधायक कार्य ने ही शिवाजी के कार्य के लिए उपयोगी, ध्येयनिष्ठ सुघटित तथा कार्यक्षम मराठा समाज तैयार किया।[1]

सन् १६४६ में महाराष्ट्र में स्वराज्य-स्थापना के बाद यवन सरकारों को उखाड़ फेंकने और भारतीय संस्कृति की पुनः स्थापना करने का भरसक प्रयत्न होने लगा। शान्ति के इस युग में संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन हुआ और साथ ही पौराणिक और संस्कृत ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद भी होने लगा। संस्कृत छन्दों का मराठी में अधिकाधिक प्रयोग होने लगा और भाषा भी संस्कृत के ढंग पर लिखी जाने लगी। शान्ति और समृद्धि के इस युग ने मराठी के पंडित कवियों को जन्म दिया। पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य गुणों और शृंगारिक वर्णनों की ओर अधिक थी। यह प्रवृत्ति कृष्ण-लीला वर्णनों में अधिक प्रकट हुई है। परन्तु, प्राचीन परम्परा, सन्त काव्य और स्वराज्य काल के नैतिक बन्धनों के कारण उनके शृंगार में हिन्दी-उत्तान शृंगार का रंग अधिक नहीं चढ़ सका। पेशवा-काल में जब महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का दीप हतप्रभ होने लगा और विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। तब यही शृंगारिक प्रवृत्ति अश्लील लावणियों में मुखरित हो उठी।

उपर्युक्त परिस्थितियों से स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्रीय सन्तों ने गीता और महाभारत के कृष्ण को ही अपने काव्य का विषय क्यों बनाया। वास्तव में कृष्ण के इन रूपों का गुणगान करके पथभ्रष्ट समाज में धर्म की पुनःस्थापना करना ही इन सन्तों को अभीष्ट था। इसीलिए भागवत पुराण का पर्याप्त प्रचार होते हुए भी उन्होंने कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं को अपने काव्य में अधिक महत्त्व नहीं दिया वरन् परम्परा से ज्ञात कृष्ण के योगेश्वर रूप का ही मुख्यतः वर्णन किया है। शृंगारिक और बाल-लीलाओं का वर्णन प्रासंगिक मात्र है। इस दृष्टि से मराठी कृष्ण-कविता बहुविध है। उसमें हिन्दी की भाँति एकरसता दृष्टिगत नहीं होती।

मराठी कृष्ण-काव्य के स्वरूप निर्धारण में महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महाराष्ट्र पहाड़ी प्रदेश है। उत्तर भारत की भाँति यहाँ की भूमि उपजाऊ नहीं है। बिना कठिन परिश्रम के फसल नहीं होती। अतः यहाँ की जनता उत्तर

1. महाराष्ट्र परिचय, पृ० ४४६

भारत की अपेक्षा धनहीन है। बिना एड़ी-चोटी का पसीना एक किये पेट भरना जनता के लिए असम्भव है। इसीलिए महाराष्ट्र के लोग स्वभाव से ही परिश्रमी हैं। वे बुद्धिजीवी और श्रमजीवी एक साथ हैं। जीवन का सारा समय जीवन-यापन में व्यतीत होने के कारण विलासिता की ओर प्रवृत्त होने के लिए न तो उनके पास समय है, और न साधन। जनता की इन स्वाभाविक और प्रदेश की भौगोलिक विशेषताओं का भी मराठी के कृष्ण-काव्य पर प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा है और इसीलिए मराठी कवियों की प्रवृत्ति कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं की ओर उतनी नहीं रही जितनी अन्य प्रदेशों के कृष्ण-भक्त कवियों की रही है। मराठी कृष्ण-काव्य पर राष्ट्रीयता का अनूठा रंग चढ़ा हुआ दृष्टिगत होता है।

दक्षिण में आचार्यों द्वारा कृष्ण-भक्ति की स्थापना और महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति की स्थापना लगभग एक ही काल तथा एक-सी ही परिस्थितियों में सम्पन्न हुई-सी प्रतीत होती है।

कर्नाटक का प्रभाव तथा विट्ठल की कल्पना

दक्षिण की ही भाँति महाराष्ट्र में भी कृष्ण-भक्ति-मार्ग पर आलवारों का विशेष प्रभाव अभिलक्षित होता है। आलवारों की भाव-विह्वलता तथा रससिक्त भजनों की लोकप्रियता ही वह कारण प्रतीत होती है जिससे विष्णु के अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्णावतार को लेकर ही भक्ति-काव्य की सर्जना हुई। इतना अवश्य है कि कृष्ण-भक्ति में कृष्ण को पुराणों की परम्परानुसार विष्णु का ही पूर्णअवतार मानकर उपासना को प्रश्रय मिला। कृष्ण और विष्णु के अभेद की इस कल्पना के लिए जिस प्रकार पुराणों का समन्वयवादी दृष्टिकोण उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में महाराष्ट्र पर कर्नाटक का प्रभाव भी उत्तरदायी रहा है। महानुभाव पन्थ द्वारा निवृत्ति मार्ग का स्वीकार तथा वारकरी पन्थ में विट्ठल की कल्पना इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ है।

पहले कहा गया है कि विट्ठल कर्नाटक की कल्पना है। पांडुरंग मन्दिर के शिलालेख में संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा का प्रयोग[1] भी विट्ठल का कर्नाटक से आना निर्दिशित करता है। विट्ठल मूर्ति की प्राचीनता भी इसी बात को सूचित करती है। मैसूर राज्य के एक शिलालेख के अनुसार पुण्डलीक का समय शालिवाहन शक के प्रथम शक के लगभग निश्चित होता है। विट्ठल अथवा पांडुरंग की प्राचीनता प्राचीन संत-वाणी में भी व्यक्त हुई है। आद्य शंकराचार्य कहते हैं:—

परब्रह्मलिंगं भजे पांडुरंगम्।[2]

नामदेव उन्हे अट्ठाईस युग से ईंट पर खड़ा हुआ पाते है—

'युगे अट्ठावीस विटेवरी उभा।'[3]

(अट्ठाईस युगों से ईंट पर खड़े हैं।)

ज्ञानदेव नामदेव के मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

'हे मव्हे आजिकालिचें, युगे अट्ठावीसांचे।'[4]

---

१. महाराष्ट्र के पाँच सम्प्रदाय, पं० रा० गोकाशी, पृ० ७८।
२. प्रसाद, अप्रैल, १९५४, पृ० २८।
३. महाराष्ट्र के पाच संप्रदाय, पृ० ८०।
४. वही, पृ० ८०।

(वे आजकल ही नहीं अट्ठाईस युगों से यों ही खड़े हैं।)

तुकाराम का कथन है—

'युगे झाली अट्ठावीस अजुनी न म्हणसी बैस।'[1]

(अट्ठाईस युग हो गए, परन्तु अब भी बैठने की बात नहीं कहते।)

उपर्युक्त सभी उल्लेख विट्ठल की प्राचीनता की पुष्टि करते हैं। पर विट्ठल के प्राचीन होते हुए भी महाराष्ट्र में विट्ठल भक्ति का प्रचार कई शताब्दियों के बाद होना इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि महाराष्ट्र में प्रविष्ट होने के पूर्व विट्ठल भक्ति कर्नाटक देश में विद्यमान थी। मूर्ति के मस्तक पर शिवलिंग का अस्तित्व भी कर्नाटक में प्राचीन काल में विद्यमान शिव और विष्णु के भेद एवं तदनन्तर ऐक्य का द्योतक है। बदामी में विद्यमान चार प्राचीन मन्दिरों में से एक में हरिहर की मूर्ति इसी कथन की पुष्टि करती है।

दक्षिण की भाँति महाराष्ट्र में भी वैष्णव-शैव विरोध का सर्वथा अभाव रहा है। ऐसी दशा में विट्ठल मूर्ति में शिव विष्णु का ऐक्य महाराष्ट्र की किसी धार्मिक प्रवृत्ति विशेष को सूचित नहीं करता।

कर्नाटक में विट्ठल भक्ति का प्रचार अन्य कई बातों से भी प्रमाणित होता है। ई० स० १२८० के लगभग रुद्रभट नामक कन्नड कवि ने जगन्नाथ को ही विट्ठल कहा है।[2] तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में विद्यमान कन्नड कवि चोंडरस ने पंढरी क्षेत्र का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।[3] कन्नड कवि हरिदास तो पक्के विट्ठल-भक्त ही थे। आन्ध्र देश में आज भी पांडुरंग के कई मन्दिर बने हुए हैं। इसी प्रकार तेलुगु लोकगीतों में पांडुरंग तथा पंढरी के कई वर्णन मिलते हैं।[4] कर्नाटक के हरिदासों का विट्ठल भक्ति में विशेष हाथ रहा है।[5]

वारकरी पंथ के आचारधर्म के अन्तर्गत विष्णु और शिव का ऐक्य, अन्य धर्मों के प्रति उदारता, जाति भेद का खण्डन आदि में भी कर्नाटक का विशेष हाथ रहा है। कन्नड के प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि अन्य धर्मों के प्रति कर्नाटक का दृष्टिकोण आरम्भ से ही अत्यन्त उदार रहा है।[6] पर आश्चर्य की बात यह है कि ईसा की सातवीं शताब्दी तक कर्नाटक में कृष्णोपासना का कोई भी स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता। द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा निर्मित विरुपाक्ष लोकेश्वर, काशी विश्वनाथ, मल्लिकार्जुन आदि प्राचीन मन्दिरों के स्तम्भों पर श्रीकृष्ण-जीवन विषयक कथाओं के शिल्प[7] से इतना अवश्य विदित होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्व लोक में कृष्ण-कथाओं का बहुलता से प्रचार हो चुका था। यही स्थिति अल्पाधिक मात्रा में गुजरात की भी रही है। ऐसी दशा में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मराठी कृष्ण-काव्य को कर्नाटक की देन विट्ठल की कल्पना, हरिहर

---

१ महाराष्ट्र के पाँच संप्रदाय, पृ० ८० ।

२ नाथांचा भागवत धर्म, डॉ० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० ११७ ।

३ वही ।

४ वही ।

५ कर्नाटक दर्शन, पृ० २३४ ।

६ कर्नाटक दर्शन, पृ० १७८ ।

७ वही, पृ० ३५३-५४ ।

ऐक्य तथा धार्मिक सहिष्णुता ही रही है, पर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में कृष्णोपासना के स्वतंत्र रूप से आरम्भ में विशेषतया गुजरात का ही हाथ रहा है जो महानुभाव पन्थ के उदय में अभिलक्षित होता है।

मराठी काव्य पर गुजरात के प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व प्राचीन गुजरात में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा। गुजरात और काठियावाड़ के प्राचीन शिल्प के अवलोकन से प्रतीत होता है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त-राजवंश के आगमन के पूर्व गुजरात में वैष्णव उपासना का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।[1] वस्तुतः ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में गुजरात में शैव धर्म का ही प्रचार था। तत्पश्चात् बौद्ध एवं जैन धर्मों के बढ़ते हुए प्रचार की प्रक्रिया-स्वरूप सातवीं शताब्दी के लगभग गुजरात में लकुलेश पाशुपत सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ तथा वह समस्त गुर्जर देश मे लोकप्रिय हो गया। इस सम्प्रदाय का उल्लेख आदि शंकराचार्य ने भी किया है।[2]

गुजरात का प्रभाव और महानुभावों के कृष्ण

इस वस्तुस्थिति का समर्थन गुजरात के प्राचीन मन्दिरों एवं शिलालेखों के अवलोकन से भी होता है। गुजरात के सभी प्राचीन मन्दिर या तो शिव के हैं या शिव-विष्णु के। विष्णु के स्वतंत्र मन्दिर के सम्बन्ध मे केवल एक ही प्राचीन शिलालेख उपलब्ध है।[3] इसी प्रकार श्रीवर की देवपाटण-प्रशस्ति से रोहिणी-स्वामी मन्दिर का पता चलता है।[4] यद्यपि मन्दिर मे केशवादि की ही मूर्तियाँ थी, तथापि उसके नामकरण से प्रतीत होता है कि उसका निर्माण बलभद्र तथा रोहिणी की पुण्य-स्मृति में हुआ था।[5] गुजरात मे स्वतन्त्र रूप से कृष्ण-भक्ति का सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रमाण अनावाद का शिलालेख है जो सन् १३४८ का माना जाता है।[6] इस शिलालेख मे कृष्ण-पूजा के लिए दान तथा उसमें गीतगोविन्द के आरम्भिक पदों के उद्धरण से प्रतीत होता है कि गुजरात मे सर्वप्रथम कृष्ण-भक्ति का स्वतन्त्र रूप से प्रचार गीतगोविन्द की रचना के पश्चात् हुआ।[6] अतः आवश्यक था कि गुजरात की प्रारम्भिक कृष्ण-भक्ति में भागवत पर आधारित जयदेव की श्रृंगार-प्रधान भक्ति तथा प्राचीन वासुदेव-सम्प्रदाय की कृष्ण-भक्ति दोनों का प्रभाव पड़ता। यह प्रभाव स्वामी चक्रधर द्वारा प्रवर्तित महानुभाव पन्थ के तत्त्व-निरूपण में दृष्टिगोचर होता है।

महाराष्ट्र के आदि धार्मिक सम्प्रदाय महानुभाव-पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर माने जाते हैं। स्वामी चक्रधर स्वयं महाराष्ट्रीय नही थे। वे भरवस (वर्तमान भड़ौंच) के गुजराती राजा विशालदेव के पुत्र थे तथा उनका पहले का नाम हरिपालदेव था। यही हरिपालदेव आगे चलकर महाराष्ट्र में 'चक्रधर' के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा महानुभाव पन्थ के प्रवर्त्तक बने। जन्मतः गुजराती होते हुए भी महात्मा चक्रधर ने धार्मिक कार्य के लिए

१. आर्क्योलोजी ऑफ़ गुजरात, एच० डी० संकालिया, पृ० २२।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. वही।
६. वही।

गुजरात को छोड़कर महाराष्ट्र को चुना तथा महानुभाव तत्वज्ञान का लोक भाषा मराठी में प्रचार करके जनता को सच्चे धर्म की ओर अग्रसर किया। धर्म प्रचार के लिए महात्मा चक्रधर का गुजरात की अपेक्षा महाराष्ट्र को चुनना दो बातों पर प्रकाश डालता है। एक यह कि उस समय गुजरात में पाशुपत, जैन तथा बौद्ध धर्मों के अत्यधिक प्रचार के कारण वहाँ किसी भी नूतन धार्मिक विचारधारा का उद्रेक असम्भव था, तथा दूसरे, महाराष्ट्र में बहुदेववाद के अस्तित्व, उसके प्रति जनता की असीम आस्था तथा सामाजिक दुदशा के कारण सबसे पहले महाराष्ट्र को ही मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी। स्वयं महात्मा चक्रधर के वचन 'महाराष्ट्री असावें' (महाराष्ट्र में रहना चाहिए) इसी पार्श्वभूमि को सूचित करते हैं। अतः महानुभाव पन्थ के तत्त्वज्ञान तथा उसके अन्तर्गत कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से पहले उन परिस्थितियों पर विचार करना अनिवार्य है जो इस पन्थ के आविर्भाव के कारण बनीं।

मराठी वाङ्मय ग्रन्थों का आरम्भ लगभग बारहवीं शताब्दी से होता है।[१] जिस समय महात्मा चक्रधर का महाराष्ट्र में आगमन हुआ, तब से लेकर उनके प्रयाण-काल तक महाराष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन था तथा परतन्त्रता के दुष्परिणामों का उसे तनिक भी अनुभव नहीं था। यह वह काल था जब महाराष्ट्र पर यादव राजाओं का राज्य था। यादव राजा स्वयं धर्मशील थे तथा वेदान्त में उनकी पूर्ण आस्था थी। ऐसी दशा में आवश्यक था कि अनेक विद्वान् पंडित राजाश्रय प्राप्त करते और वस्तुस्थिति भी यही थी। राजाओं की उदार एवं सहिष्णु प्रवृत्ति के कारण जैन, लिंगायत, जोगी, नाथ, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के अनुयायी भी अपने-अपने मतों का यत्र-तत्र प्रचार कर रहे थे। ई० स० ११८८ में मुकुन्दराज द्वारा रचित 'विवेक सिन्धु' से इसी वस्तुस्थिति का पता चलता है।[२] पर राजाश्रय के कारण मुख्यतः वैदिक धर्म का ही बोलबाला था। दूसरे शब्दों में महात्मा चक्रधर के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में चातुर्वर्ण्य अत्यन्त विषम रूप धारण किए हुए था तथा उसकी विषमता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर दैनिक व्यवहार में भी व्याप्त हो चुकी थी। इस विषमता के फलस्वरूप समाज का निम्न वर्ग तथा स्त्रियाँ धर्म से वंचित रह गई थीं। तत्कालीन हेमाद्रि पंडित की 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रतों के आयोजन से पता चलता है कि इस समय अनेक देवताओं की उपासना के साथ-साथ अनेक व्रतों का पालन करना धर्म का एक आवश्यक अंग बन चुका था, जो स्पष्ट रूप से अन्य वर्णों पर ब्राह्मणों की सत्ता को सिद्ध करता है। अनेक देवताओं की उपासना के कारण ही आचार में भी अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गए थे, यथा गोकुल-अष्टमी, गणेश चतुर्थी के व्रत और नवरात्र में देवों की पूजा के साथ-साथ विजयादशमी को भैंसे का बलिदान। इस प्रकार एक ही ध्येय तक पहुँचने के लिए एक साथ अनेक मार्गों का अनुशीलन हो रहा था। महात्मा चक्रधर ने इसके परिणाम को समझा और बहुदेववाद के दुष्परिणाम को रोकने के लिए एकेश्वरवाद पर जोर दिया। अपने प्रतिपादन में ईश्वर निर्मित एक सृष्टि में उन्होंने ८१ कोटि, सवा लाख दस देवताओं को माना तथा उनके न्यूनाधिक सामर्थ्य के अनुसार उनके फलों को भी भिन्न भिन्न बताया। उन्होंने इस बात पर

१ मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, डॉ० वि० भि० कोलते, पृ० १०।
२ वही, पृ० ११।

ज़ोर दिया कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनेक छोटे-बड़े देवताओं की उपासना करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये सब देवता ईश्वर के अधीन हैं तथा मोक्ष देने में सर्वथा असमर्थ हैं। मोक्ष केवल ईश्वर ही दे सकता है, अतः अनन्य भाव से उसीकी उपासना करने से जीव उन्हींके फल को प्राप्त करता है। पुण्य का क्षय होते ही फिर से अपनी मूल अवस्था में पहुँच जाता है। एकेश्वरवाद के प्रतिपादन के लिए महात्मा चक्रधर ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करके द्वैत को माना है तथा अनेक देवी-देवताओं की उपासना से जीव-मात्र को मुक्त करने के लिए उन्होंने वेदों को अयोग्य बतलाया, क्योंकि उनके मतानुसार वेदों की दृष्टि केवल माया अथवा चैतन्य देवता तक ही सीमित है—

'कव्हणी एकु वेदु विभागु चैतन्याचेया अस्तित्वातेजाणे'[1]

(वेदों की दृष्टि केवल चैतन्य देवता अथवा माया तक ही सीमित है।) और माया है परमेश्वर की दासी। वेद विषमता का मूल आधार होने के कारण उन्होंने उनकी अयोग्यता सिद्ध की तथा इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की शृंखला से समाज को मुक्त करने का प्रयत्न किया। साथ ही अपने अनुयायियों को 'चातुर्वर्ण्यं चरेत् भैक्ष्यम्'[2] का उपदेश देकर उन्होंने आहार-सम्बन्धी भेदाभेद का खण्डन किया। उन्होंने शूद्र और स्त्री—दोनों को संन्यास का अधिकारी माना तथा आवश्यकता पड़ने पर अछूतों की बस्ती में जाकर भी धर्म का ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया—

'महारवाडाहोनि धर्मु काढावा'[3]

इसी प्रकार उन्होंने छुआछूत का विरोध करके मद्य को निषिद्ध माना—'मत्त द्रव्य न सेवा गा'[4] तथा अहिंसा के साथ संन्यास को प्रधानता दी। अतः हम देखते हैं कि महात्मा चक्रधर ने उन सभी तत्त्वों को अंगीकार किया जो जनता को उन्नति की ओर ले जाने वाले थे। इन सभी तत्त्वों का बीज गीता में होने के कारण उन्होंने गीता को प्रमाण ग्रन्थ माना तथा कृष्ण को साक्षात् परमेश्वर का अवतार मानकर शंकराचार्य के पंचायतन को अस्वीकार करते हुए श्री दत्तात्रेय (एकमुखी) श्रीकृष्ण, श्री चक्रपाणि, श्री गोविन्द प्रभु तथा श्री चक्रधर को साकार परमेश्वरावतार मानकर 'पंचकृष्ण' की उपासना को मान्यता दी।

महानुभाव तत्त्वज्ञान का मुख्य आधार गीता होने के कारण महानुभाव तत्त्वज्ञान के रूप में एक प्रकार से गीता के ही सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति-सी प्रतीत होती है। जिस प्रकार गीता में प्राचीन ज्ञान, कर्म और भक्ति को एकसूत्र करके विभिन्न साधना-पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित किया गया है, उसी प्रकार महात्मा चक्रधर ने सभी प्रचलित धर्म-सम्प्रदायों के श्रेयस्कर तत्त्वों को एकसूत्र करके वास्तविक धर्म का स्वरूप निश्चित किया। उनका कथन—

सकळही शास्त्रें या शास्त्रासि मिळेतिः परि हें कव्हणाहीं न मिळे[5]

---

१. सूत्रपाठ सं० ह० ना नेने, विचारमाला, १४।
२. वही, आचारमाला, ८१।
३. वही, आचारमाला, १४६।
४. वही, उपोद्घात, पृ० ६।
५. सूत्रपाठ, विचार, पृ० १२१।

(सभी शास्त्र इसमे आ जाते हैं, परन्तु यह स्वय सबसे भिन्न है।)
इसी सत्य की ओर निर्देश करता है।

महानुभाव पथ श्रीकृष्ण का उपासक होते हुए भी वैष्णव पथ नहीं है, क्योंकि वह कृष्ण को अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों की भाँति विष्णु का अवतार न मानकर साकार परमेश्वरावतार मानता है।

"आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन"[१]

के आधार पर ब्रह्मलोक सहित सभी लोक पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य हैं। तब भला विष्णु का वैकुण्ठ अविनाशी कैसे हो सकता है और विष्णु-उपासना का फल है वैकुण्ठ प्राप्ति।

"तद्यन्हि कर्मजित लोक क्षीयते एवमेवमुत्रायै व पुण्यजित लोक क्षीयते"[२]

में भी पुण्य द्वारा प्राप्त किये हुए परलोक का क्षय माना गया है। इस प्रकार महानुभाव पन्थ के कृष्ण की कल्पना दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से प्रभावित न होकर कृष्ण विषयक प्राचीन मान्यताओं पर आधारित है तथा उसका सीधा सम्बन्ध द्वारावती या द्वारका से है जहाँ ईसा-पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी तक कृष्ण विष्णु के अवतार न समझे जाकर परमेश्वरावतार माने जाते थे। अत इस मान्यता में प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह अभिलक्षित होता है जिसे परवर्ती सन्तों ने भी यत्र-तत्र स्वीकार किया है यद्यपि साधना के क्षेत्र में वे पूर्णरूपेण वैष्णव ही थे। सन्त रामदास के वचन—

'वैकुण्ठनाम विष्णूचें गावें। सत्य लोक नाम ब्रह्मयाचें गावें।
अमरावती इंद्राचें, स्थल खालते ॥११॥
येथें ज्या देवाचें भजन करावें। तेथें त्या देवलोकीं रहावें ॥२३॥
सुकृत आहे तव भोगिनो सुकृत सरताच ढकलुन देती।
आपण देवते असती। जसे तैसे ॥२६॥[३]

(विष्णुलोक का नाम वकुण्ठ है और ब्रह्मलोक का सत्यलोक। इन्द्र का स्थान अमरावती उनसे नीचा है। यहाँ जिस देवता की भक्ति करोगे उसी के लोक में पहुँचोगे। जब तक पुण्य होगा सुखों का उपभोग करोगे। पुण्य समाप्त होते ही पुन मृत्युलोक में जाना पड़ता है परन्तु देवता जैसे थे वैसे ही रहते हैं।)

महानुभावपन्थी इसी मान्यता का समर्थन करते हैं।

सन्त एकनाथ कहते हैं—

"न लगे मुक्ति मुक्ति न लगे स्वर्गवास,
नको वकुण्ठवास देवराया।
न लगे योग याग अष्टांग साधन,
न चुके बन्धन येणें काहीं ॥[४]

(न मुझे मुक्ति चाहिए, न मुक्ति। न स्वर्ग-सुख। न वैकुण्ठ। योग-याग आदि

---

१ गीता, ८ १६।
२ छांदोग्य उपनिषद्, ८ १ ६।
३ दासबोध, ४ १०।
४ एकनाथी भागवत, अभंग २७७५।

अष्टांग साधनों की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनसे भव-बन्धन नहीं टूटता।)

इसी प्रकार सन्त तुकाराम भी वैकुण्ठ के सुख को नाशवान् मानते हैं—

"नको वैकुण्ठीचा वास। असे तया सुखा नाश।"[१]

(मुझे वैकुण्ठ का सुख नहीं चाहिए, ऐसे सुख का नाश होता है।)

श्रीकृष्ण को परमेश्वरावतार मानने के साथ-साथ महानुभाव पन्थ ने भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को भी मान्यता दी है। कृष्ण और गोपियों का रास अलौकिक क्रीड़ा है तथा उसमें हिन्दी-कृष्ण-काव्य की भाँति लौकिकता का कहीं भी पुट नहीं है। इसी प्रकार महानुभाव पन्थ के सन्त-कवियों ने राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति शृंगार के पदों से काव्य-भण्डार को नहीं भरा है। अपने सिद्धान्त-निरूपण में उन्होंने प्रेमदान को अवश्य स्वीकार किया है, पर वहाँ प्रेम का स्वरूप शुद्ध प्रेम-भाव है, क्योंकि परमेश्वर स्वभावतः कृपालु है तथा वह अवतार भी भक्तों के उद्धार के लिए तथा उन्हें अपना सान्निध्य प्रदान करने के लिए ही धारण करता है। भक्तों को मोक्ष प्रदान करना उसे अत्यन्त प्रिय है जिसके लिए वह स्वयं बारम्बार साकार होता है।

"परमेश्वर निर्वेवो निराकारु असे, परिकृपावशें सावेवो
साकारु होए, अवतरे, आपुलें सन्निधान दे।"[२]

(परमेश्वर निर्विकार, निराकार है, किन्तु कृपावश वह साकार होकर अवतार लेता है तथा भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करता है।)

शंकराचार्य की भाँति केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन न मानकर महानुभाव पन्थ के आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति दोनों को मान्यता दी है। परमेश्वर की अनन्य-भक्ति के लिए ईश्वर, जीव, देवता और प्रपंच का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। जो जैसा है, उसे वैसा जानना ही ज्ञान है—

"जे जैसे असे तें तैसें जाणिजे तें ज्ञान"

(जो जैसा है, उसे वैसा समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान की सार्थकता है।)

इस प्रकार मराठी भक्ति-काव्य को महानुभाव आचार्यों की देन है—अनेक देवी-देवताओं को छोड़कर केवल परमेश्वर की ही अनन्य भक्ति-भाव से उपासना, विष्णु से भी श्रेष्ठ परमेश्वर के रूप कृष्ण का स्वीकार, परमेश्वर का मूल रूप में निराकार होना तथा कृपावश भक्तों के लिए साकार होना, दलित और शोषित वर्ग को धर्म का अधिकार, हिंसा और मादक द्रव्यों का निषेध तथा संन्यास की आवश्यकता। इन सभी बातों का परवर्ती मराठी काव्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

महानुभाव पन्थ के प्रमुख ग्रन्थ सात माने जाते हैं—१.'वत्सहरण', २. 'शिशुपाल वध', ३. 'उद्धव गीता', ४. नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर', ५. ऋद्धपुर वर्णन, ६. सह्याद्रि वर्णन तथा ७. ज्ञान प्रबोध। इन ग्रन्थों के आधार-स्तम्भ श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत होने के कारण 'वत्स हरण', 'शिशुपाल वध' तथा 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भक्ति-शृंगार की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण यह ग्रन्थ

---

१. तुकाराम गाथा, नि० सा० प्रे०आ०, २२११।

२. सूत्रपाठ, हरि नारायण नेने, प्रथम सूत्र।

इतना लोकप्रिय हुआ कि परवर्ती-काल में इसकी दशा देखी कई कवियों ने रुक्मिणी स्वयंवर लिखे। उपर्युक्त ग्रंथों में शृंगार की प्रचुरता अवश्य रही है, परन्तु वह महानुभाव पंथ की मान्यता न होकर कवियों की व्यक्तिगत रुचि को ही सूचित करती है। उदाहरण के लिए 'शिशुपाल वध'-जैसे शृंगार प्रधान तथा लोक प्रिय ग्रंथ की रचना करने के पश्चात् भास्कर भट्ट बोरीकर ने जब ग्रन्थ अपने गुरुबंधु भावे व्यास को दिखाया तब वे कह उठे, "भटो हा ग्रन्थ निका झाला असे परि निवृत्तोजोगा नह्वे कि हा शृंगारियाँ प्रवृत्ता जोगा जाला असे" (भटो ग्रन्थ सुन्दर बन पड़ा है, पर वह निवृत्ति मार्गानुगामी के लिए न होकर शृंगारिक प्रवृत्ति मार्गानुगामी के योग्य है।)[१] गुरु भाई के अभिमत से कवि इतना आहत हुआ कि अगले वर्ष उसने भागवत के एकादश स्कन्ध पर 'उद्धवगीता' नामक निवृत्तिपरक टीका लिखी। शृंगार प्रधान काव्य में भी महानुभाव कवियों ने रुक्मिणी और कृष्ण को ही अपने शृंगार का विषय बनाया है जो दाम्पत्य या कान्त भाव पर ही आधारित है। हिन्दी भक्ति काव्य की भाँति उसमें राधा का सर्वथा अभाव है। महानुभाव कवियों द्वारा प्रवर्तित इसी परम्परा को अन्य परवर्ती साम्प्रदायिक कवियों ने भी निभाया, जिसके फलस्वरूप मराठी भक्ति-काव्य में राधा और गोपियों को लेकर विशद् शृंगारिक काव्य का समावेश न हो सका, जैसा उत्तर भारत के भक्ति-काव्य में उपलब्ध होता है।

जयदेव की गीति परम्परा और तेलुगु कृष्ण-गीतों का पद और भजन साहित्य पर प्रभाव

मराठी भजन और पद-साहित्य पर जयदेव की गीति-परम्परा और तेलुगु कृष्ण गीतों के प्रभाव का विवेचन करने से पूर्व, दक्षिण और उत्तर में भक्ति के स्वरूप तथा भजन एवं पद-साहित्य की सर्जना के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है।

हम पहले देख चुके हैं कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक वासुदेव की उपासना के रूप में अनन्य भक्ति का प्रचलन महाराष्ट्र में विद्यमान था। ईसा की चौथी शताब्दी से संस्कृत साहित्य में भक्ति की प्रधानता अभिलक्षित होती है तथा दसवीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती हुई दिखाई देती है।[२] दसवीं शताब्दी तमिल, बंगाली, मराठी, कन्नड आदि प्रान्तीय भाषाओं का उदय-काल होने के कारण भक्ति की इस पूर्व पीठिका का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य भक्ति प्रधान साहित्य रहा है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में प्रान्तीय विशेषता तथा भाषानुरूप भक्ति का स्वरूप बदलता रहा। दक्षिणी साहित्य में कमठता, मराठी साहित्य में बुद्धिवाद तथा समाज-हित, हिन्दी में शृंगार तथा रंगीनता और बंगला में स्वप्निलता इसी प्रान्तीय विशेषता को सूचित करती हैं।

संस्कृत के बाद परम्परावश प्राकृत भाषा में भी भक्ति की प्रधानता रही। तमिल आल्वार कवियों का साहित्य वैष्णव भक्ति का सबसे प्राचीन प्राकृत साहित्य है। आल्वार

---

[१] मराठी साहित्यातील मधुरा भक्ति, डॉ० प्र० न० जोशी पृ० ७६।
[२] गाथीचा भागवत धर्म, डॉ० श्री० कुलकर्णी, पृ० १४

भक्त-कवि परब्रह्म की उपासना भगवान् वासुदेव के रूप में करते थे।[1] उनकी भक्ति ऐकांतिक भक्ति थी तथा उसमे मधुर भाव की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। आण्डाल कोदे के पदों मे तो कान्त-भाव का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है। शांडिल्य सूत्रों में भक्ति-निरूपण के लिए यत्र-तत्र मानवीय प्रेम के उल्लेखों के पश्चात् सर्वप्रथम आलवार भक्त-कवियों के पदों में ही मधुर भाव का सर्वप्रथम दर्शन होता है और सम्भवतः भागवत-पुराण मे प्रतिपादित मधुरा-भक्ति पर भी आलवारों की मधुरा-भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है। भागवत तथा पद्मपुराणों में द्राविड़ देश के नारायणीय भक्तों का उल्लेख सम्भवतः आलवारों को लेकर ही हुआ है[2] तथा उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि करता है। वैसे भी आलवारों का आरम्भ ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से माना जाता है[3] तथा भागवत-पुराण का रचना-काल ईसा की छठी से लेकर आठवीं शताब्दी से पहले नहीं पहुँचता।[4]

आलवारो की मधुरा-भक्ति तथा भागवत-पुराण के रास-वर्णन के योग से ही समस्त भारत में चौदहवी शताब्दी मे समस्त शास्त्रों एव दर्शनों को एक ओर ठेलकर कृष्ण-भक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित हो उठी तथा मधुर भाव के लिए लक्ष्मी अथवा रुक्मिणी योग्य न होने के कारण राधा का प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण की सखी के रूप में राधा का ऐतिहासिक उल्लेख अमोघवर्ष राजा की ६८० की प्रशस्ति में मिलता है।

भागवत में श्रीकृष्ण की रास-क्रीड़ा का अत्यन्त सरस वर्णन है। इसी प्रकार बाल-क्रीड़ा-वर्णन, ऋतु-वर्णन, गोप-क्रीड़ा, वेणुनाद-वर्णन, गोपी-वस्त्रहरण, शरद्-ऋतु-दर्शन, कृष्ण-गोपी-संवाद, गोपियों की प्रार्थना, गोपियों का विरह, विलाप, श्रीकृष्ण-दर्शन, कृष्ण द्वारा गोपियों का समाधान आदि शृंगार-भक्ति के अनेक विवरण भागवत में हैं। भागवत ने शृंगार-भक्ति का आश्रय अलौकिक तत्त्वज्ञान के निरूपण के लिए लिया है तथा भक्ति के नौ प्रकार माने है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यम् सख्यमात्मनिवेदनम्॥

नारद सूत्र मे गुण-महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दासासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति आदि भक्ति के ग्यारह प्रकारों में कांतासक्ति तथा परम-विरहासक्ति को भी मान्यता दी गई है तथा इसीका विशद वर्णन भागवत मे हुआ है।

इस प्रकार शृंगार-भक्ति के मूल में अलौकिक तत्त्व-ज्ञान के निरूपण का ध्येय होते हुए भी सरस वर्णन-शैली तथा उसमें विरह, मिलन, आसक्ति आदि भासमान लौकिक गुणों का समावेश होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में मधुर भाव को प्रधानता मिली, जिसके परिणामस्वरूप ईसा की बारहवी शताब्दी में दक्षिण में निम्बार्काचार्य द्वारा राधा और कृष्ण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया तथा विष्णु स्वामी ने भी इसी भक्ति-पद्धति को स्वीकार किया। ईसा की दसवीं शताब्दी में पतनोन्मुख बौद्ध धर्म के प्रभाव में बंगाल में निर्वाण

१. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १७४।
२. नार्थांचा भागवत धर्म, डॉ० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० १४२।
३. वही, पृ० १४२-४३, १६२।
४. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १७४।

का एकमात्र साधन गुरु के सम्मुख शरीर समर्पण करना माना जाने लगा था तथा प्रचलित रास-लीलाओं तथा लोक-गीतों के कारण राधा और कृष्ण का प्रेम लोक-प्रिय बन चुका था।[1] इन दोनों धाराओं की पार्श्व भूमि पर उमापति ने ग्यारहवीं और विद्यापति ने बारहवीं शताब्दी में राधा और कृष्ण को लेकर सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगार में भक्ति का पुट देकर सुन्दर चित्र आंके और तथा भक्ति के निरूपण के लिए शब्द स्पर्श, रूप, रस गन्ध का आश्रय लेने की एक प्रथा-सी चल पड़ी। इसके पूर्व ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति के लिए सबसे श्रेष्ठ सुखानन्द के रूप में मानवी शृंगार का आश्रय लिया गया था, क्योंकि ब्रह्मानन्द की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कोई भी भाषा समर्थ नहीं है। अतः अलौकिक सुख की एक अवस्था विशेष को यत्किंचित् अनुभूतिगम्य बनाने के लिए ही सम्भोगजनित मानव सुलभ सुखद अनुभूति का उपमा दी गई। डब्ल्यू इंगे ने भी भाषा की असमर्थता को ही धर्म में शृंगार के समावेश का कारण माना है।[2] इतना ही नहीं, अपने मत की पुष्टि के लिए उसने सन्त प्लाटिनस को भी उद्धृत किया है। सन्त प्लाटिनस कहते हैं—

Those to whom this heavenly love is unknown may get some conception of it from earthly love and what joy it is to obtain possession of what one loves most

शृंगार के माध्यम से ब्रह्मानन्द की अनुभूति का यह प्रकार केवल भारतीय भक्ति-काव्य में ही नहीं मिलता, अपितु संसार के सभी धर्मों में उसके दर्शन होते हैं। सूफी पंथ में इश्कबाजी को (मानवी प्रेम को) इश्क हकीकी (ईश्वरी प्रेम) का एक सोपान माना गया है। सूफी पंथ की यह मान्यता भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती है।

आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए मानवी शृंगार को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेने के कारण विषय निरूपण तथा रस निष्पत्ति के लिए शृंगार के सभी उपांगों का प्रासंगिक चित्रण आवश्यक है इस आवश्यकता-पूर्ति के लिए शृंगारिक हाव भावों के विशद वर्णन और जनसाधारण में आध्यात्मिक अनुभूति के अस्तित्व के अभाव के कारण परिणाम में अनुभवगम्य होने के कारण ही शृंगार, जो वस्तुतः माध्यम होता है जनसाधारण के लिए प्रधान बन जाता है और भक्ति गौण रह जाती है। मध्य-युगीन कृष्ण भक्ति-काव्य की रीतिकाल के उत्तान शृंगार प्रधान काव्य में परिणति का यही रहस्य है।

मानवी शृंगार अथवा अध्यात्म-तत्त्व आश्रयानुकूल अनुभूतिगम्य और भाव-गहन होने के कारण रस स्थिति में आश्रय की अभिव्यक्ति का संक्षिप्त, गहन तथा संगीतमय होना आवश्यक है। मध्ययुगीन पदों तथा भक्ति-गीतों की सर्जना के पीछे यही सत्य काम करता हुआ प्रतीत होता है। मध्य-युग का समस्त भारतीय भक्ति-काव्य स्वानुभूति पर आधारित होने के कारण संगीतात्मक है तथापि कृष्ण को लेकर शृङ्गार प्रधान भक्ति-पदों एवं गीतों के स्रष्टा के रूप में आंडाल कोदै के पश्चात् ही जयदेव आते हैं, परन्तु कृष्ण, राधा और दूती को लेकर शृङ्गार प्रधान भक्ति-पदों की रचना में जयदेव प्रथम सिद्ध होते हैं। जयदेव के काव्य में शृङ्गार के साथ भक्ति का सुन्दर समन्वय होते हुए भी उनका गीतगोविन्द प्राथमिक रूप में शृङ्गार प्रधान गीति-काव्य है। भाषा-सौष्ठव, शैली की नवीनता, रसनिष्पत्ति

---

१ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी, पृ० १३८।

२ रेलिजस का रोकनेस, डब्ल्यू डी इंगे, पृ० १८-१६।

और वाक्‌चातुर्य तथा चित्रण की विशिष्टता के साथ-साथ काव्य का विषय राधा और कृष्ण होने के कारण गीतगोविन्द अत्यन्त अल्पकाल में लोकप्रिय बना तथा शीघ्र ही समस्त भारत के भक्ति-साहित्य में उसे अनुपम स्थान मिला। भक्ति और शृङ्गार के मधुर संमिश्रण तथा मधुर संगीत के साथ-साथ कोमलकान्त-पदावली के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के सभी श्रेष्ठ कवियों पर जयदेव का प्रभाव अभिलक्षित होता है।[१] इतना ही नहीं, परवर्ती साहित्य-शास्त्रकारों ने अनुराग, विरह, उत्कंठा, मिलन तथा अभिसार आदि के विवेचन के आधार के रूप में जयदेव का ही उपयोग किया है। काव्य-प्रकाशकार मम्मट तथा 'साहित्य-दर्पण'-कार विश्वनाथ ने जयदेव के अलंकार-वैभव पर मुग्ध होकर अपने ग्रंथों में उसके उदाहरण दिए हैं। वस्तुतः जनता को कृष्ण-गीत गाने के लिए स्फूर्ति प्रदान करने वाले काव्यों में गीतगोविन्द का सर्वप्रथम स्थान है। अनावद के शिलालेख (सन् १३४८ ई०) में गीतगोविन्द के आरम्भिक पदों का उल्लेख[२] गीतगोविन्द की लोकप्रियता ही सिद्ध नहीं करता, वरन् अन्य प्रदेशों पर उनके प्रभाव को भी निर्दशित करता है। तेलुगु कृष्ण-गीतों में जयदेव की पदावली का प्रभाव स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है, क्योंकि एक तो गीतगोविन्द संस्कृत की रचना थी तथा एक श्रेष्ठ भक्ति-काव्य के नाते भारत का कोई भी प्रदेश उससे अनभिज्ञ न था और दूसरे जबकि तेलुगु कृष्ण-गीतों की रचना ईसा की चौदहवीं शताब्दी के पश्चात् आरम्भ हुई थी[३] ताल्लपाक अण्णम्माचार्य (ई०स० १४२८—१५०६) ने सूर की ही भाँति कृष्ण-भक्ति से प्लावित शृङ्गारपरक हजारों पद लिखे हैं, पर उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में मादक वासना न होकर भावों की स्वाभाविक मधुरिमा है।[४] अण्णम्माचार्य तेलुगु पद-साहित्य के प्रणेता माने जाते है। तेलुगु के कृष्ण-गीत एवं पद जयदेव की ही भाँति शृङ्गारपरक हैं। इस दृष्टि से तेलुगु-पद-साहित्य पर जयदेव का प्रभाव केवल विषय-चयन की ही दृष्टि से अभिलक्षित होता है, गीतात्मकता की दृष्टि से नहीं, क्योंकि तेलुगु स्वयं ही संगीत-मधुर भाषा है तथा गहन भावानुभूति की अभिव्यक्ति संगीत द्वारा ही सम्भव हो सकती है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि तेलुगु कृष्ण-गीतों पर जयदेव का प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप में ही दृष्टिगत होता है, क्योंकि तेलुगु कृष्ण-गीतकारों का विषय वस्तुतः गीतगोविन्द का ही विषय न होकर लोक-रुचि का भी विषय था। गीतगोविन्द ने इस लोक-रुचि को काव्यबद्ध करके कृष्ण-भक्ति-परक शृङ्गारिक पदों की परम्परा चलाई। इस परम्परा-निर्वाह में ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में जयदेव का प्रभाव अन्तर्निहित है।

मराठी मे भी जयदेव का प्रभाव शृङ्गारिक काव्य की परम्परा के रूप में ही देखा जा सकता है, क्योंकि आरम्भ से ही मराठी काव्य शान्त-रस-प्रधान रहा है। ऐसी दशा में यत्र-तत्र शृङ्गारिक निरूपणों का समावेश, जो शान्त भाव का पूरक नहीं है, प्राचीन निरूपण-शैली तथा लोक-रुचि को ही चरितार्थ करता-सा प्रतीत होता है। पहले कहा गया है कि मराठी कृष्ण-भक्ति-काव्य में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी को लेकर कान्तभाव को ही प्रश्रय मिला

१. मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ३० ।
२. आर्क्योलॉजी ऑफ़ गुजरात, एच० डी० संकालिया, पृ० २२८ ।
३. तेलुगु और उसका साहित्य, हनुमच्छास्त्री 'अयाचित', पृ० ३० ।
४. वही, पृ० ३३ ।

है। यत्र-तत्र गोपी भाव का समावेश लोक-रुचि के समाधान के लिए ही हुआ है। समस्त मराठी काव्य में कृष्ण का रुक्मिणी-पति अथवा रुक्मिणी वर के रूप में वर्णन[1] इस कथन की पुष्टि करता है। मराठी भक्ति-काव्य की विशालता में मधुर भाव विषयक पदों का नगण्यप्राय समावेश भी लोक-रुचि के रूप में बाह्य प्रभाव का ही सूचित करता है। सर्वश्री चक्रधर, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि के वचनों में जो थोड़ा-सा शृङ्गार का पुट मिलता है, वह केवल तत्त्व निरूपण के लिए ही हुआ है। इन उल्लेखों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक में परमेश्वर और जीव-सम्बन्धी निरूपण के लिए पति और पत्नी का रूपक आता है और दूसरे भाग में कृष्ण-लीला विषयक परम्परा निर्वाह अथवा कृष्ण की गोपियों के साथ लीलाओं के उल्लेख। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में शृंगार के स्थूल उपकरणों का शायद ही कहीं आश्रय लिया गया हो। सभी स्थलों पर भाव का ही प्रधानता दी गई है। उदाहरण के लिए ज्ञानेश्वर के निम्नलिखित अभंगों का उद्देश्य पति और पत्नी के आलिंगन का चित्र अंकित करना न होकर परमेश्वर और जीव के अद्वैत तथा दोनों के मिलन से होने वाले आनन्द का आभास करा देना भर है—

तियें आलिंगन वेळीं होय आपें आप ढवळी।
तेथ जळ जसे जळीं, वेगळें न दिसे॥
कां आकाशीं वायु हरपे। तेथ दोन्ही हे भाष लोपे।
तैसें सुरति उरे स्वरूप। सुरतीं नियें॥[2]

(आलिंगन के समय स्त्री अपने-आप अत्यन्त कोमल बन जाती है तथा जिस प्रकार जल जल में मिलने से एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री अपने पति से भिन्न नहीं दिखाई देती। जिस प्रकार आकाश में व्याप्त वायु आकाश से भिन्न नहीं कही जाती तथा उसके लिए दो की भाषा का प्रयोग नहीं होता, उसी प्रकार पति से आलिंगनबद्ध होते ही स्त्री का निजी अस्तित्व न रहकर सुरति के रूप में केवल आनन्द की ही अनुभूति बनी रहती है।)

ज्ञानदेव के एक दूसरे उदाहरण—

'तुजविण वेल्हाळा कैं सुख सोहळा।
रखुमादेवी वरा विट्ठल सेजे न लगे डोळा'।

(तुम्हारे बिना कैसा सुख और कैसा मनोरंजन! विट्ठल के बिना तो शैया पर आँख भी नहीं लगती।)

से भी मिलन की आतुरता ध्वनित होती है, विलास की उत्तेजना नहीं।

पाहे पां वल्लभाचे नित्याजें, तिया व्रजांगनांची निजें
अजमीनलीया काय माझें। स्वरूप नव्हती॥[3]

(गोकुल की गोपिकाएँ यदि मुझे पति समझकर अपने अन्त करण मुझे समर्पित करने लगें तो क्या वे बिना मुक्त हुए रह जायेंगी?)

क्योंकि—

१ वैष्णविज्म शैवइज्म एण्ड अदर माइनर रैलिजस सिस्टम्स, भांडारकर, पृ० ८६।
२ मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, प्र० न० जोशी पृ० १२७।
३ ज्ञानेश्वरी (कुण्टे) ६ ४६६।

भगावरी फोड़ावयाची लागी। लोहो मिळो कां परिसाचे भ्रांगीं।
का जे मिळतियें प्रसंगी। सोनेंच होईल ॥[1]

(अरे, लोहे के घन से भी पारस तोड़ा जाए, तो भी पारस के स्पर्श से लोहा सोना ही बन जाएगा।)

उपर्युक्त दोनों अभंगों से शुद्ध प्रेम ही अभिव्यंजित होता है।

स्वामी चक्रधर ने भी अपनी अमृत वाणी में शृंगारिक वर्णनों को स्थान न देकर विषय-वृत्ति को पाशवी वृत्ति माना है। परमेश्वर की भिन्न देवी-देवताओं के क्षेत्र में भी उन्होंने विषय को केवल भावरूप माना है—

'यंत्रारूढ़ा होइजे, तो उसीटा विखो भोगणें कीं' :
विखो तों हावभावींचि भोगो सरे।[2]

(शारीरिक सम्भोग तो झूठा सम्भोग है। सम्भोग तो हाव-भावों में ही समाप्त हो जाता है।)

नामदेव के अभंगों में शृंगारिक पदों का विपुल वर्णन मिलता है, पर उसका आधार भागवत-पुराण ही रहा है।

ऐकतांचि नाद गोकुळींच्या नारी, पाहावया हरि निघताती।
स्तन देतां बाळें टाकिलीं भूमि-सी, मोकळिया केशी निघताती ॥

(वंशी की ध्वनि सुनते ही हरि के दर्शन के लिए गोपियाँ शिशुओं को दूध पिलाते-पिलाते अपने बाल बाँधे बिना ही दौड़ पड़ती हैं।)

इस पद में वर्णित गोपियों की तमन्यता तथा भाग-दौड़ भागवत-पुराण के वर्णन[3] से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। और फिर कृष्ण और गोपियों की केलि-क्रीड़ाओं का विपुल वर्णन करने के पश्चात् निम्नलिखित अभंग में नामदेव को बताना पड़ा है कि समस्त गोपियों का 'काम' शान्त करने पर भी कृष्ण की 'वीर्यच्युति' नहीं हुई—

जळक्रीडा करी लक्ष्मीचा पती, लाळ घोटताती देव स्त्रियर।
धन्य त्या गोपिका धन्य त्यांचें पुण्य, भोगिता ही कृष्ण पूर्ण ब्रह्म ॥
नामा म्हणे होय कामाची ते पूर्ती। नव्हे वीर्यच्युती गोविंदाची ॥[4]

(जल-क्रीड़ा में श्रीकृष्ण को रममाण देखकर देवागनाएँ भी ललचा रही हैं। वे गोपियाँ धन्य हैं, उनका पुण्य धन्य है जो पूर्ण-ब्रह्म कृष्ण को भोग रही हैं। नामदेव कहते हैं कि गोपियों का काम तो पूर्ण होता है, पर कृष्ण की वीर्यच्युति नहीं होती।)

नामदेव की भाँति तुकाराम ने भी गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं पर अभंग लिखे हैं, पर वे बहुत थोड़े और परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखे गए प्रतीत होते हैं, क्योंकि वस्तुतः उनके आराध्य विठोबा गोपी-नायक कृष्ण न होकर वात्सल्य से परिपूर्ण मातृ-रूप परमेश्वर हैं। वे कहते हैं—

---

१. ज्ञानेश्वरी (कुण्टे) ६.६५।
२. हरिनारायण नेने द्वारा सम्पादित 'सूत्रपाठ' विचार, १६४।
३. भागवत-पुराण १०. २६. ४-११।
४. नामदेव अभंग गाथा (आवटे) अभंग १६१८।

जेथे जातो तेथे, तू माझा सांगाती
चालवीसी हाती धरोनीया ।
चालोंवाटे आम्ही तुझाचि आधार,
चालविसी भार सवें माझा ।
बोलों वातां वरल करिसी तें नीट,
नेली लाज धीट केलो देवा ॥[१]

(जहाँ भी जाता हूँ, तुम मेरे साथ होते हो और मेरा हाथ पकड़कर तुम मुझे चलाते रहते हो। मैं अपना मार्ग-यापन तुम्हारे ही सहारे करता हूँ। अपना समस्त भार तुम पर छोड़कर चलने का मुझे अभ्यास-सा हो गया है। मेरी अनगल बातों को तुम्हीं सुधारते रहते हो और मेरे संकोच को दूर करके तुम्हींने मुझे ढीठ बनाया है।)

इस विवेचन से उपर्युक्त कथन की सम्पुष्टि होती है कि मराठी संत-कवियों की कविता में जहाँ कहीं भी सम्भोग या विप्रलम्भ शृंगार का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसका स्वरूप लौकिक न होकर अधिकतर आध्यात्मिक ही रहा है। दूसरी स्मरणीय बात यह है कि नामदेव तुकाराम आदि प्राचीन मराठी संत-कवि निम्न जातियों में उत्पन्न हुए थे तथा संस्कारवश उन्हें अपने काव्य में निम्न जातियों में प्रचलित कृष्ण की रास-लीलाओं को स्थान देना पड़ा। इस परम्परा निर्वाह तथा शृंगारपरक वर्णनों में विद्यमान उनकी तटस्थता के कारण ही उनके शृंगारिक पद स्वानुभूति पर आधारित नहीं हैं और न ही उन्होंने रति के उपादानों अथवा संचारी आदि भावों का ही कोई वर्णन किया है, जैसा कि जयदेव, विद्यापति आदि में मिलता है। संक्षेप में उनकी पहुँच लौकिकता से अलौकिकता की ओर अभिलक्षित होती है जबकि जयदेव, विद्यापति आदि ने अलौकिक का आधार लौकिक के लिए ग्रहण किया है। जयदेव कहते हैं—

त्वाम प्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदतीरोदरे ।
शंके सुन्दरि! कालकूटमपिबन्मूढो मृडानीपतिः ॥
इत्थं पूर्वकथाभिरन्यमनसो निक्षिप्य वामांचलं ।
राधायाः स्तनकोरकोपरिचलन्नेत्रो हरिः पातु वः ॥[२]

इन पंक्तियों से यदि राधा और कृष्ण के नामों को हटा दिया जाए तो वे एक उच्च कोटि का शृंगार-काव्य कही जा सकती हैं। इन कवियों के शृंगारिक वर्णनों की मार्मिकता तथा चित्रण भी स्वानुभूत होने के कारण वे भक्ति की अपेक्षा मानवी शृंगार के ही अधिक द्योतक हैं। इस दृष्टि से मराठी सन्त-कवियों पर जयदेव का यत्किंचित प्रभाव भी दृष्टिगत नहीं होता। परम्परा निर्वाह में तेलुगु कर्नाटक, तमिल आदि कृष्ण-गीतों का अवश्य कुछ प्रभाव रहा है। लोकोक्ति है—

'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द'

कृष्ण भक्ति का प्रचार कर्नाटक के कवियों ने 'रगले (भाव गीत) गाकर किया है तथा मराठी का कृष्ण-लीला विषयक सभी परवर्ती काव्य गीतों के रूप में ही निर्मित हुआ

---

१ तुकाराम की गाथा (देवाकर कृत) अभंग १६०६ ।
२ गीतगोविन्द १२. ५ चौखम्बा संस्करण

है। तेलुगु साहित्य संगीत-प्रधान साहित्य रहा है। इतना ही नहीं, आन्ध्र प्रदेश दक्षिणी संगीत-पद्धति का उत्पत्ति-क्षेत्र माना जाता है तथा तेलुगु का कृष्ण-भक्ति-काव्य सम्पूर्णतः गीतात्मक है। अतः आन्ध्र के साथ निकट सम्बन्ध होने के कारण मराठी काव्य पर भी तेलुगु की गीतात्मकता, नाद, लय तथा कलेवर का निश्चित रूप से प्रभाव दृष्टिगत होता है तथा यह विषय स्वतन्त्र गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

हमारा जीवन सदा से संगीतमय रहा है। प्रत्येक उत्सव, पर्व और त्यौहार के अवसर पर समयोचित गीत गाकर मनोरंजन करना हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन पर्वों के अवसर पर मनोहर गाथाओं के गाने का निर्देश वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मैत्रायणी संहिता में विवाह के अवसर पर 'गाथा' गाने की विधि का उल्लेख है।[१] वाल्मीकीय रामायण में राम-जन्म के समय तथा श्रीमद्भागवत में कृष्ण-जन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

लोक-गीतों का मराठी कृष्ण-काव्य पर प्रभाव

वैदिक साहित्य मे जिन गाथाओ का उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है, वे ही हमारे लोक-गीतों का पूर्व रूप प्रतीत होती हैं। 'गाथा' का अर्थ है पद्य या गीत। इसी अर्थ में गाथा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों मे हुआ है।[२] गाथाओं की इस परम्परा का निर्वाह महाभारत-काल मे भी हुआ है। महाभारत के आदिपर्व में दुष्यन्त के पुत्र भरत के सम्बन्ध में अनेक गाथाएँ मिलती है जो अत्यन्त प्राचीन जान पड़ती है। वैदिक गाथाओं के समान ही अवेस्ता मे भी कई प्राचीन गाथाएं उपलब्ध होती हैं।[३] पालि भाषा में लिखी हुई गाथाओं में तत्कालीन विख्यात लौकिक कहानियों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। बौद्धों की जातक-कथाएँ भी गाथाओं का ही एक अन्य रूप है। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय लोक-गीतों का स्वरूप चाहे जो रहा हो, उनका प्रचलन बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। सच तो यह है कि आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति दो विभिन्न धाराओ मे प्रवाहित होती चली आई है। शिक्षित वर्ग मे वह वेद, उपनिषद् आदि के रूप में प्रवाहित हुई है और अशिक्षित वर्ग में लोक-कथाओं और लोक-गीतो के रूप मे।[४] इसीलिए आचार्य पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने लोक-गीतों को आर्येतर सभ्यता के वेद कहा है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि वे लोक-गीतो को मरण-धर्मा साहित्य की श्रेणी से पृथक् कर के यह कहना चाहते हैं कि लोक-गीत-साहित्य अमर और अनादि है।[५] लोक-गीत जीवन से उद्भूत होने के कारण उनमे उद्दाम वासनाओ के चित्र कही-कही अश्लीलता तक पहुँच गए हैं, परन्तु जीवन की सम्पूर्णता मे काम का अस्तित्व होने के कारण उन्हें अश्लील नही कहा जा सकता। ये गीत जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से उद्भूत होने के कारण ही समाज के सभी ऊँच-नीच वर्गों मे समान भाव से गाए जाते हैं तथा विभिन्न प्रदेशों में एक भाव से चालू रहते हैं।

१. मैत्रायणी संहिता : ३.७.३।
२. ऋग्वेद ८. ३२.१।
३. देखिए 'जनपद' त्रैमासिक में कृष्णदेव उपाध्याय का लोकगीतों पर लेख।
४. ए स्टडी ऑफ उरीसन फोकलोर, कुंजविहारीदास, पृ० २१।
५. भारतीय साहित्य, अंक ३, पृ० ५६।

सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित नहीं होता। यदि धर्म, विवाह आदि विषयक अन्तरप्रान्तीय गीतों का अध्ययन किया जाए, तो उनमें साहश्य और समानता ही अधिक मिलेगी। इतना अवश्य है कि सचरणशीलता के कारण ये गीत देश-काल के अनुरूप अपना परिधान बदल लेते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। यह स्थानीय प्रभाव ही उन्हें भिन्न सत्ता प्रदान करता है। लोक-गीतों का जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण उनमें जीवन की समस्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। मुखरित जीवन के ये स्वर कभी तीखे, कभी अट्टहासपूर्ण तो कभी कोमल कभी विवेकशील तो कभी चीत्कारपूर्ण होकर गूँज उठते हैं। इन गीतों में ऐहिक जीवन की अनुभूतियों के साथ साथ जनता-जनार्दन की धर्म भावना तथा लोक-नायकों के चरित्रों की भी अभिव्यक्ति होती रही है। भारत के लगभग सभी प्रदेशों के लोक गीतों में राम और कृष्ण अत्यन्त प्राचीन समय से लोक जीवन के आदर्श रहे हैं। अत हमारे लोक-गीतों में एक ओर धर्म की पुनीत भावना अभिव्यक्त हुई है, तो दूसरी ओर उद्दाम वासनाएँ। जीवन के विविध प्रसगों और प्रकृति की परिवर्तनशील ऋतुओं को लेकर अनेक लोक-गीतों का निर्माण हुआ है। इनमें से कुछ लोक-गीत, जो कृष्ण-काव्य से सम्बन्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, वे हैं—होली, झूला, रसिया, कजरी, बारहमासा, लावणी गवलणी, विरहिणी, दधिकाला। इनमें से होली, झूला, रसिया कजरी और बारहमासा आदि का प्रचलन उत्तर भारत में है और लावणी, गवलणी, विरहिणी और दधिकाला का महाराष्ट्र में।

लावणी की उत्पत्ति कई विद्वान् पेशवाकालीन कवियों के अपरिमित कल्पना-वैभव तथा भाषा-शिल्प से मानते हैं, किन्तु यह मत युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पेशवा काल से बहुत पहले लावणी लोक-गीत का प्रचलन महाराष्ट्र की ब्राह्मण, अहीर तथा चमार जातियों में था। ये लोकगीत खेतों में चावल के पौधे लगाते समय गाये जाते थे, इसीलिए इनका नाम 'लावणी' पड़ा। आज भी छोटा नागपुर छत्तीसगढ़ आदि भागों में ये गीत चावल के पौधे लगाते समय बड़ी भावभंगी से गाए जाते हैं। ये गीत कुछ खास व्यक्ति ही गाते हैं और शेष स्त्री-पुरुष केवल सुर में सुर मिलाकर उनका साथ देते हैं। ये गीत कथा प्रधान होते हैं तथा इनका स्वरूप भी घरेलू-सा सरल और स्वाभाविक होता है। लावणी लोक-गीतों का यह मूल रूप पेशवाकालीन 'शाहिरी' काव्य से सर्वथा भिन्न है। इन गीतों के निश्चित स्वरूप का पता लगाने के लिए पिछले कई वर्षों से प्रयत्न हो रहा है और जब तक पर्याप्त शोध-कार्य नहीं होता तब तक इनकी कथा-वस्तु के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना अनुचित होगा। इतना अवश्य है कि महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना होते ही पराक्रम के साथ वैभव की भी वृद्धि होने लगी और शिवाजीकालीन सीधे, सरल और गद्य सदृश 'पावाडा' काव्य प्रकार को पीछे छोड़कर वीर-श्री और श्रृंगार से युक्त लावणी-गीतों की नई परम्परा चल पड़ी। ये श्रृंगार रस प्रधान लावणी-गीत महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। कई लावणी-गीतों में गीतों का वर्ण्य विषय राधा और कृष्ण का विलास है।

'होळी खेळतो हरी करनि राधा नट आपण नटी'
(स्वयं नटी बनकर और राधा को नट बनाकर कृष्ण होली खेल रहे हैं।)

रामजोशी, प्रभाकर, होनाजी आदि लावणीकारों ने राधा-कृष्ण-प्रेम तथा गोप-गोपियों के विलास को लेकर कई लावणी-गीत लिखे हैं। अनन्तफन्दी के 'चन्द्रावल' लावणी-गीत का विषय यद्यपि कृष्ण-गोपी-प्रेम ही है, फिर भी उसमें उद्दाम लौकिक शृंगार का ही मादक वर्णन हुआ है। परशुराम के लावणी गीतों में राधा और कृष्ण के विलास-वर्णन पर अध्यात्म का रंग चढ़ाने का प्रयत्न भी दिखाई देता है। प्रभाकर के कई लावणी-गीतों के नायक स्वयं बाजीराव पेशवा थे। उनका विलास-वर्णन करते समय कवि ने उन्हें कृष्ण बना डाला है।

गवलणी का अर्थ मराठी में 'ग्वालिनें' होता है। 'गवलण' या 'गौलण' मराठी का वह लोक-गीत है जिसमें गोपियों के कृष्ण-प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। महाराष्ट्र में इन लोक-गीतों की लोकप्रियता के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त-कवियों ने 'गौलण' शीर्षक के अन्तर्गत गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम को चित्रित किया है। नामदेव, एकनाथ और तुकाराम के 'गौलणी' अभंगों में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं और गोपियों के विरह की अत्यन्त मनोहारी अभिव्यंजना हुई है। अपनी सरसता और स्वाभाविकता के कारण ही इन सन्तों के ये 'गौलणी' अभंग महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। गोपियों के कृष्ण-प्रेम की कितनी सरल और प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना एकनाथ के निम्नलिखित 'गौलण' में हुई है--

आजी वो कांही कृष्ण नाहीं आला।
म्हणोनी खेद करी गौलणी बाला॥
काय हो ऐसें देहीं लागला वो चाळा।
कां रे न येसी बाळा नंदाचिया॥
कवण देवा नवसीं नवसूं।
कवणा गुरुतें मार्ग पुसूं॥
कैं भेटेल हा हृषिकेशू।
म्हणोनि मन जहले उदासू॥[१]

(भावार्थ है: शाम को वन से लौटने में कृष्ण को देर हो जाती है। गोपियाँ चिन्तित हैं। प्रस्तुत अभंग में गोपियों की मनोदशा का सुन्दर चित्रण हुआ है। कवि कहता है कि अभी तक कृष्ण को न आया देखकर गोपियाँ दुखी हो रही हैं। वे मन-ही-मन कृष्ण से अनुनय-विनय करती हैं और नन्द-नन्दन को बुलाती रहती हैं। कभी उनके मन में किसी देवी-देवता की मानता करने का विचार आता है, तो कभी किसी गुरु से मार्ग पूछने का। भाव है, किसी भी उपाय से क्यों न हो, कृष्ण शीघ्र ही घर वापस आ जाएँ। उनके न आने से गोपियों का मन अत्यन्त उदास हो रहा है।)

विरहिणी अथवा विराणी गीतों में कृष्ण के वियोग में गोपियों की मनोव्यथा का चित्रण मिलता है। विराणी लोक-गीत महाराष्ट्र के श्रम-जीवी निम्न-वर्ग में अत्यन्त लोक-प्रिय है। इन लोकगीतों का सामान्य जनता में प्रचार होने के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त कवियों ने, अल्प संख्या में ही क्यों न हो, 'विरहिणी' पदों की रचना की है। सन्त एकनाथ के 'विरहिणी' अभंग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

---

१. एकनाथी अभंग गाथा (आवटे), अ० १३५।

दधिकाला अथवा गोपालकाला महाराष्ट्र का वह सार्वजनिक उत्सव है जिसका साक्षात् सम्बन्ध बाल-कृष्ण की लीला से है। इसका आयोजन जन्माष्टमी के दूसरे दिन होता है। एक हाँडी में दही, मक्का की खीलें, खीरा आदि मिलाकर उसे किसी सार्वजनिक स्थान में बहुत ऊँचे पर लटका दिया जाता है। उस हाँडी तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन का निषेध होता है। बस बालकों को एक-दूसरे के कन्धे पर चढ़कर ही इस तक पहुँचना होता है। अतः बस्ती के बालक एक-दूसरे के कन्धे पर इस प्रकार खड़े होने की व्यवस्था करते हैं जिससे किसी अन्य सहारे के बिना सबसे ऊपर वाला बालक हाँडी तक पहुँच जाए। जो बालक इस व्यूह रचना के सहारे हाँडी तक पहुँचने में सफल होता है वही हाँडी तोड़ता है। तदनन्तर हाँडी की सामग्री सभी आबाल-वृद्ध-वनिता प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। महाराष्ट्र में इसकी प्रतियोगिताएँ भी होती हैं। स्पष्ट ही इस खेल का सम्बन्ध कृष्ण की गोरस-चोरी से है। इसका प्रचलन महाराष्ट्र में कब से है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, किन्तु कृष्ण लीलाओं से सम्बन्धित यह खेल महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। सच तो यह है कि केवल महाराष्ट्र में ही नहीं, अपितु समस्त भारत में कृष्ण लीलाओं का इतना प्रभाव पड़ा है कि सर्वत्र इन लीलाओं से सम्बन्धित पर्वों खेलों, नृत्यों आदि का प्रचलन है। प्राचीन मराठी सन्त कवियों ने 'गौलणी', 'विरहणी' आदि कतिपय अभंगों में कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं को जो थोड़ा बहुत स्थान दिया है, वह भी सम्भवतः लोक परम्परा का ही परिणाम है। यह परम्परा महाराष्ट्र में अवश्य ही बलवती रही होगी, क्योंकि हालसातवाहन की प्राकृत गाथा सप्तशती में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होता है और विद्वानों की धारणा है कि गाथा सप्तशती की रचना महाराष्ट्र में ईसा-पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में हुई थी तथा उसमें महाराष्ट्र का जीवन ही चित्रित है।[१]

अध्याय–३

हिन्दी-कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी-कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि मराठी कृष्ण-काव्य को पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न रही है। पिछले अध्याय मे देखा गया है कि मराठी कृष्ण-काव्य का उन्मेष स्वतन्त्र वातावरण में हुआ था। उसके उद्रेक मे राजनीतिक परिस्थितियो का उतना हाथ नहीं रहा है जितना धार्मिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का। महाराष्ट्र में भक्ति के उदय के पीछे प्राचीन वासुदेव-भक्ति की परम्परा स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है, यद्यपि लोक-कल्याण के लिए विभिन्न कालों की आवश्यकतानुसार उसका स्वरूप न्यूनाधिक मात्रा में बदलता रहा है। कालक्रमानुसार यह रूप-परिवर्तन होते हुए भी भक्ति का मूल आधार गीता ही रहा है, यद्यपि लोक-रुचि को दृष्टि में रखते हुए भागवत-पुराण से भी बहुत-कुछ प्रेरणा ली गई है। पर हिन्दी-भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ उत्तरदायी रही हैं। उत्तर भारत मे भक्ति का आन्दोलन स्थानीय परम्परा का कालानुकूल निर्वाह न होकर पूर्ण रूप से काल-विशेष की आवश्यकता प्रतीत होता है।

हिन्दी-भक्ति-काल के पूर्व आदिकाल मे वीर और शृंगार रस-प्रधान-काव्य का युग था। इसीको वीर-गाथा-काल भी कहते है। समस्त वीर-काव्य की रचना हिन्दू राजाओं की छत्रछाया में होकर भी उसमें भक्ति का अभाव यह सिद्ध करता है कि उत्तर भारत में उस समय जनता भक्ति की ओर उतनी उन्मुख नहीं थी जितनी वीर और शृंगार की ओर। वीरगाथा-काव्य की परिस्थितियों पर विचार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वीर-काव्य की सर्जना के लिए राजाश्रय को एक कारण माना है।[१] और किसी हद तक यह सत्य भी है, फिर भी यह कारण तत्कालीन वस्तुस्थिति पर पूर्ण प्रकाश नहीं डालता। हिन्दू राजाओं की युद्ध तथा शृंगारप्रियता अवश्य ही वीरगाथा-काल के साहित्य की मूल प्रेरणा रही है, पर उसमे भक्ति अथवा धार्मिक साहित्य का अभाव इस बात को सूचित करता है कि उस समय धर्म के विषय में हिन्दू राजाओं का न तो कोई विशिष्ट दृष्टिकोण था और न ही विशेष रुचि। सम्भवतः धर्म एक रूढ़ि मात्र बना हुआ था, जिसका पालन आत्मिक आवश्यकता न होकर दिनचर्या का एक साधारण अंग बन गया था। ऐसा न होता तो वीर-काव्य के साथ धार्मिक काव्य की भी प्रचुर मात्रा में सर्जना हुई होती। यह मान लेने पर भी कि वीर-गाथा काल के लगभग सभी कवि राजकवि थे तथा इस दृष्टि से उनके काव्य में राजाओं से

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१।

सम्बन्धित शृंगार, युद्ध, राज्यप्रशंसा आदि तत्त्वों का उदार समावेश आवश्यक था, इन कवियों का अपना निजी व्यक्तित्व भी था और इस नाते उनकी वाणी में तत्कालीन सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति एक मानवीय आवश्यकता थी। इस आवश्यकता पूर्ति का अभाव क्या यह नहीं सूचित करता कि उस समय लोक में धर्म के विषय में कोई विशेष जागृति विद्यमान नहीं थी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हिन्दी निर्गुण काव्य धारा के पूर्व जो भी अपभ्रंश का धार्मिक काव्य उपलब्ध होता है, वह मुख्यतः जैन, सिद्ध और नाथ साधुओं द्वारा रचा गया है।[1] उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इन रचनाओं की सर्जना तथा राज-कवियों की धार्मिक काव्य रचना के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करती है कि उत्तर भारत में प्राचीन वैदिक परम्परा लोक में निष्प्राण-सी होकर रही थी तथा धार्मिक चैतन्य नगण्य। उत्तर भारत की इस धार्मिक पार्श्वभूमि के कारण ही ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण से उमड़ी हुई भक्ति-धारा उत्तरी भारत को व्याप्त कर सकी।

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल की पूर्व परिस्थितियों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं[2]— 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतनी भारी राजनीतिक उलट फेर के कारण हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था? अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी, सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूर्वी भागों में और नाथपंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्म भावना कितनी दबती जा रही थी। उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था। हिन्दी साहित्य के आदि-काल में कर्म तो अर्थ-शून्य, विधि विधान तीर्थाटन और पर्व-स्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत-कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।'

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी भक्ति काव्य की सर्जना के लिए मूल कारण उत्तरी और पश्चिमी भारत में मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठापना को माना है तथा तत्कालीन धार्मिक अवस्था को उसमें सहायक। पर वस्तु-स्थिति इससे ठीक विपरीत प्रतीत होती है। मुसलमानी राजसत्ता की प्रतिष्ठापना का परिणाम

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६०।

केवल गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-सृष्टि में ही दृष्टिगत होता है, उससे पहले नहीं। उससे पहले का साहित्य आवश्यक रूप से तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं की प्रक्रिया के रूप में ही उद्भूत हुआ है। विशेषतः निर्गुण अथवा ज्ञान-मार्गी शाखा का तत्त्वज्ञान तत्कालीन वज्रयान के महासुखवाद तथा योग-तन्त्र आदि मद्य और स्त्री-विषयक साधनों की ही प्रक्रिया थी।

बौद्ध धर्म के तांत्रिक रूप धारण करते ही उसमें अनेक बोधिसत्वों का समावेश हो गया। वज्रयान में 'महासुखवाद' के अन्तर्गत ब्रह्मानन्द रति-सुख का समकक्ष बन गया और देवताओं की, उनकी शक्तियों-सहित, नग्न मूर्तियों को धार्मिक क्षेत्र में मान्यता मिली। ये मूर्तियाँ सम्भोग की अश्लील मुद्राओं में बनने लगी तथा 'गुह्य समाज' या 'श्रीसमाज' की स्थापना हुई। वज्रयानियों एवं कापालिकों की धर्म-साधना का स्त्री-संग तथा मद्य-सेवन एक आवश्यक अंग बन गया, यहाँ तक कि कुलीन स्त्रियों की सत्त्व-रक्षा एक समस्या-सी बन गई।[१] मुसलमानों के भारत में आने के समय लगभग समस्त उत्तरापथ में (विशेषतः पूर्वी विभाग में) धर्म का यही रूप जोर पकड़े हुए था। इस धार्मिक दुराचार के परिणामस्वरूप ही स्वाभाविक चेतना के रूप में हिन्दी की ज्ञानाश्रयी शाखा तथा तत्पश्चात् भक्ति-मार्ग का उदय हुआ। मुसलमानी राज्य की स्थापना तथा इस्लाम का प्रचार इस दिशा में केवल गौण रूप से ही उत्तरदायी रहे है। इस प्रकार ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में उद्भूत भक्ति-धारा में अवगाहन का उत्तर भारत पूर्ण रूप से अधिकारी था। स्मरण रखने की बात है कि दक्षिण का भक्ति-स्रोत अपने मूल रूप में कृष्णपरक था, परन्तु उत्तर में स्वामी रामानन्द द्वारा राम-भक्ति का प्रचार सम्भवतः उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास की राम-विषयक कल्पनाओं ने स्वामी रामानन्द के अभीष्ट को पूर्ण किया। इस प्रकार उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में यदि मुसलमानी राज्य की स्थापना कहीं भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रही है तो वह केवल राम की उपासना की उद्भावना में।

उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र की कृष्ण-भक्ति का उद्गम-स्रोत यद्यपि दक्षिण का ही भक्ति-आन्दोलन रहा है, तथापि वासुदेव-सम्प्रदाय की परम्परा के कारण महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति ने जो स्वरूप धारण किया वह उत्तर भारत की कृष्ण-भक्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। कृष्ण का योगेश्वर, लोकनायक, महाभारत के प्रणेता, गीता का दिव्य संदेश देने-वाला तथा बाल-रूप मराठी कविता का प्राण है। अतः मराठी कविता में सर्वत्र दास्य और वात्सल्य-भावों की ही प्रधानता है, जबकि हिन्दी-कविता का झुकाव दास्य और वात्सल्य की अपेक्षा कान्त या मधुर भाव तथा सख्य की ओर ही अधिक है। दूसरे शब्दों में, मराठी कृष्ण-काव्य का अभीष्ट लोक-हित है, जबकि हिन्दी-कृष्ण-काव्य का लोकरंजन।[२] यही कारण है कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत के आधार पर कृष्ण की रास-लीलाओं से ही अधिक प्रेरणा ली है।

हिन्दी-कृष्ण-काव्य के इस विशिष्ट दृष्टिकोण का कारण पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग को माना है।[३] धार्मिक सिद्धान्तों के अनुशीलन की दृष्टि से यह

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १० ।

२. वही, पृ० १५८ ।

३. वही, पृ० १५६ ।

अनुमान अनुचित नहीं है तथापि हिन्दी-कृष्ण-भक्ति का मूल आधार वल्लभाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तों में खोजने से पहले उत्तर भारत में पुष्टि मार्ग की स्थापना एवं विकास के कारणों पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। ब्रज मंडल में वल्लभाचार्य द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार का लोक विदित कारण है ब्रज मण्डल का कृष्ण-गोपियों की लीला भूमि होना। इसी लिए तेलुगु भाषी होते हुए भी वल्लभाचार्य ने अपने मत के प्रचार के लिए ब्रज भूमि को चुना। पर यह आंशिक सत्य है। क्योंकि वल्लभाचार्य का तत्त्वज्ञान आंध्र भूमि पर उभर कर भी उनके सिद्धान्तों के अनुकूल आंध्र का तत्कालीन वातावरण नहीं था। तेलंग देश का उल्लेख करते हुए स्वामी चक्रधर ने उसे विषय-बहुल देश कहा है तथा अपने शिष्यों को वहाँ जाने से मना किया है। वे कहते हैं—

'कानडेदेशा तेलगदेशा न वचावेल ते विषयबहूल देश'[१]

(तेलंग और कन्नड प्रदेश में निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे विषय-बहुल देश हैं।)

स्वामी चक्रधर का काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः वल्लभाचार्य के सिद्धान्त निरूपण पर प्राचीन परम्परा का रंग चढ़ा हो तो आश्चर्य की बात नहीं और अपने मत प्रचार के लिए ब्रज मण्डल का चुनने से पूर्व भी उनके सम्मुख उत्तर भारत की धार्मिक दशा अवश्य ही रही होगी, क्योंकि धर्म प्रचार और लोक रुचि का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है।

पहले देखा जा चुका है कि सिद्ध और वाम मार्गी साधुओं की उपासना-पद्धति में स्त्री-सहवास एक आवश्यक अंग बन गया था तथा इस प्रकार की उपासना का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो रहा था। उपासना के क्षेत्र में यह तत्त्व अवांछनीय होते हुए भी उसका बराबर प्रचार होता गया। इसका एक-मात्र कारण था प्राचीन काल में काम-पूजा का प्रचलन। आसाम, चीन, बंगाल तथा पूर्वी एशिया के प्राचीन साहित्य एवं लोक-विश्वासों के परीक्षण से पता चलता है कि वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से योनि के रूप में परम-तत्त्व या परमेश्वर की उपासना की पद्धति विद्यमान थी, क्योंकि योनि उर्वरता की प्रतीक है। यही योनि अथवा परमेश्वर की उर्वरा-शक्ति की उपासना कालान्तर में निकृष्ट रूप में परिवर्तित होने लगी, पर उसका प्रभाव जन-मन पर बराबर बना रहा। इस विश्वास के उत्तरोत्तर विकास के कारण ही आध्यात्मिक क्षेत्र में परमेश्वर के साथ-साथ स्त्री रूपी शक्ति को स्थान मिला और उपासना के लिए प्रेम-साधना की पद्धति लोकप्रिय होने लगी। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों की राधा-कृष्ण उपासना और बंगाल के चैतन्य-सम्प्रदाय की उपासना में उत्तर भारत की परम्परा से प्रवाहित ये ही भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। इन भावनाओं के सूफी प्रेम-साधना के अत्यन्त निकट होने के कारण ही प्रायः उनमें मुस्लिम सभ्यता का प्रभाव भी देखा जाता है।

बौद्ध-दर्शन का खंडन करने के लिए ईसा की आठवीं शताब्दी में वेद, उपनिषद् तथा गीता के आधार पर दक्षिण में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार करके जीव और ब्रह्म की एकता मानकर माया को तुच्छ अथवा मिथ्या कहकर अद्वैतवाद का प्रचार किया—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'। यद्यपि शंकराचार्य ने ब्रह्म की व्यावहारिक

१ सूत्रपाठ, ह० ना० नेने द्वारा सम्पादित, आचार ७३।

सगुण सत्ता को भी स्वीकार किया है एवं विष्णु-परक भक्ति के कई स्तोत्र लिखे हैं[1] तथापि भक्ति को उन्होंने केवल चित्त-शुद्धि का साधन माना है। भक्ति के प्रचार एवं अनुशीलन के लिए स्वस्वरूपानुसन्धान (स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्ति रित्यभिधीयते: विवेक चूडामणि) आवश्यक है। उपास्योपासक भाव के बिना भक्ति सम्भव नहीं, पर उपास्योपासक का यह भाव अद्वैत का विरोधी है, इसलिए शांकर मत में परमेश्वर और भक्त के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।[2] अतः उपासना के लिए भक्ति का कोई महत्त्व नहीं। सगुणोपासना अथवा प्रतीकोपासना को मान्य करते हुए भी[3] इस प्रकार की उपासना का फल उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति न मानकर ब्रह्मलोक-प्राप्ति ही माना है।[4] ब्रह्मलोक में जीव और परमेश्वर के भेद को मानते हुए उस अवस्था से उन्होंने केवल ब्रह्म-मुक्ति की प्राप्ति को स्वीकार किया है, उद्योमुक्ति की प्राप्ति को नहीं। मोक्ष तो केवल एक ज्ञान से ही मिल सकता है (ज्ञानादेव तु कैवल्यं), अतः उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन ज्ञान है और ज्ञान है अद्वैत प्रतीति। ज्ञानावस्था में कर्म का कोई स्थान नहीं होता। उसकी महत्ता केवल चित्त-शुद्धि के लिए हो सकती है, अतः चित्त-शुद्धि प्राप्त होते ही कर्म-त्याग अनिवार्य है। अन्यथा जीव ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेने पर भी कर्म करने से मुक्तावस्था से बद्धावस्था में उतर आएगा। कर्म मात्र से यदि मोक्ष-प्राप्ति सम्भव हो तो तो कर्म ही उपासना का एक-मात्र साधन होता।[5] सिद्धान्त की दृष्टि से शंकराचार्य का अद्वैतवाद परम तत्त्व रूपी एक ही तत्त्व का समर्थक होते हुए भी उपासना-पद्धति में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति तथा गणेश आदि पंचायन-पूजा का समावेश होने के कारण बहुदेववादी था तथा इस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में उनके सिद्धान्त और उपासना में परस्पर विरोध दृष्टिगत होता है। यह मान लेने पर भी कि शंकराचार्य ने किसी संकुचित दृष्टिकोण से किसी देवता की उपासना अथवा सम्प्रदाय को नहीं चलाया था तथा तत्त्वार्थ पर ही अधिक जोर दिया था, जन-मन पर उसका उल्टा परिणाम हुआ और ज्ञान से अनभिज्ञ भक्ति-विह्वल जनता में अनेक देवताओं की एक साथ उपासना की पद्धति चल पड़ी। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह उपासना-पद्धति स्वयं शांकर सिद्धान्त की विरोधी थी। इस वस्तुस्थिति को रामानुजाचार्य ने समझा तथा इसीका निराकरण महाराष्ट्र के महानुभाव पन्थ के अन्तर्गत एकेश्वर के रूप में कृष्ण की अनन्य उपासना को स्वीकार करके स्वामी चक्रधर ने किया।

रामानुजाचार्य निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य

वासुदेव-पूजक आलवारों की परम्परा के आविर्भूत होनेके कारण रामानुजाचार्य ने विष्णु की उपासना को स्वीकार किया, क्योंकि उनके समय तक आकर वासुदेव और विष्णु का ऐक्य पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था। शंकराचार्य का ज्ञान-मार्ग केवल बौद्धिक एवं अनुभवगम्य होने के कारण जनसाधारण के लिए सुलभ नहीं था, अतः शंकर के कोरे ज्ञान का विरोध करते हुए रामानुजाचार्य ने भक्ति को उपासना का माध्यम बनाया। यही नहीं, कर्म-योग की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने भक्ति को ही परम साध्य भी माना है। गीता-

१. बापट शास्त्री द्वारा संपादित 'हरिसीडेस्तोत्रम्'।
२. देखिए, ब्रह्मसूत्र,१-२-४ पर शांकरभाष्य।
३. वही ४-१-३ पर शांकरभाष्य।
४. देखिए ब्रह्मसूत्र, ४-३-१ ; ४-१-४ ; ४-३-१५ पर शांकरभाष्य।
५. एन इंट्रोडक्शन टु अद्वैत फिलोसोफी, कोकिलेश्वर शास्त्री, पृ० १६०।

भाष्य की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—'अर्जुन को युद्ध के लिए प्रवृत्त करने के निमित्त, परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन रूप, वेदान्त-वर्णित, ज्ञान-कर्म योग द्वारा साध्य अपने विषय में भक्ति-योग भगवान् ने प्रकट किया।' स्पष्ट ही उनका अभिप्राय है कि गीता में भक्ति-योग का ही प्रतिपादन हुआ है। रामानुजाचार्य के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव हो सकती है। ज्ञान और कर्म केवल भक्ति के साधन है। उन्होंने भक्ति के भी दो भेद माने हैं—साधन भक्ति और परा भक्ति। साधन-भक्ति से चित्त-शुद्धि होकर जीव परा भक्ति का पात्र बनता है। रामानुजाचार्य के शिष्य वेंकटनाथ ने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अपने ग्रन्थ में रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है—महनीय विषये प्रीतिभक्ति।[1] रामानुजाचार्य के मतानुसार भक्ति भावना न होकर विशेष ज्ञान है[2] और जीव परमेश्वर का अंश है यह जान लेना ही ज्ञान। परमेश्वर अविभाज्य होने के कारण परमेश्वर से विभक्त अंग अंग न रहकर विशेषण विशेष्य का, ईश्वर और जीव का सम्बन्ध है। जीव यथार्थ में ईश्वर का गुण-धर्म है, यह ज्ञान प्राप्त होते ही ध्रुवानुस्मृति अथवा निरंतर चिंतन द्वारा उसकी भक्ति करना ही मुक्ति प्रदान करने वाला श्रेष्ठ योग है। भक्ति का अधिकार चारों वर्णों को है। कई स्थानों पर भक्ति और प्रपत्ति में भी भेद किया गया है। किसी-न किसी समय ईश्वर अपना अवश्य उद्धार करेगा, इस इस अखण्ड विश्वास को लेकर अनन्य भाव से भगवान् की शरण जाना ही प्रपत्ति मार्ग कहलाता है तथा उसका अधिकारी सभी वर्णों को माना गया है, जबकि भक्ति मार्ग केवल त्रिवर्ण तक ही सीमित रखा गया है।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि उपासना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने भक्ति, ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार करके अनन्य भाव से सगुण ईश्वर भक्ति पर जोर देकर वैदिक धर्म को अधिक व्यापक एवं जन सुलभ बना दिया। रामानुजाचार्य ने अपने मत प्रतिपादन के लिए ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं गीता का ही आश्रय लिया है, पर उनके तत्त्व-निरूपण पर पुराणों का ही अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।[3] यही कारण है कि उपासना के क्षेत्र में कर्म का महत्त्व और भक्ति तथा प्रपत्ति का आवश्यकता मानते हुए भी वे जीव को ईश्वर का ही एक अंश मानते हैं। इस मान्यता में भासमान विरोध के निराकरण के लिए ही कदाचित् उन्होंने माया की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया तथा सृष्टि को ईश्वर की लीला माना। अन्यथा एक ही तत्त्व का जीव और ईश्वर के रूप में विभाजन तथा भक्ति द्वारा उनका एकीकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से असंगत प्रतीत होता।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में भासमान इसी विषमता के कारण भक्ति-मार्ग के समर्थक होते हुए भी माध्वाचार्य, स्वामी चक्रधर आदि ने द्वैतवाद का आश्रय लिया। निम्बार्काचार्य का मत इन दोनों के बीच का मार्ग है। यद्यपि उन पर रामानुजाचार्य का काफ़ी प्रभाव दृष्टिगत होता है तथापि उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया। निम्बार्काचार्य का मत द्वैताद्वैत सम्प्रदाय अथवा सनकादिक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम

१ हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फिलोसोफ़ी, दासगुप्त, खण्ड ३, पृ० ३१२।

२ वही पृ० ३६१।

३ भारतीय भगवत धर्म, डॉ० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० १३५।

भक्ति पर अधिक बल देने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का विशेष महत्त्व है। निम्बार्काचार्य ने परमेश्वर और जगत्—दोनों को सत्य माना है तथा जीव को नित्य। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर से तादात्म्य का अनुभव करता है तथा वह ईश्वर की शक्ति का अंग होने के कारण उसीमें वास भी करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर से भिन्न और एकरूप भी है। मुक्तावस्था भक्ति से ही प्राप्त होती है। निम्बार्काचार्य के अनुसार, जीव को वेद वर्णित कर्मों की आवश्यकता ज्ञान-प्राप्ति तक ही होती है। ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ज्ञानी को वेदोक्त कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह एक साथ ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। वह अणु रूप है और मुक्तावस्था में भी कर्ता रहता है। इस दृष्टि से उसमें और ईश्वर में केवल नियन्ता और नियम्य का भेद है। ईश्वर सगुण और निर्दोष है। जो कुछ भी दृश्यमान एवं बोधगम्य है उस सबके बाहर और भीतर ईश्वर व्याप्त है। वही परब्रह्म, भगवान् पुरुषोत्तम, नारायण, कृष्ण आदि विविध नामों से सम्बोधित होता है। निम्बार्काचार्य ने ही सर्वप्रथम राधासहित कृष्ण को महत्त्व दिया है। उनके आराध्य असंख्य गोपियों से घिरे हुए राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण की लीला ही सृष्टि का रहस्य है। चार व्यूह और अनेक अवतार कृष्ण के ही हैं। निम्बार्क मत के अनुसार जड़ पदार्थ तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृत वह है जो महत् तत्त्व से लेकर महाभूतों तक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जगत्। अप्राकृत वे पदार्थ हैं जिनका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, यथा विष्णुपद, परमपद आदि।

आचार्य निम्बार्क वैष्णव मत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि माने जाते हैं[१], पर उनके काल के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। निम्बार्क मत को सनकादिक सम्प्रदाय, हंस-सम्प्रदाय तथा देवर्षि-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्त्तक हंसावतार भगवान् माने जाते हैं। भगवान् हंस ने अपने शिष्य सनत्कुमार को इस मत का उपदेश दिया था और सनत्कुमार ने अपने शिष्य नारद को। नारद से वह निम्बार्काचार्य को मिला।[२] भागवत से पता चलता है कि सनत्कुमार को योग-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही भगवान् ने हंसावतार धारण किया था।[३] अतः बहुत सम्भव है कि भगवान् हंस ही इसके मूल प्रवर्त्तक रहे हों। छांदोग्य उपनिषद् में नारद के सनत्कुमार के शिष्य होने का प्रमाण मिलता है।[४] ब्रह्म-विद्या शास्त्र की परम्परा का उल्लेख करते हुए महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ के आद्य-प्रवर्त्तक स्वामी चक्रधर ने भी ब्रह्म-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश हंसावतार द्वारा माना है।[५] निम्बार्क मत के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के भेदाभेद का प्रभाव उत्तर भारत के संत-साहित्य पर पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है, विशेषतः गुरु नानक और कबीर आदि पर। सागर में बूंद और बूंद में सागर के समान ब्रह्म में जीव और जीव में ब्रह्म—में गुरु नानक की आस्था इसी भेदाभेद को सूचित करती है।

१. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१३।
२. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१३।
३. श्रीमद्भागवत, ११।१३।१६।
४. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१३।
५. सूत्रपाठ, ह० ना० नेने, विचार, पृ० ३७।

कबीर का पद—

> लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
> लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

इसी प्रभाव का एक उदाहरण है।

वल्लभाचार्य ने भक्ति को प्रेमलक्षणात्मक माना। उनका सम्प्रदाय पुष्टि-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है तथा उनका सिद्धान्त है शुद्धाद्वैतवाद, जिसका आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद शांकर मत का विरोधी था। शंकराचार्य ने ब्रह्म को माया रूप माना है पर वल्लभाचार्य ने मायारहित होने के कारण उसे शुद्ध। उनके मतानुसार कार्य और कारण रूप दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है मायिक नहीं। माया रहित होने के कारण ही वह अद्वैत तत्व है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म सर्व ब्रह्म हैं—के अनुसार सारी सृष्टि उसीकी लीला का विलास है। वल्लभाचार्य ने वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, एवं भागवत पुराण को ही प्रमाण माना है। उनका कहना है कि तर्क अथवा अनुमान से ब्रह्म का निरूपण सम्भव नहीं। इस प्रकार शंकराचार्य की तुलना में वे विशुद्ध धार्मिक हैं और इस प्रकार शब्द को एक मात्र प्रमाण मानने के कारण वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद दार्शनिक सिद्धान्त न होकर धर्मशास्त्रीयवाद है।[1] उपनिषदों में अद्वितीय सत् को ब्रह्म कहा गया है। गीता उसीको पुरुषोत्तम और भागवत पुराण परमेश्वर या कृष्ण कहता है। वल्लभाचार्य के ब्रह्म, ईश्वर अथवा परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। परब्रह्म कृष्ण सविशेष और निर्विशेष, सगुण और निर्गुण, अणु और महान्, चल और अचल, गम्य और अगम्य—दोनों एक साथ हैं। वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनके सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न हैं। वे अपनी अनन्त शक्तियों के साथ भक्तों के लिये 'व्यापी वैकुण्ठ' में नित्य लीला किया करते हैं।

वल्लभाचार्य ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह। ईश्वर का चिन्तन न करके निरुद्देश्य जीवन बिताने वाले जीव प्रवाह जीव हैं। वेदानुसार आचरण करने वाले जीव मर्यादा जीव हैं तथा जो जीव ईश्वर की विशेष कृपा के लिए पात्र हैं तथा ईश्वर से अनन्य प्रेम करके उसकी शरण में रहते हैं, वे हैं पुष्टि जीव। इन तीनों में से पुष्टि जीव सर्वोत्तम हैं क्योंकि मर्यादा जीवों को कर्म मार्ग और ज्ञान-मार्ग से केवल क्रम-मुक्ति मिलती है तथा वे क्रमशः पितृयान देवयान और कैवल्य को प्राप्त करते हैं। नवधा भक्ति करने से केवल सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति ही प्राप्त होती है। पर पुष्टि-जीव ईश्वर प्रेम को ही समस्त आध्यात्मिक कार्य-कलापों का अर्थ और हेतु मानता है। 'कठोपनिषद्' के अनुसार आत्मा का ज्ञान प्रवचन और स्वाध्याय से सम्भव न होकर केवल ब्रह्म की कृपा से ही हो सकता है।[2] इसी का समर्थन गीता में भी हुआ है।[3] स्मृति-वाक्यों में आपाततः विरोध का निराकरण वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों से किया तथा भक्ति-मार्ग की दो विभिन्न शाखाओं को मान्यता दी। मर्यादा भक्ति को उन्होंने उन जीवों के लिए माना जो अपने कर्मों द्वारा मुक्त होना चाहते हैं तथा पुष्टि भक्ति उन जीवों के लिए जो दीन हैं

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७३६।
२ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ७३७।
३ गीता, १०_ ११।

असहाय हैं, तथा सब प्रकार से साधनहीन हैं। पुष्टि-भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति है जो सर्वोत्तम साधना भी है और साध्य भी। ईश्वर-प्रेम-विषयक इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही वल्लभाचार्य का साधना-मार्ग पुष्टि-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों ने 'पुष्टि' का अर्थ 'मोटा-ताजा' या 'खाओ-पियो, मौज उड़ाओ' लगाया है[१], पर यह ठीक नहीं है। स्पष्ट ही वल्लभाचार्य ने भागवत-वचन 'पोषणं तदनुग्रहः'[२] के अनुसार 'पुष्टि' को भगवान् का अनुग्रह माना है तथा ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग के कठिन होने के कारण भक्ति का समर्थन करते हुए पुष्टि-मार्ग को ही श्रेयस्कर माना।

पुष्टि-भक्ति को भी उन्होंने चार प्रकार का माना है—प्रवाह-पुष्टि-भक्ति, मर्यादा-पुष्टि-भक्ति, पुष्टि-पुष्टि-भक्ति एवं शुद्ध-पुष्टि-भक्ति। प्रवाह-पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी भगवान् की भक्ति करना चाहते हैं। मर्यादा-पुष्टि-भक्ति विरक्त जीवों के लिए है। पुष्टि-पुष्टि-भक्ति उन लोगों के लिए है जो ईश्वर की कृपा से भक्त बनते हैं और तत्पश्चात् उसीकी कृपा से ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं और शुद्ध पुष्टि-भक्ति वह है जिसके द्वारा जीव ईश्वर से केवल 'अमित प्रेम' करता है। यह अवस्था केवल भगवान् की कृपा से ही स्थापित होती है तथा इसके तीन सोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। गोपियों की भक्ति शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का ही उदाहरण है। इस कोटि के भक्त सायुज्य-मुक्ति को हीन समझकर श्रीकृष्ण की रास-लीला में निरन्तर भाग लेना ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति मानते हैं।

वल्लभाचार्य के मतानुसार कृष्ण रस-रूप, आनन्द-रूप और सौन्दर्य-रूप है। 'वे सभी रसों को, पर विशेषतः शृंगार-रस को प्रकाशित करते हैं। संयोग और विप्रलम्भ के भेद से शृंगार दो प्रकार का है। अपने भक्तों के सम्बन्ध में कृष्ण दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हीं पर ध्यान करना पुष्टिमार्गी का लक्ष्य है।'[३] पुष्टिमार्ग की स्थापना करके वल्लभाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में भागवत-पुराण के दशम स्कन्ध को महत्त्व देकर बाल-कृष्ण और उनकी सखी राधा की उपासना-पद्धति को ही नहीं चलाया वरन् साधना के रूप में भक्ति को और भी सरल बनाकर उसे जन-सुलभ बना दिया। भक्ति के इस व्यापकत्व तथा रंजन-स्वरूप के कारण ही रास-लीला, बाल-लीला, गोकुल-वर्णन, यशोदा-वात्सल्य, गोपियों के साथ कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं तथा भ्रमर-गीत आदि का विशद वर्णन करके ब्रज-भाषा के अधिकांश कवियों ने पुष्टिमार्ग का ही आश्रय लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने जहाँ हिन्दी-काव्य को वैष्णव-भक्ति की ओर प्रवृत्त किया, निम्बार्काचार्य ने जहाँ कृष्ण को ही ब्रह्म-रूप माना तथा राधा को कृष्ण की शक्ति के रूप में स्वीकार किया, वहाँ वल्लभाचार्य ने राधा, कृष्ण और गोपियों की लीलाओं को लेकर संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार से परिपूर्ण हिन्दी-कृष्ण-काव्य के अजस्र स्रोत-प्रवाह में सहायक बनकर अनजाने ही भक्ति को लौकिकता की ओर उन्मुख किया।

---

१. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ७६६-७६७।
२. भागवत पुराण, २।१०।४।
३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६८।

जिस प्रकार वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग हिन्दी कृष्ण-काव्य मे राधा तथा गोपियों सम्बन्धी शृंगार के समावेश के लिए तात्त्विक दृष्टि से उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार जयदेव तथा विद्यापति भी कृष्ण भक्ति के इस नवीन प्रकार के लिए उत्तरदायी रहे हैं। कृष्ण भक्ति धारा मे भागवत के आधार पर सर्वप्रथम जयदेव ने ही भक्ति की पार्श्वभूमि पर सयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के रमणीय चित्र अंकित किए हैं। इस चित्राङ्कन के लिए पुराणों के आधार पर सर्वप्रथम राधा को साकार प्रकृति-तत्त्व के रूप मे गढा किया गया है। भागवतादि ग्रन्थों म वर्णित रास क्रीडा तथा सूचित 'राधा' नाम की प्रिय गोपी को स्वीकार करके जयदेव ने अपने काव्य म शृंगार का पर्याप्त समावेश किया है। कृष्ण-भक्ति या गोपी तथा राधा के प्रेम का जो आदर्श जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति प्रभृति कवियों ने अपने सामने रखा, उसीको चैतन्य महाप्रभु ने भी आदर्श माना। बारहवीं शताब्दी में जयदेव द्वारा रचित 'गीतगोविन्द' म राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग, विरह मिलन का मधुर विवेचन हुआ है। सयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण तो 'गीतगोविन्द' म अद्वितीय है। 'गीतगोविन्द' म यद्यपि भक्ति और शृंगार—दोनों का ही समावेश है तथापि अनेक स्थानों पर उत्कट शृंगार का ही गहरा रंग चढा हुआ दिखाई देता है। इन वर्णनो को देखकर यह भ्रम होने लगता है कि जयदेव मूलत भक्त कवि थे या शृंगार-कवि। इस भ्रम के निवारण के लिए ही शायद कवि ने कहा है—

विद्यापति तथा जयदेव का प्रभाव

यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलिं, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥[1]

ध्यान देने योग्य बात है कि कवि की इस उक्ति तथा उसके काव्य मे शृंगार और भक्ति का मधुर सम्मिश्रण होते हुए भी केवल हिन्दी कवियो पर ही नही, रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

वासुदेव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवद् विषयक कल्पनाओं और जयदेव द्वारा प्रतिपादित शृंगार भक्ति—इन दोनो के बीच विद्यमान तात्त्विक भेद को देखकर ऐसा लगता है मानो जयदेव के काव्य मे कृष्ण विषयक प्राचीन कल्पनाओं को अकस्मात् एक नया मोड मिला। जयदेव के कृष्ण तत्त्ववत्ता होते हुए भी रसिक अधिक थे। वासुदेव भक्ति या कृष्ण भक्ति के इस आकस्मिक प्रकारान्तर के सूत्र जैन आगमों एव पुराणों में बिखरे हुए मिलते हैं। जैन-साहित्य मे सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'आगम' है। यह आगम भगवान् महावीर द्वारा कथित माने जाते हैं तथा उनका समय ई० स० ३५३ के पहले का माना जाता है। दूसरा ग्रन्थ है 'वसुदेव हिंडी', जो कि चार-पाँचवीं शती का कथा-संग्रह माना जाता है।[2] इन दोनो ग्रन्थों में कृष्ण का चरित्र प्रचुर मात्रा में अंकित है। इन ग्रन्थों में कृष्ण की सोलह सहस्र रानियों तथा आठ पटरानियों का उल्लेख है पर गोपियो के साथ केलि क्रीडाओं के वर्णन का सर्वथा अभाव है। पहले कहा जा चुका है कि ईसा-पूर्व प्रथम द्वितीय तृतीय, चतुर्थ एव पचम शताब्दी में वार्ष्णेय वासुदेव की पूजा प्रचलित थी तथा उसका प्रथम दर्शन महाभारत

---

१ गीतगोविन्द, १ ३।

२ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री अगरचंद नाहटा का लेख प्राचीन जैन ग्रन्थों में कृष्णचरित्र।

के नारायणीय पर्व मे होता है। वासुदेव की पूजा का मूल भगवद्‌गीता है। फलतः भक्ति-मार्ग का धर्म लोकप्रिय हुआ और गीता के भगवान् वासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। इस भक्ति-मार्ग के प्रणेता वासुदेव-कृष्ण का जो चरित्र उपलब्ध है वह बाल्यावस्था का न होकर वयस्कता का है। यह त्रुटि बाद में हरिवंश में कृष्ण की बाल्यावस्था की कथा का समावेश करके पूरी कर दी गई। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा-पूर्व काल में कृष्ण नटवर और श्रेष्ठ रसिया के रूप में नहीं पूजे जाते थे और न ही उस समय तक उनके बाल-चरित्र का कहीं अधिकारयुक्त वर्णन मिलता है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम का यत्र-तत्र उल्लेख अवश्य दृष्टिगत होता है, पर इन उद्धरणों में लौकिक प्रेम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इन सब प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि राधा-कृष्ण-भक्ति का आरम्भ जयदेव ने नहीं किया, अपितु उससे बहुत पहले यानी ईस्वी सन् के आरम्भ से ईसा की १०वीं शताब्दी तक यह भक्ति जनसाधारण के हृदय मे अंकुरित होती रही थी। आलवारों के गीतों में गोपी-कृष्ण-लीलाओं के अनेक मनोहर वर्णन मिलते हैं। हाल की 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) में सर्वप्रथम राधा और कृष्ण के विरह-मिलन के प्रसंग सर्वथा लौकिक सन्दर्भ में वर्णित मिलते हैं।[1] जयदेव के 'गीतगोविन्द' में सम्भवतः इन्हीं लोक-विश्वासों ने सुसंस्कृत होकर निश्चित रूप धारण किया तथा आगामी भक्त-कवियों के लिए राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति के शोभनीय पुष्पों से सुसज्जित उत्तान श्रृंगार को लेकर काव्य-सर्जना के लिए मार्ग बना दिया। जयदेव द्वारा वर्णित राधा-माधव के क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि 'मैथिल-कोकिल' विद्यापति की 'कोमल-कान्त-पदावली' में सुनाई पड़ी। संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण रसिक विद्यापति की भावुकता पर साहित्य-शास्त्र का रंग चढ़ा और जिसने राधा और कृष्ण के चरित्र को नायक-नायिका-भेद की अनुकरणीय वस्तु बना दिया। 'विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न रह-कर कामशास्त्र में निपुण नायक और नायिका बन गए। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमे वासना का रंग बहुत ही गहरा उतरा है। आराध्यदेव के प्रति भक्त की जो पवित्र भावना होनी चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य-भाव से जो उपासना की गई है, उसमे श्रीकृष्ण यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति चित्रित हुए हैं और राधा यौवन की मदिरा मे मदमत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और शरीर उसका क्रिया-कलाप। यौवन ही से उसके जीवन का विकास है।'[2] विद्यापति की राधा वयःसंधि पर पहुँची हुई अल्हड़ किशोरी हैं। उनमें शैशव और यौवन का संघर्ष साकार हो उठा है। चरणों की चपलता लोचनों ने धारण कर ली है। वह मुकुर लेकर नित्य श्रृंगार किया करती है—'मुकुर लइ अब करई सिंगार।' मन लगाकर वह रस-कथा सुना करती हैं। उनके सौन्दर्य से सब चकित हो उठे हैं। लावण्य-सार कृष्ण तो उनका यौवन देखकर मूर्छित ही हो जाते हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य कोष, पृ० २७७।

२. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, हिन्दी साहित्य में राधाकृष्ण की भावना का विकास, श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, पृ० २७०।

'मुरधि परस छिति तन-सावन-सार'

संक्षेप में विद्यापति की राधा यौवन से परिपूर्ण वासनामयी मानवी है और कृष्ण यौवन के मूर्तिमान नायक। विद्यापति की शृंगारिक पदावली से बंगाल की सामाजिक प्रवृत्ति और भी उत्तेजित हो उठी। इस उत्तेजना को चंडीदास के प्रेम-गीतों ने और भी तीव्र कर दिया, यहाँ तक कि चैतन्य महाप्रभु जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की शृंगारिक पदावलियों को गा-गाकर मस्त रहने लगे। इतना अवश्य है कि विद्यापति और चंडीदास की उन्मत्त शृंगारिक कविताओं से चैतन्य की भक्ति-भावना का संयोग हो गया और नायिका भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण भक्ति को देखा जाने लगा। चैतन्य द्वारा परकीया प्रेम की भावना कृष्ण प्रेम में अपना ली गई तथा कृष्ण की भक्ति गोपी भाव से की जाने लगी। चैतन्य ने वैधी भक्ति को न अपनाकर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी। रागानुगा भक्ति में भी उन्हें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य ही रुचिकर लगा। माधुर्य की पाँच शाखाओं—शांत, दास्य, सख्य वात्सल्य और माधुरी—में भी माधुर्य बंगाल की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल होने के कारण चैतन्य की भक्ति में माधुर्य भावना की ही प्रधानता रही है। सारांश यह है कि चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण भक्ति में परकीया प्रेम तथा राधा के प्रति कृष्ण के असीम आकर्षण को स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार गोपी राधा परमेश्वर की आनन्द शक्ति के रूप में भी स्वीकार कर ली गई। चैतन्य महाप्रभु तथा अन्य आचार्यों द्वारा राधा-कृष्ण की इस माधुर्य भक्ति के प्रचार के परिणामस्वरूप राधा-कृष्ण की केलि क्रीड़ाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अनिवार्य अंग बन गया। उसमें ऐश्वर्य-बोध का अभाव होने के कारण दास्य-भावना प्रस्फुटित न हो सकी। परिणाम यह हुआ कि राधा-कृष्ण की भक्ति आन्तर और पवित्रता के अभाव में भौतिक धरातल पर उतरने लगी। इसके दुष्परिणामों को ब्रजभूमि के सूरदास तथा महाराष्ट्र के नामदेव और तुकाराम आदि संतों ने समझा। जनता को इन दुष्परिणामों से बचाने के लिए जिस प्रकार सूर ने दैन्य को अपनाया, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम ने राधा के स्थान पर रुक्मिणी को मान्यता देकर कृष्ण-भक्ति को उदात्त और लोक-कल्याणकारी रूप प्रदान किया।

ईसा की ११वीं शताब्दी में उमापति ने तथा १२वीं शताब्दी में जयदेव ने राधा माधव को लेकर संयोग और विप्रलम्भ शृंगार पर उच्चकोटि के काव्य का सृजन किया था।

मीरा और नरसी मेहता गुजरात का प्रभाव

शीघ्र ही अपने काव्य सौन्दर्य और विषय विवेचन के कारण गीत-गोविंद भक्तों का कण्ठहार बन गया तथा उसकी रचना के पश्चात् लगभग एक शताब्दी में ही उसका प्रचार समस्त भारत में हो गया।[१] 'गीतगोविंद द्वारा प्रतिपादित राधामाधव भक्ति को चंडीदास के शृंगार प्रधान गीतों ने और भी उत्तेजित किया। भक्ति की इसी परम्परा से प्रभावित होकर चैतन्य महाप्रभु ने गोपी भाव से कृष्ण भक्ति की प्रतिष्ठापना की तथा वैष्णव भक्ति का एक नई उपासना-पद्धति की ओर अग्रसर किया। उन्होंने वृन्दावन की यात्रा की तथा उसे भक्ति मार्ग का केन्द्र बनाना चाहा। सन् १६५० में उनके शिष्य लोकनाथ ने

१ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी, पृ० १७०।

वृन्दावन में चैतन्य-सम्प्रदाय की स्थापना की।[१] आगे चलकर जीव गोसाइ ने इस सम्प्रदाय को और भी सुदृढ़ बनाया तथा वृन्दावन से उद्भूत इस नई भक्ति-धारा ने समस्त भारत को व्याप्त कर डाला। गुजरात में उसका प्रचार १७वीं शताब्दी में माना जाता है।[२]

जिस समय बंगाल में चैतन्य महाप्रभु राधा-कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उस समय उत्तर प्रदेश के वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय प्रबल हो चुका था। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत और निम्बार्क के कृष्ण-चरित के योग ने राधा-कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का जमकर प्रचार किया। गुजरात की भक्त-कवियित्री मीराबाई और नरसिंह मेहता पर वृन्दावन की भक्ति-प्रणाली का विशेष रूप से प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित है, 'मोरमुकुट-धारी नन्द-नन्दन' ही उसके पति हैं। गिरधर गोपाल के अतिरिक्त किसी दूसरे से उसका सम्बन्ध नहीं है।[३] कृष्ण की बाँकी, साँवली छवि उसकी आँखों में समाई रहती है।[४] कुछ पदों में कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम भी गोपी-भाव का प्रेम अभिलक्षित होता है। ऐसे पदों में मीरा उन गोपियों की भाँति लगती है जिन्होंने 'संत्यज्य सर्वविषयास्तव पादमूलम् ...'[५] कहकर अपने-आपको श्रीकृष्ण पर न्यौछावर कर दिया था। ऐसे पद केवल भक्ति-भावना से ही सम्बन्धित है। उनमें प्रेम तथा विरह की छाया नहीं है, केवल शान्त-भाव का प्राधान्य है। इन्हीं पदों में मीरा के कृष्ण-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए हैं। कुछ अन्य पदों में मीरा योगिनी के रूप में भी प्रकट हुई है तथा योगेश्वर कृष्ण से आत्म-निवेदन करती-सी प्रतीत होती है।[६] इस प्रकार एक ओर मीरा ने कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम से विह्वल होकर करुणा, टीस और वेदना का चित्रण किया है तथा कान्त भाव से कृष्ण की रूप-माधुरी गाई है, तो दूसरी ओर उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली की ओर ले जाता है।[७] इन पदों में उसका प्रियतम अवतारी कृष्ण न होकर निर्गुण, निराकार परब्रह्म है। मीरा के इन दो भिन्न दृष्टिकोणों में पूर्व परम्परा का ही निर्वाह हुआ है। इनमें मीरा की निजी उद्भावना नहीं है। हिन्दी तथा गुजराती साहित्य को मीरा की मौलिक देन, उसके पदों की गेयता और व्यक्तिगत ईश्वर की भावना में ही अभिलक्षित होती है। उसके पदों में अन्तर्जगत् का चित्रण प्रधान होने के कारण उनमें तल्लीनता तथा गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है तथा उत्कटता के कारण गेयता भी उनमें अनायास ही आ गई है। गीत-काव्य की सभी प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदों में विद्यमान

---

१. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० १७६।
२. वही, पृ० १७६।
३. अधोमुख रहति, उरध नहीं चितवत।
४. निपट बंकट छवि अटके मेरे नैना, निपट बंकट छवि अटके।
   देखत रूप मदन मोहन को, पियत मयूखन भटके।।
   वारिज भँवर, अलक टेढी मनों अति सुगन्ध रस अटके।
   टेढी कटि औ मुरली टेढी, टेढी पाग लर लटके।।
   'मीरा' प्रभु के रूप-लुभानी, गिरधर नागर नट के।।
५. भागवत १०।२६।३१।
६. गगन-मण्डल में सेज पिया की किस विधि मिलना होइ।
७. मान-अमान दोउ धर पटके, निकली हूँ ग्यान-गली।।

है। वस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी भक्त कवियों की रचनाओं में गीतात्मकता जितने पुट रूप में मीरा के पदों में तथा तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' में उतरी है, उतनी अन्य किसी में भी नहीं। वास्तव में देखा जाए तो मीरा किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थी। मीरा की भक्ति अधिकतर वियोग प्रधान थी, परन्तु उनमें दास्य और सख्य भावों की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति हुई है। मीरा के पदों में उनका व्यक्तित्व सम्पूर्णता से निखर उठा है। इसका कारण यह है कि उनकी भक्ति स्त्री हृदय-जनित भक्ति थी। स्त्री के हृदय में सहज ही समर्पण की भावना हुआ करती है। यही कारण है कि मीरा के पद सूरदास के पदों की अपेक्षा अधिक भावानुभूत प्रतीत होते हैं।[1] वास्तव में हिन्दी को मीरा की कृष्ण भक्ति से अनन्यता और मधुर भाव का लाभ हुआ, क्योंकि मीरा के दृष्टिकोण में कृष्ण लीला का उतना महत्त्व नहीं था जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का था।

'वैष्णव जन तो तेणे कहिए, जे पीर पराई जाणे रे' के रचयिता नरसी मेहता ने भी कृष्ण को ही अपना इष्टदेव माना। नरसी मेहता की कृष्ण भक्ति में भी शृंगार रस की ही प्रधानता रही है। उनका भाव गोपी भाव है तथा पदों में भक्ति और शृंगार—दोनों समानान्तर धाराओं में प्रवाहित हुए हैं। उनकी रचनाएँ अधिकतर राग रागिनियों में ही हुई हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि कवि की मूल भाषा से उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा। नरसी के पद चैतन्य भाव प्रधान हैं। चैतन्य महाप्रभु और मीरा की ही भाँति उनके कृष्ण भी जीते जागते दूल्हा हैं। उन्होंने रास-लीला का सजीव वर्णन किया है जो श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध और ब्रह्मवैवर्तपुराण से ही अधिक प्रभावित है।[2] यत्र-तत्र उनमें 'गीतगोविन्द' का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'हिंडोला नां पदो' और 'वसन्त नां पदो' में वसन्त और फाग का सुन्दर वर्णन हुआ है। कृष्ण भक्ति-मार्ग में फाग के समावेश का श्रेय वस्तुतः नरसी ही को प्राप्त है।[3] रास-लीला की ही भाँति नरसी ने भागवत के दशम स्कन्ध के अनुरूप कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन भी अपने पदों में किया है, जैसे बाल-लीला, दान-लीला आदि। 'सुरत संग्राम' में कृष्ण और राधा के दलों का पूर्णमासी की रात को परस्पर युद्ध दिखाया गया है, जिसमें कृष्ण की उनके साथी-संगी बाल गोपालों-सहित पराजय और राधा की जय दिखाई है। इस सर्वथा मौलिक कल्पना में अर्वाचीनता का आभास पाने के कारण प्रोफ़ेसर के० के० शास्त्री उसे क्षेपक मानते हैं।[4] इतना तो स्पष्ट ही है कि मीरा के आराध्य पति रूप कृष्ण नरसी तक पहुँचकर लोक के आदर्श प्रियतम बन जाते हैं तथा राधा और कृष्ण का दिव्य प्रेम आगे चलकर क्रमशः लौकिकता की ओर अग्रसर होने लगता है तथा रीति-काल के वासना प्रधान प्रेम में उसका उपसंहार होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दियों में कृष्ण-सम्बन्धी विकसित विश्वास दक्षिण के आलवार संतों की वाणी में ग्रहण किये गए। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति आदि ने उसमें शृंगार को उभारा। चैतन्य-सम्प्रदाय ने राधा भक्ति को आरम्भ

१ मराठी-स्मृति-ग्रन्थ, पृ० ४३।
२ गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुन्शी, पृ० १६३।
३ वही।
४ वही, पृ० ११४।

करके शृंगारमय भक्ति की प्रतिष्ठापना की। वल्लभाचार्य ने गोपी-भाव को प्रश्रय दिया। मीरा ने परमेश्वर को पति-रूप में देखकर रामानुजाचार्य की भाँति व्यक्तिगत ईश्वर की स्थापना की और नरसी मेहता ने रास-लीला-परक अपने भजनों से कृष्ण-प्रेम को व्यापकत्व प्रदान किया।

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की कल्पना

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की कल्पना को समझने के लिए उस समय की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने इस पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है—'सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है, जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्निहित है जिसने ऐसी अनेक भावनाओं को जन्म दिया जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली है तथा दूसरी ओर अनेक संकीर्णताओं को उत्पन्न करती हैं—भारतीय इतिहास में तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है, परन्तु यूरोपीय इतिहास में मध्य-युग (मिडीवल पीरियड) सन् ४७६ से सन् १४५३ तक माना जाता है। इस काल में समाज में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था, जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नहीं, विश्व के समस्त देशों में, समस्त सम्प्रदायों और समाजों में इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पड़ा था, जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता?......छठी शताब्दी में भारत में उस युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिकों की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की धर्म-साधना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११-१२वीं शताब्दी तक का साहित्य बड़ा व्यापक है, परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धों और जैनों का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्त्वों का भी अभाव नहीं जिनका परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वंसात्मक ही होता है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विविध मत-मतान्तरों के झमेले में पड़कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उसका रूप तो विकृत हुआ ही, स्वतन्त्र रूप से पृथक् चला आता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्तप्राय हो गया और वह साम्प्रदायिकता के हाथों में खेलने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा-सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायों में वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या भी एक-दो ही नहीं रही। मत-वैभिन्य तथा विश्वास-वैचित्र्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आपको श्रुति-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य, भेदाभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधार-शिला बतलाते हैं, उसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने-आपको वेद-विहित कहते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावना को लेकर चला।......गोस्वामी तुलसीदास तथा भक्त-कवि सूरदास इस युग के सामंजस्यवादी

प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया, तो सूरदास ने वैयक्तिक भावना को महत्व देकर मानव हृदय के विस्तृत समान भावों का गान किया। पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं को परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में लगाकर उन्हें पवित्र बनाने का विधान रखा था। ईसा की तीसरी शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक यह भक्ति-आंदोलन प्रबल वेग से बढ़ता रहा, इसी को मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है जो अब तक भी वैष्णव भक्ति भावना पर अनुल प्रभाव डाल रहा है।"[1]

उपर्युक्त कथन में तीन बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों की कृष्ण रचना का आधार खोजने में सहायक होती हैं। पहली बात है समन्वयवादी दृष्टिकोण, दूसरी भागवत-पुराण की प्रेरणा तथा तीसरी लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐषणाओं की परब्रह्म श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं में कल्पना। डॉ० हरवंशलाल का यह कथन कि १६वीं शताब्दी से पहले विद्यमान सभी सम्प्रदायों का सूर की कृतियों में समन्वय हुआ है, अत्यन्त युक्तियुक्त है। पर उनका यह कहना कि तत्कालीन भक्ति आन्दोलन का प्रभाव सूर साहित्य में अधिक नहीं है[2] अधिक युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। तुलसी में अवश्य तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अपने समग्र रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं, पर सूर के 'भ्रमर-गीत' विधान में जिस परिस्थिति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है वह अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भ्रमर-गीत की कल्पना यदि देश, काल और परिस्थिति का परिणाम न होती, तो समस्त भारत के कृष्ण-काव्य में इस परम्परा का निर्वाह हुआ होता। पर ऐसा हुआ नहीं। मराठी कृष्ण-काव्य में उसका सर्वथा अभाव इसी बात को सिद्ध करता है। महाराष्ट्र में तथा उसके आसपास मुस्लिम राज्य होते हुए भी वहाँ का हिन्दू समाज उससे प्रभावित न हो सका। वल्लभाचार्य द्वारा १६वीं शताब्दी में वृन्दावन से कृष्ण भक्ति के प्रचार का कारण भी तत्कालीन परिस्थिति ही थी। ऐसा न होता और उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति विषयक नये निरूपण के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ न होतीं तो कदाचित् वल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना तथा विकास उत्तर भारत में न होकर दक्षिण भारत में होता, जहाँ वस्तुतः भक्ति का उदय हुआ था। अतः हिन्दी में कृष्ण-काव्य का मूल्यांकन करते समय हमें उत्तर भारत की विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को न भूलना चाहिए।

पहले कहा जा चुका है कि ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में कृष्ण और गोपियों की शृंगारिक कथाओं का प्रचलन सम्भवतः जनता में हो चुका था, पर तत्कालीन साहित्य में इन लोक-कथाओं को मान्यता नहीं मिली थी। इस काल में कृष्ण के वीरत्व की ही पूजा का प्रचलन था[3], इस बात का समर्थन प्राचीन मूर्तिकला से भी होता है। कृष्ण-चरित से सम्बन्धित कई पुरानी मूर्तियाँ, जिनका निर्माण काल ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी

---

१ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ६१ ६२।

२ वही पृ० ६१-६२।

३ मधुरा भक्तिचा मराठी अवतार, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ६६।

माना जाता है, आज उपलब्ध हैं। इसी प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी में निर्मित कृष्ण-चरित का चित्रण करने वाली कई मूर्तियाँ अनेक स्थानों में मिली है। महाबलिपुरम् के मन्दिर के द्वार के अवशेषों में गोवर्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकट-भंग, धनुक-वध, कालिय-दमन आदि कई प्रसंग चित्रित हुए हैं। मथुरा की गोवर्धनधारी मूर्ति भी ईसा की चौथी शताब्दी की मानी जाती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चौथी शताब्दी में गोवर्धन-धारी कृष्ण की उपासना रूढ़ हो चुकी थी। सातवीं शताब्दी की वदामी की गुफाओं की चित्रकला तथा शिल्पकला भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बंगाल के पहाड़पुर की गुफा में कृष्ण-मूर्ति के निकट गोपी-राधा भी दिखाई गई हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि यह राधा ही है। पर 'भक्ति-रत्नाकर' तथा 'प्रेम-विलास' में कहा गया है कि वृन्दावन में कृष्ण के साथ राधा की पूजा न होने के कारण नित्यानन्द प्रभु की पत्नी जाह्नवी देवी ने किसी नयनभास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्ति तैयार कराई और तभी से बंगाल में राधा-कृष्ण की उपासना आरम्भ हुई। शिल्प-कला के आधार पर यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की पहली शताब्दी से सर्वसाधारण जनता में कृष्ण की वीरता की ही चर्चा थी। आगामी काल में उत्तरोत्तर कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का योग होता गया।[1] इन मान्यताओं का उदय भी मूलतः जनसाधारण में हुआ। जनसाधारण की भाषा अपभ्रंश थी। अत्यन्त आरम्भिक काल में आभीरों की भाषा ही अपभ्रंश कहलाती थी तथा उसकी साहित्यिक सम्पदा भी अत्यन्त मूल्यवान समझी जाती है।[2] आगे चलकर संस्कृत नाटकों में निम्न वर्ग के पात्रों के मुख से अपभ्रंश ही बुलवाई जाती थी। बहुत सम्भव है कि इस अपभ्रंश भाषा में चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा इत्यादि देवियों के रूप-वर्णन में शृंगार की सूक्ष्म छटा दिखानेवाले कवियों का ध्यान राधा-कृष्ण की ओर भी गया हो। नवीं शताब्दी में आनन्दवर्द्धन के 'तेषां गोप वधू विलास सुहृदो राधारह. साक्षिणम्' संस्कृत उल्लेख की प्रक्रिया अपभ्रंश में न हुई हो, अथवा इस उल्लेख का आधार स्वयं अपभ्रंश में अंकित विश्वास न रहा हो, यह कैसे माना जा सकता है। इससे यह भी सूचित होता है कि देशी भाषाओं में गोपियों की शृंगार-चेष्टाओं तथा कृष्ण-कथा पर फुटकर ही सही, रचनाएँ अवश्य हुई होंगी, पर इस दिशा में निश्चित रूप से कुछ कहना तब तक सम्भव नहीं है जब तक देशी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। 'गाथा-सप्तशती' में अवश्य राधा-कृष्ण और गोपियों के उल्लेख मिलते हैं।[3] सप्तशती का रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी माना जाता है[4], पर इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इन उल्लेखों से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी तक देशी भाषाएँ राधा, कृष्ण और गोपियों से परिचित थीं।

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२२।

२. मधुरा भक्ति चा मराठी अवतार, पृ० ६६।

३. (१) मुहमारुएण तं कहण (कृष्ण) गौरअं राहिआएं (राधिका) अवणेन्तो।
एताण वल्लवीणं अण्णाणं वि गौरअं हरसि (८९)।
(२) अज्जवि बालो दामोअरोत्ति इअजम्पिए जसोआए।
कहण (कृष्ण) मुहपेसि अच्छं णिहुअं हसियं वअवहूहि (अजवभूमिः) पृ० ११२।

४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११२।

ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर लगभग छठी शताब्दी तक विद्वानों ने वर्तमान पुराणों का रचना-काल माना है। पुराणों में भी भागवत पुराण अपेक्षाकृत बहुत बाद की रचना है। यद्यपि इसके रचना काल के बारे में अनेक मत मतान्तर हैं, फिर भी विषय की दृष्टि से तथा अन्य पुराणों की तुलना में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान भागवत-पुराण का रचना काल ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता।[1] विद्वान् यह भी मानते हैं कि यह संस्करण किसी एक ही व्यक्ति का काम है तथा उसका वर्तमान संस्करण दक्षिण में हुआ और दाक्षिणात्य पंडितों के द्वारा ही इसका प्रचार आरम्भ हुआ।[2] इतना निश्चित है कि मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति का मुख्य स्रोत भी भागवत-पुराण ही रहा है। भागवत पुराण के भक्ति निरूपण और उसमें समाविष्ट कृष्ण-गोपी प्रेम एवं कृष्ण-क्रीडाओं पर आगे स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। यहाँ केवल इस बात पर संक्षेप में विचार कर लेना पर्याप्त होगा कि भागवत-पुराण में निरूपित राधा, कृष्ण और गोपियों के चरित्र का मराठी और हिन्दी के कृष्ण-काव्य पर कितना प्रभाव पड़ा। हिन्दी में भक्ति-तत्त्व के पहले प्रतिपादक कबीर का काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना जाता है। गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास का कार्य सोलहवीं शताब्दी में प्रभावशाली हुआ। नरसी महता तथा मीराबाई १५वीं शताब्दी में तथा चैतन्य महाप्रभु सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। इस प्रकार काल गणना की दृष्टि से महाराष्ट्र में १३वीं शताब्दी के आरम्भ में स्वामी चक्रधर तथा उनके बाद ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि का नाम पहले आता है। स्वामी चक्रधर तथा महानुभाव पंथी कवियों ने भक्ति में जिस भगवद् प्रेम का वर्णन किया है, वह पूर्णरूपेण अलौकिक प्रेम है। उसमें गोपियों की काम-वासनाओं को महत्त्व नहीं मिला है। उसी प्रकार कृष्ण द्वारा उन कामवासनाओं की तुष्टि का भी वर्णन नहीं है। भगवान् अपने भक्तों को प्रेम-दान अवश्य देते हैं, पर यहाँ प्रेम का स्वरूप शारीरिक न होकर सात्विक ही है। उदाहरणार्थ, महानुभाव पंथ के तत्त्वज्ञान के अंतर्गत परमेश्वर के प्रति विषय प्रेम को ही मुख्य प्रेम का साधन बताया गया है। पर यहाँ भी विषय प्रेम का अर्थ उभय इश्वरावतार ईश्वर की पत्नी के रूप में ईश्वर का उपभोग प्राप्त करा देने वाला प्रेम लिया गया है। इस प्रेम का मुख्य लक्षण 'वियोगी पुरसे' अर्थात् वियोगी का न रहना या वियोग की कल्पना मात्र से ही प्राण त्याग देना माना गया है। परमेश्वर के प्रति जीव के प्रेम का निरूपण करते हुए स्वामी चक्रधर ने आगे कहा है—

'मुख्य प्रेमा कमरहादी दोनसाधनें एक पुरमजन दूसरे विषयप्रेम है येरा ही पालि उत्तम' (वि० स्य० १३६) विषय प्रम म्हणजे विषयत्वे आवड वियोगी पुरे ते प्रेम (वि० स्य० १३५)।

अर्थात् सांसारिक जीवन में परमेश्वर-की प्रेम प्राप्ति के दो साधन हैं—एक मायाका शरीर धारण किये हुए परमेश्वरावतार का भजन कराना तथा दूसरा परमेश्वर का विषय-प्रेम प्राप्त कर लेना। विषय प्रेम का लक्षण बताते हुए महात्मा चक्रधर कहते हैं कि विषय प्रेम मानी जीव की विषय भोग के प्रति रुचि। पर यहाँ परमेश्वर के साथ विषय-भोग

१ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १११।
२ वही पृ० २०९।

करने वाला जीव परमेश्वर के वियोग की कल्पना से ही प्राण त्याग देता है। यह अवस्था कितनी कठिन है, यह बात महात्मा चक्रधर के कथन 'मा वुरणे हे कदापि न घड़े—ते कैसेः नाः कमलाउसा वियोगी उरलीः तथा सत्यभामाः गोपिका उरलीया' 'मग प्रेम म्हणजे वियोगी नुरणे यथा हंसाबाई, (वि० व० १३५) से सिद्ध होती है। (परमेश्वर के वियोग में जीव द्वारा प्राण-त्याग करना अत्यन्त कठिन बात है, क्योंकि महात्मा चक्रधर की पत्नी कमला अथवा श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा तथा गोपिकाएँ वियोगावस्था में भी जीवित रही थीं।) श्रीकृष्ण की अष्टनायिकाओं में रुक्मिणी की ही भाँति औरों को भी उभय-द्वयावतार श्रीकृष्ण की पत्नी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर परमेश्वर के वियोग मे प्राण त्याग देने की क्षमता उनमें नहीं थी, बल्कि परमेश्वर के प्रति उनमें प्रगाढ़ प्रेम ही नहीं था, क्योंकि वे विषय-प्रेमी नहीं थी। रुक्मिणी अवश्य विषय-प्रेमी थी। जल-क्रीड़ा करते समय श्रीकृष्ण के डूबने की वार्ता सुनते ही वह मूर्छित होकर मृत्युमार्गगामी होने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि रुक्मिणी वास्तव मे 'प्रेमिका' थी। श्रीकृष्ण की अन्य सहस्रों पत्नियों को श्रीकृष्ण का विषय-भोग प्राप्त नहीं था, क्योंकि उनके साथ परमेश्वरावतार श्रीकृष्ण स्वयं रममाण नहीं होते थे, अपने 'विज्ञान-रूपों' द्वारा निर्मित यानी अनेक होकर उनका उपभोग करते थे, क्योंकि वे सब पत्नियाँ भगवान् के विषय-प्रेम की अधिकारी नहीं थी।[१] भागवत में भी यही तत्त्व निरूपित हुआ है, यद्यपि यहाँ भौतिक ऐषणाओं तथा वासनाओं को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है। पहले कहा गया है कि भागवत का रचना-काल ईसा की आठवी शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। यह सच है कि इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, तथापि अन्तःसाक्ष्य और तत्कालीन परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। पहले कहा गया है कि शंकराचार्य के आगमन-काल तक यानी, ईसा की आठवीं शताब्दी तक, भारत मे बौद्ध-धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, अतः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यदि भागवत की रचना मानी जाए और उसका रचना-काल, बलदेव उपाध्याय के मतानुसार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि एक तो ऐतिहासिक अथवा शिल्प के आधार पर ईसा की आठवी शताब्दी तक इस प्रचार का कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसा होना इसलिए आवश्यक था कि भागवत का साहित्यिक मूल्य तथा उसमें निरूपित कृष्ण-भक्ति का नया स्वरूप अपने में सर्वथा नया होने के कारण लोकप्रिय हुए बिना रह ही नहीं सकता था। दूसरे, बौद्ध-दर्शन के खण्डन के लिए यदि किसी तत्त्व की आवश्यकता थी तो वह केवल दर्शन ही हो सकता था, क्योंकि हिन्दू दर्शन की पार्श्वभूमि पर ही बौद्ध दर्शन की गहरी रेखाएँ उभरी थीं तथा उन पर केवल ज्ञान का ही रंग चढ़ सकता था। इस सत्य की ओर भागवतकार जैसे पंडित का ध्यान न गया हो, यह मानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। ईसा की आठवी शताब्दी मे जब शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का खण्डन करके हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना की, उससे बहुत पहले से (ईसा की प्रथम शताब्दी से, सेण्ट थोमस के भारत में आगमन के साथ) भारत ईसाई धर्म से परिचित होने लगा था। ईसाई-धर्म भक्तिमार्गी धर्म था। ईसा की आठवी शताब्दी से भारत पर मुसलमानी आक्रमण शुरू

१. महानुभाव तत्त्वज्ञान, डॉ० वि० भि० कोलते, पृ० २६५।

हो गए और यह देश एक अन्य विदेशी धर्म पद्धति के सम्पर्क में आने लगा। इस्लाम भी ईसाई धर्म की ही भाँति भक्ति पर ही आधारित था। इतिहास बतलाता है कि जब जब इस देश में विदेशी धर्म का प्रचार हुआ है तब-तब उसने अपनी जड़ें समाज के दलित वर्ग में ही सबसे पहले जमाई हैं। अब तक हिंदू धर्म ज्ञान पर ही मुख्यतः आधारित होने के कारण वह सर्वसाधारण से काफ़ी दूर था। हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था ने इस अन्तर को और भी बढ़ा दिया था। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म को बल प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वह एक नये धरातल पर उतर आता—उस धरातल पर जिस पर सर्वसाधारण जनता की अपेक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके। भागवत में भक्ति का प्रतिपादन तथा मानवी ऐषणाओं का अप्रस्तुत रूप से स्वीकार देश-काल की इसी आवश्यकता का समाधान करता-सा प्रतीत होता है। भागवत में स्वीकृत अप्रस्तुत शृंगार का आयोजन भी तत्कालीन लोक विश्वासों पर ही आधारित जान पड़ता है। इस प्रकार भागवत ने जहाँ एक ओर भक्ति की पुनःस्थापना करके हिन्दू धर्म को सजीव एवं व्यापक बनाया, वहाँ दूसरी ओर उसने लोक विश्वासों को साहित्यिक एवं धार्मिक मान्यता देकर धर्म को लोकरंजक और व्यापक बनाकर देशकाल की आवश्यकता का भी समाधान किया। भागवत का मुख्यतः यही आधार होने के कारण आगामी काल की समान परिस्थितियों में वह साहित्य-सृजन का मूल स्रोत बना रहा।

यद्यपि सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियों के कृष्ण भागवत के ही कृष्ण हैं तथापि इन कवियों की कृष्ण विषयक कल्पनाएँ जयदेव, चैतन्य-सम्प्रदाय तथा सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य में कृष्ण और राधा विषयक शृंगारिक पदों से भी अवश्य ही प्रभावित हुई हैं। प्राकृत पैंगलम के आधार पर डॉ० शिवप्रसादसिंह का भी कहना है—"१४वीं शताब्दी में यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई-न-कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।"[1]

अष्टछाप-काव्य की मूल प्रवृत्ति का स्रोत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वल्लभाचार्य की प्रेम-लक्षणा भक्ति को ही माना है।[2] परन्तु यह धारणा आंशिक रूप में ही सत्य है। अष्टछाप के कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इसलिए स्वाभाविक था कि वे आचार्य वल्लभ द्वारा निरूपित कृष्ण के रूप का गुणगान करते। परन्तु मधुरा भक्ति के भी दो रूप होते हैं—सात्विक-स्वरूपा और लौकिक-स्वरूपा। सात्विक भाव पर आधारित मधुरा भक्ति का दर्शन मीरा के पदों में होता है। किन्तु अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में लौकिकता का रंग ही अधिक चढ़ा हुआ है। इस काव्य प्रवृत्ति में तत्कालीन परिस्थितियाँ सहायक हुई हैं या नहीं, यह देखने का हम यहाँ प्रयत्न करेंगे। सूर-पूर्व राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि राधा और कृष्ण का शृंगारिक शैली में वर्णन जयदेव के 'गीतगोविन्द' में, चण्डीदास के पदों में तथा विद्यापति की पदावली में बहुत पहले हो चुका था। प्रसंगवश हम यह भी दिखा चुके हैं कि दक्षिण के आल्वारों ने जो भक्ति की धारा प्रवाहित की थी उसी को रामानन्द उत्तर भारत में लाए थे। उक्ति प्रसिद्ध है कि—

---

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० २६३-६४।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२७-२८।

भक्ति द्रावडी ऊपजी, लाए रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड ॥

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि अष्टछाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को भक्ति के स्तर पर जो विराट रूप प्रदान किया है उसका आधार क्या है ? प्रायः यह कहा जाता है कि अष्टछाप की इस काव्य-प्रवृत्ति पर सूफी काव्य का प्रभाव है, परन्तु यह धारणा युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती, क्योंकि सूफियों की भक्ति-पद्धति और कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति कई बातों में भिन्न है । सूर-पूर्वकालीन जैन साहित्य के अवलोकन से पता लगता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक होता है । इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने श्रृंगार का बड़ा ही उद्दाम, वासनापूर्ण और क्षोभ-कारक चित्रण किया है । शमन की शक्ति की महत्ता का अनुमान इन्द्रिय-भोग-स्पृहा की शक्ति से ही किया जा सकता है । इसीलिए जैन साहित्य में नारी के श्रृंगारिक रूप, यौवन और तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है । डॉ० शिवप्रसादसिंह का कहना है कि 'ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य की परम्परा काफ़ी पुरानी है । कम-से-कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है ।'[१]

१४वीं शताब्दी में संकलित पिंगल-ग्रन्थ 'प्राकृत पैंगलम्' में निम्नलिखित पद मिलता है—

अरे रे वाहहि काण्हणाव छोडि डगमग कुगति ण देहि ।
तइ इत्थि णईहिं संतार देइ जो चाहइ सो लेहि ।[२]

इस पद से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि नाव को डगमग करने वाले कृष्ण से गोपी कहती है कि ऐसा न करो । पहले नदी पार करा दो । फिर जो चाहते हो ले लो । कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेख 'प्राकृत पैंगलम्' में संगृहीत है जो यहाँ दिया जा रहा है—

जिणि कंस विणासिअ कित्ति पआसिअ
मुट्ठि अरिट्ठि बिणास करे गिरि हत्थ धरे ।
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे ।
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
राहा मुख महु पान करे, जिमि भमर वरे ।
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चित्तह चिंतिय दोउ वरा, भयभीय हरा ।[३]

यहाँ नारायण रूप कृष्ण का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है ।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २६० ।
२. प्राकृत पैंगलम्, पृ० १२, छन्द ९ ।
३. वही ३२४।२०७ ।

"प्राचीन ब्रज के संक्रान्ति-काल (१२००–१४००) के साहित्य के अध्ययन से यह मालूम होता है कि परवर्ती ब्रज की मुख्य धाराएँ—भक्ति, शृंगार और वीरं—ब्रजभाषा के आरम्भ से ही मौलिक रूप में विकसित हो रही थीं। कृष्ण भक्ति का काव्य भागवत, गीतगोविन्द अथवा विद्यापति की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है। 'हेम-व्याकरण' के दोहों, 'प्राकृत पैंगलम्' की रचनाओं में कृष्ण भक्ति के बीजांकुर विद्यमान हैं। भक्ति के कई रूपों—स्तुति, प्रणति, निवेदन तथा इष्टदेव के रूप आदि—का वर्णन इन रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शृंगार-भक्ति के सम्मिश्रण पर बहुत वाद-विवाद होता है। जयदेव कवि के 'गीतगोविन्द' में भक्ति और शृंगार के सम्मिश्रण का जो प्रयत्न हुआ है वह महत्वपूर्ण है। ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में शृंगारिक चेतना 'गीतगोविन्द' का ही परिणाम नहीं है, बल्कि आरम्भिक ब्रज में इसकी काफी विकसित परम्परा थी जो सूर आदि के काव्य में प्रतिफलित हुई।[१] इससे प्रतीत होता है कि जिस समय वल्लभाचार्य ने वृन्दावन में आकर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की और सूरदास आदि कवियों को कृष्ण-लीलाओं का गान करने के लिए प्रेरित किया, उस समय ब्रजमण्डल राधा और कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं के वर्णनों से सुपरिचित हो चुका था। अपने पदों की रचना करते समय सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने सम्भवतः ब्रजभाषा की इसी साहित्यिक एवं लोक प्रवृत्ति को अपने सामने रखा। सगुण और निर्गुण ब्रह्म का विवेचन करके सगुणोपासना को श्रेष्ठ दिखाने के लिए सूर, नन्ददास आदि भक्तों ने 'भ्रमरगीत' की जो कल्पना की है उसमें भी परम्परा निर्वाह ही परिलक्षित होता है। दुष्यन्त के चित्त की चंचलता दिखाने के लिए सूरदास से बहुत पहले कालिदास 'भ्रमर' का प्रतीक रूप में प्रयोग कर चुके थे।"[२]

पिछले अध्याय में लोकगीतों के स्वरूप और उनकी प्राचीनता पर विचार करते समय हम इस निश्चय पर पहुँचे थे कि मराठी के परवर्ती कृष्ण-काव्य में यत्र-तत्र कृष्ण, राधा और गोपियों को लेकर शृंगार की जो थोड़ी-बहुत अभिव्यंजना हुई है उसके मूल में सम्भवतः लोक-मान्यताएँ ही रही होंगी। परन्तु मराठी की अपेक्षा हिन्दीभाषी प्रदेश में प्रचलित होली, झूला, रसिया, कजरी, बारहमासा आदि लोकगीत हिन्दी के कृष्ण-काव्य के अधिक निकट दृष्टिगत होते हैं।

हिन्दी-लोकगीतों का कृष्ण-काव्य पर प्रभाव

होली—होली हिन्दुओं का एक अत्यन्त लोकप्रिय उत्सव है। यह उत्सव जितनी धूमधाम से उत्तर भारत में मनाया जाता है, उतनी धूमधाम से महाराष्ट्र में नहीं। उत्तर भारत में इस उत्सव के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उन्हें होली कहते हैं। फागुन का मस्त महीना उत्तर प्रदेश की प्रकृति के अनुकूल है। इस समय किसान अपने श्रम का साकार फल निहारकर निहाल हो जाता है और हर्ष से नाचने लगता है। स्त्रियाँ और पुरुष रात रात भर होली गाते रहते हैं। यह त्यौहार फागुन मास की अन्तिम तिथि को मनाया जाता है, अतः भोजपुरी प्रदेश में इन गीतों को फगुआ भी कहा जाता है। ब्रज की होली अत्यन्त प्रसिद्ध है। होली और रसिया का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। होली के गीत समवेत स्वर

१ सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३५१-५२।

२ राष्ट्र वाङ्मयातील प्रतीक भ्रमर प्रो० म० का० मेहेंदले, 'नवभारत' एप्रिल, १९५६।

से गाए जाने वाले गीत हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति होलिका से मानी जाती है जो प्रह्लाद की बुआ थी। इस गीत के गाने वाले दो मण्डलियों में विभक्त होकर बड़े ज़ोर से ढोल तथा झाँझ बजाते हुए गाते हैं। पहला दल गीत की एक कड़ी गाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी। इस प्रकार उस समय एक समाँ-सा बँध जाता है। होली गीतों में राधा-कृष्ण के होली खेलने का प्राय. उल्लेख रहता है। एक उदाहरण देखिए—

रंग डारूँ रे तो पै रंग डारूँ, नेंकु आगे आ।
नेंकु आगें आ स्याम तो पै रंग डारूँ, नेंकु आगे आ॥
रंग डारूँ तेरे अंगन सारूँ, अरे तेरे गालन पै गलचा मारूँ चार।
नेंकु आगे आ०
एढ़ी-टेढ़ी पगिया बाँधें, अरे तेरी पगिया पै फूलरी पारूँ यार॥
नेंकु आगे आ०
ब्रज दूल्हे ये छैल अनोखो,अरे तो पै तन मन-जोबन वारूँ मेरे यार।
नेंकु आगे आ०
नेंकु आगे आ स्याम, तो पै रँग डारूँ। नेंकु आगे आ॥[१]

होली का गाना माघ शुक्ल पचमी-बसन्तपंचमी से प्रारम्भ हो जाता है तथा फागुन मास तक चलता रहता है। होली के दिन एक दूसरे प्रकार का गीत गाया जाता है जिसे कबीर कहते हैं। ये गीत प्राय. अश्लील होते हैं। कबीर-गीत की प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार होती है। "अररर र र र र भइया सुन लउ मोर कबीर। कबीर को टुकड़ी का अगुआ ही गाता है। होली मे शृंगार रस की प्रधानता रहती है और कबीर मे हास्य की।

झूला—सावन का लोक-गीत है। इन गीतों में नायिका-भेद के अनेक उदाहरण मिलते है। इन गीतो मे यदि केलि-कलामयी कामिनियो का हेला-भाव है, तो प्रोषित-पतिकाओं के आँसुओं और परित्यक्ताओं के गहन निश्वास तथा ईर्ष्यालु सपत्नियों के विषवमन की भी कमी नही है। इन गीतो में शृंगार का विशद वर्णन हुआ है। शृंगार में भी विरह का ही अधिक चित्रण हुआ है। मेरठ के आसपास के प्रदेश मे इन गीतों को 'पंजाली के गीत' भी कहते हैं। सावनी गीतों में जहाँ भी झूलनेवाली स्त्रियों के समूह का वर्णन आया है, वहाँ 'सात सहेली के झूमके' शब्दों द्वारा उनकी संख्या सदैव सात बतलाई गई है, मानो वे सात सहेलियाँ नही, अपितु स्वर-सप्तक के सातों स्वरों के साकार स्वरुप ही हैं, जिनके संयोग से संगीत स्वयं प्रकट हो जाता है। लोक गीतो की सामूहिक चेतना का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या हो सकता है ?'[१] ब्रजमण्डल में सावन के गीत या झूला मल्हार, हिंडोले आदि गीतों के रूप में गाए जाते हैं। इन गीतों में भी वर्षा का वर्णन, पति-वियोग, आनन्द और प्रेम की प्रधानता रहती है तथा कहीं-कहीं राधा और कृष्ण की लीला के भी उल्लेख मिलते हैं जैसे—

झूला पै रानी राधिका जी, एजी कोई गावत गीत-मलार।
नंन्ही-नंन्ही बुँदियाँ, देखो झर लग्योजी, एजी कोई बरसत मूसलधार।

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ६६८।

पटुली-पटरि कर झोंटा दे रहे जी, एजी कोई झुकि झुकि कृष्ण मुरार।
पिहू पिहू पपिहा बँसोरी करि रह्यो जी, एजी कोई पग पायल की झनकार।
कारे कार बदरा बैहरा मेरो चढ़ि रहे जी, एजी कोई डरपी कामिनि नार।।

ब्रज-मण्डल में कृष्ण लीला सम्बन्धी झाँकियों में हिंडोला झाँकी का भी सम्भवतः इन्हीं लोकगीतों से सम्बन्ध है।

रसिया—यह लोकगीत अपने वैशिष्ट्य के कारण ब्रज में अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय है। यह होली का प्रमुख गीत है। रसिया के विषय में डॉ० श्याम परमार लिखते हैं—"संगीतज्ञों की धारणा है कि रसिया ध्रुपद घराने की चीज है। ध्रुपद की शैली को सम्भवतः लोक प्रचलित रसिया का शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीत को जो देय ब्रज भाषा तथा स्वामी हरिदास से प्राप्त हुआ उसका श्रेय बहुत-कुछ रसिया के लोक और शास्त्रीय, दोनों स्वरूपों को है। 'आइने अकबरी' में दो प्रकार के गीतों का उल्लेख है—मार्ग और देशी। देशी शैली में ध्रुपद विशेषतः उल्लेखनीय है जो चार चरणों के द्वारा बिना छन्द और मात्रा की बन्दिश के शृंगार प्रधान विषय को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। 'आइने-अकबरी' में जिस ध्रुपद का उल्लेख है वह कदाचित् रसिया से सम्बन्धित हो।"[1]

रसिया में शृंगार प्रधान विषयों की बड़ी ही सरस अभिव्यक्ति हुई है। गीतों का विषय प्रायः राधा-कृष्ण का मनो विनोद और प्रेम प्रसंग ही रहा है। रसिया की विशेषता है उसकी चित्र सुलभ शैली। भाषा और भावों का जो ओज रसिया में मिलता है वह ब्रज के अन्य लोकगीतों में दुर्लभ है। प्रेम ही उसका मूल स्वर है और यही उसकी समूची भाव धारा पर छाया रहता है। रसिया की सरसता तथा संगीतात्मकता निम्नलिखित गीत में देखी जा सकती है—

ले आए हमारे महाराज, आज हम टल करके।
ए सइयाँ, तेरे राज में कबहूँ न भरी गूरियाँ, कलइयाँ भर-भरके,
ले आए हमारे महाराज, आज हम टल करके।

कजरी भी सावन का ही लोकगीत है। इस शब्द की व्युत्पत्ति श्रावण मास में आकाश में आच्छादित बादलों की कालिमा से हुई है, जो काजल के समान काले होते हैं। इसी काजल से कजली या कजरी शब्द बना है।[2] मिर्जापुर की कजरी प्रसिद्ध है। वहाँ इसके दंगल भी हुआ करते हैं तथा पुरुष और स्त्रियाँ दोनों इसमें भाग लेते हैं। कजरी गीत शृंगार रस प्रधान गीत होते हैं। उनमें संयोग शृंगार और वियोग शृंगार दोनों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। गवैये दो दलों में विभक्त होकर इन गीतों को गाया करते हैं। एक प्रश्न करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। इस गीत की लय अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक होती है। माधुर्य लय और सुकुमारता का अनुभव निम्न लिखित कजरी गीत में किया जा सकता है।

कैसे खेले जइबू सावन में कजरिया, बदरिया घिरि आइल ननदी।

भारतीय साहित्य, अंक ३, पृ० ६०।
हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६३५।

तुत चलवू अकेली, साथे संगीन सहेली गुण्डा घेरि लीहें ।
लोहरी डगरिया, बदरिया घिरि आइल ननदी ॥

बारहमासा वह लोकगीत है जिसमें किसी विरहिणी स्त्री के वर्ष के प्रत्येक मास मे अनुभूत दुःखों तथा हार्दिक मनोवेदनाओं का वर्णन पाया जाता है । वर्ष के बारहों महीनों मे अनुभूत दु.ख का वर्णन होने के कारण ही इन गीतों को 'बारहमासा' कहा जाता है । प्रकृति-वर्णन के रूप में इन गीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है । वेदों में प्रकृति-चित्रण तथा संस्कृत काव्य का षड्ऋतु-वर्णन इसी परम्परा की ओर निर्देश करता है । परन्तु आरम्भ मे ये वर्णन प्रकृति को आलम्बन मानकर ही हुए हैं । संस्कृत-कवियों ने प्रकृति के उद्दीपन रूप को भी स्वीकार कर लिया था । परन्तु प्रत्येक मास का पृथक् निर्देश कर पति-वियोग के कारण अनुभूत दुखों का वर्णन हिन्दी बारहमासों में ही हुआ है । जायसी ने 'पद्मावत' में नागमती के वियोग का वर्णन बारहमासा के द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है । विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है ।

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जोवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया बिसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहां जोगिनि वेस ।[१]

लोक-साहित्य मे प्रचलित बारहमासे प्रायः आषाढ़ मास से प्रारम्भ होते हैं । इन गीतो में विरहिणी के दुःख का उल्लेख मास के क्रम से होता है । जिस गीत में विरहिणी के केवल छः या चार मासों की विरहानुभूति का वर्णन होता है उसे छमासा या चौमासा कहते हैं । व्रज, अवधी, मैथिली, मालवी तथा भोजपुरी आदि सब बोलियों में ये गीत पाए जाते हैं ।

इन गीतों के विवेचन से पता चलता है कि उत्तर भारत मे अष्टछाप के कवियों के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से ही प्रकृति और राधा-कृष्ण को लेकर संयोग और वियोग की उद्दाम वासनाओं की अभिव्यक्ति लोकरजन के एक साधन के रूप में लोकगीतों मे होती चली आ रही थी । राधा और कृष्ण को लेकर लौकिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में सम्भवतः लोक की सहृदयता और सरलता ही व्यक्त हुई है, क्योंकि योग और दर्शन जैसी क्लिष्ट उपासना-पद्धतियों को सामान्य जनता न तो ग्रहण कर सकती है और न उन्हे ग्रहण करना उसे अभीष्ट ही होता है । वह तो सुख-दु.ख गीत गा-गाकर अपने संघर्षमय जीवन को अधिक सुन्दर और सुखद बनाती रहती है और इसीलिए वह अपने देवी-देवताओं की अभिव्यंजना भी लौकिक रूप में सुगमता से कर लेती है ।

इन लोकगीतों मे अन्तर्निहित जनता की मूर्त चेतना उत्साह तथा विश्वास के आधार पर ही कदाचित मीराबाई, सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने पद या गीत शैली में कृष्ण की लीलाओं का गुण-गान किया । उनके कृष्ण 'महाभारत' या 'भागवत' के कृष्ण की

१. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१ ।

अपेक्षा सर्वग्राहिणी लोक-संस्कृति के अधिक अनुरूप चित्रित हुए हैं। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के पद, नख शिख-वर्णन, मान, मंगल-गीत, राधा और कृष्ण की लीलाओं का चित्रण, पनघट-लीला, कृष्ण-जन्म विषयक पद आदि जीवन के इतने अधिक निकट हैं कि यह कहना कि उनका सम्बन्ध लोक गीतों से नहीं है, हास्यास्पद प्रतीत होता है। सूरदास का गोपियों का विरह-वर्णन भी बहुत-कुछ बारहमासा की ही शैली पर हुआ है।[1] वस्तुतः लोक विश्वासों से भक्त कवियों का अटूट सम्बन्ध रहा है। लोक-तत्त्व से सन्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—सन्त प्रवृत्ति मूलतः लोक प्रवृत्ति है।' लोक प्रवृत्ति सामान्य रूप से बिना किसी प्रकार की भेद-बुद्धि रखे जहाँ-तहाँ से जो कुछ मिलता है उसे संग्रह करती रहती है और यदि उसमें उसे आस्था और निष्ठा हुई तो उसे सुरक्षित रखकर उसकी एक परम्परा बनती चली जाती है। महात्माओं और कवियों ने सन्तों की जो परम्परा भी है उससे भी यही विदित होता है कि सन्तों का स्वरूप लोक प्रवृत्ति के अनुकूल ढलता है। यह प्रवृत्ति सारग्राहिणी होती है।[2] ठीक यही बात भक्त-कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। इन लोक-विश्वासों के अनुरूप अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की रचना का आधार भागवत का दशम स्कन्ध रहा है, जबकि महाराष्ट्र के कृष्ण-कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र चित्रण के लिए महाभारत, गीता और भागवत के एकादश स्कन्ध का ही आधार लिया है। यह सच है कि हिन्दी और मराठी की काव्य-वस्तु का वैभिन्न्य तत्कालीन परिस्थितियों को सूचित करता है पर उससे इस वस्तुस्थिति का भी समर्थन होता है कि महाराष्ट्र में कृष्ण विषयक परम्परागत कल्पनाएँ ऐसी थीं जिनके कारण वहाँ के भक्त कवि कृष्ण के रसिक रूप की अपेक्षा उनके योगेश्वर, पराक्रमी और ज्ञानवेत्ता रूपों का ही गुणगान करने के लिए विवश हुए क्योंकि ऐसा न करना लोक-मान्यताओं का खण्डन करना होता। परन्तु जिस समय वल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना हुई उस समय उत्तर में ऐसे लोक विश्वास विद्यमान थे जिनमें कृष्ण के लोकरंजक रूप को ही अधिक मान्यता मिली हुई थी। अतः वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी भक्त-कवियों ने कृष्ण के इसी रूप की अपने काव्य में अभिव्यंजना की जो जनता द्वारा सहज ही स्वीकार कर ली गई। परन्तु महाराष्ट्र के कृष्ण सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की अपेक्षा विट्ठल रुक्मिणी का दाम्पत्य भाव ही अधिक परिणामकारी हुआ। मधुरा भक्ति की जड़ें महाराष्ट्र में गहरी नहीं पहुँच पाई।[3]

---

१ सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, शिवप्रसाद सिंह, पृ० २३६।
२ साहित्य सन्देश, सन्त-साहित्य विशेषांक, पृ० ८३।
३ लोक साहित्याची रूप-रेखा, दुर्गा भागवत, पृ० ४१०।

अध्याय—४

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का साम्य और वैषम्य : भाव-पक्ष

काव्य के दो पक्ष माने जाते है—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत काव्य की पृष्ठभूमि, उसकी विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, भावाभिव्यंजना, कल्पना-तत्त्व तथा रस का समवेश होता है। अतः हिन्दी और मराठी कृष्ण-काव्य के भाव-पक्ष का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए इन तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

काव्य की पृष्ठभूमि

हिन्दी और मराठी इन दोनो भाषाओं के कवि भक्त पहले थे और कवि बाद में। अतः उनका काव्य बुद्धि-तत्त्व से बोझिल न होकर सीधा-सादा हृदय-जन्य काव्य है। उन्होंने जो कुछ कहा है, भक्ति-विह्वल होकर कहा है। इसीलिए उनके काव्य में प्रबन्ध-रचना के लिए अवकाश नही था। प्रबन्ध-काव्य की सर्जना के लिए कालाश्रयी अनुभूति की अभिव्यक्ति और बुद्धि का गाम्भीर्य आवश्यक होता है। इन भक्त-कवियों का यह अभीष्ट नहीं था। उनके काव्य में तो भावनाओं के तीव्र क्षणो की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप से हुई है। यही कारण है कि इन कवियों के काव्य मे आराध्य के प्रति उनकी आवेगयुक्त मन.स्थितियों का ही चित्रण हुआ है। आवेगयुक्त मनःस्थिति की अभिव्यक्ति गीतो के रूप मे ही हो सकती है, क्योंकि गीति-काव्य का प्राण-तत्त्व है आत्माभिव्यक्ति। यह आत्माभिव्यक्ति जितनी अधिक तीव्र होगी, गीति-काव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा। इन सभी कवियों ने काव्य को आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है और इसीलिए सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, नामदेव, सूरदास, मीरा, नरसिंह मेहता आदि भक्त कवियो ने गेय पदों की ही रचना की है।

इन कवियों ने श्रीकृष्ण की लीलाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है, जिनका एकमात्र आधार भागवत ही रहा है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियो ने भागवत के एकादश स्कन्ध की अपेक्षा दशम् स्कन्ध से ही अपने काव्य के लिए सामग्री जुटाई है। 'सूरसागर' के तीन-चौथाई से अधिक भाग में दशम् स्कन्ध को ही प्रतिध्वनित किया गया है।[१] परन्तु मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत के एकादश स्कन्ध, गीता और महाभारत से अधिक प्रेरणा ली है। प्रवृत्ति के इस भेद के मूल में हिन्दी और मराठी प्रदेशों की विशिष्ट सांस्कृतिक,

१. महाकवि सूरदास, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४३।

राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ रही हैं। परिस्थितियों की इस विभिन्नता के कारण ही मराठी कृष्ण काव्य में प्रमर-गीत का सर्वथा अभाव रहा है, साथ ही उसमें संयोग और वियोग शृंगार का उतना विशद वर्णन नहीं मिलता, जितना हिन्दी में।

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के अनेक वर्णन किए हैं। परन्तु जितनी मार्मिकता और विभिन्नता सूरदास के वर्णन तथा चरित्र चित्रण में मिलती है, उतनी हिन्दी के अन्य कृष्ण भक्त कवियों में नहीं दिखाई देती। सूर के कृष्ण अत्यन्त सौन्दर्यशाली हैं। कवि ने अनेक पदों में उनके शिशु रूप के सौन्दर्य का वर्णन किया है। 'घुँघर वारी कुटिल अलकों', 'हँसते समय दूध की दमकती हुई दँतुलियाँ', विशाल लोल लोचनों', 'विकट भृकुटियों और विशाल भाल मसि बिंदु के तिलक' में मग्न उनके मुख के अपार सौन्दर्य पर माता यशोदा तथा अन्य व्रज-नारियाँ अपना तन-मन निछावर करती हैं।[1] कृष्ण अत्यन्त चंचल और विनोदी हैं, वे असुरों का वध करते हैं तथा अँगूठा चूसकर समस्त चराचर प्रकृति में तटस्थ रहकर आन्दोलन उपस्थित करते हैं। कृष्ण की आयु के साथ उनका सौंदर्य और लीलाएँ भी बढ़ती जाती हैं। इन सब लीलाओं के वर्णन में सूरदास की दृष्टि बहुत ही पैनी रही है।

बाल-क्रीड़ा, यशोदा, देवकी, वासुदेव, नन्द, साखी-सखी, बाल-गोपाल

हिन्दी की ही भाँति मराठी-काव्य में भी कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के अनेक हृदय स्पर्शी वर्णन हुए हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं—"गोकुल में जो श्रीधर का कमल खिला है वही श्रीकृष्ण की प्रेम-मूर्ति का स्वरूप है। बड़े प्रेम से परब्रह्म ग्वाले का वेष धारण कर गौएँ चरा रहे हैं। सिर पर कम्बल ओढ़े श्रीकृष्ण एक कल्पवृक्ष के तले त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हुए हैं। उनकी पिंडलियाँ और जाँघें सुशोभित और प्रकाशमान हैं। वे पीताम्बर बाँधे हुए हैं और उस पर रत्नजटित मेखला है। प्रेम-सागर का उल्लसित करने वाली वैजयन्ती माला पैरों पर लटक रही है। दाँतों की प्रभा इतनी अधिक है कि उसे पाने के लिए मानो हीरे भीख माँग रहे हों। कृष्ण के मस्तक पर वृक्षों के कोमल पल्लवों का गुच्छा शोभायमान हो रहा है। दोनों होंठों में मुरली दबाए वे नन्दराज की गौओं की देखभाल कर रहे हैं। उनकी जितनी सराहना की जाए थोड़ी है। मुरली के सातों छिद्रों पर नाचने वाली उनकी अँगुलियों में अँगूठियाँ अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं। इस वेणु के मधुर स्वर ने सभी गोपिकाओं को वेध डाला है और वे कृष्ण-रूप हो उठी हैं। ऐसे इस कृष्ण को मैंने हृदय में बन्द कर रखा है।"[2]

ज्ञानेश्वर का श्रीकृष्ण दर्शन और कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त काव्यमय और मनोहारी है। 'मिट्टी में खेलने के कारण कृष्ण के बालों पर कुछ सफेदी-सी छा गई है। वे अपने छोटे से पाँव धीरे धीरे उठा रहे हैं। शरीर का संतुलन ठीक से न कर सकने के कारण उनके पैर डगमगा रहे हैं। कृष्ण को उठाकर गोपियाँ उन्हें चूमती हैं। इस प्रेम-सुख का कहाँ तक वर्णन किया जाए? कृष्ण की अँगुली पकड़कर गोपियाँ उन्हें विहार ले जाती हैं। जिस परमात्मा का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने अनेक युग बिता दिए हैं वही परमात्मा

१ सूरसागर, डॉ० मजेश्वर वर्मा पृ० २४४।
२ ज्ञानेश्वरी अभंग १६७।

आज गोपियों की गोद में खेल रहा है।"[1]

नामदेव की गाथा में १८३ अभंगों में श्रीकृष्ण की बाल-क्रीडाएँ वर्णित हैं। इनमें से पूतना-वध, वन-भोजन, गोपियों के घर चोरी, यशोदा से उनके उलहने, कृष्ण की विलक्षण शरारतें आदि का नामदेव ने बड़े ही सरस ढंग से वर्णन किया है। मुरली के प्रभाव का उन्होंने बड़ा ही साकार और सजीव चित्र खींचा है—

त्रिभंगी देहुडें उभे वृंदावनीं। वेणु चक्रपाणी वाजवीतो॥
स्थावरी गायी टाकिताति माना। वाळें स्तनपाना विसरलीं॥
सर्प आणि नाग मुंगुसें बैसती। जळेंहि वाहती विसरलीं॥
हस्ती सिंह एके ठायीं बैसताती। भ्रमर भुलती वेणुनादें॥
विंचरती वेणी तैसे राहे फणी। करितां भोजनीं ग्रास मुखीं॥
उदकाचे कुंभ गोपिकाचे शिरीं। यमुने चे तीरीं वेडावल्या॥
जाहले तटस्थ त्रिलोकीचे जीव। विसरला शीव देहभावा॥
नामा म्हणे व्योमीं उभ्या देवांगन। पाहोनियां कृष्णा भुलताती॥
(अभंग १५७७)

(चक्रपाणि त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होकर बाँसुरी बजा रहे हैं। गौएँ गर्दन झुकाकर तन्मय हो रही हैं और बछड़े स्तन-पान करना भूल गए हैं। नाग और नेवले एक साथ बैठ गए हैं। जल बहना बन्द हो गया है। हाथी और सिंह एक साथ बैठे हैं। वेणु-निनाद से भ्रमर भ्रान्त हो उठे हैं। वंसी-निनाद सुनते ही कंघी करती हुई गोपिकाओं की कंघियाँ जहाँ थीं, वहीं ठहर जाती हैं और भोजन करते समय ग्रास वहीं रुक जाता है। सिर पर गगरी धारण किए गोपिकाएँ यमुना के तीर पर बौरा-सी जाती हैं। तीनों लोकों के जीव तटस्थ हो गए हैं और जीव देह-भान भूल गया है। नामदेव कहते हैं, आकाश में देवांगनाएँ कृष्ण को देखकर बावली हो रही हैं।)

हिन्दी कवियों की ही भाँति नामदेव ने भी गोपी-वस्त्र-हरण की कथा को लेकर काव्य-रचना की है। श्रीकृष्ण जब गोपियों के वस्त्र लेकर चले जाते हैं तब गोपियाँ प्रार्थना करती हैं[2] कि हे मुकुन्द, तुम हमारे वस्त्र हमें दे दो, नहीं तो हम नन्द से जाकर कह देंगी। हे अच्युत, अनन्त, कृष्ण, गरुड़ध्वज, हम सब तुम्हारी दासी हैं। ठण्ड से हमारी जान निकल रही है। तुम्हें यशोदा की शपथ है, हमारे वस्त्र हमें दे दो। कुमारिकाओं की प्रार्थना सुनकर कृष्ण को हँसी आई और गोपिकाओं को उन्होंने धर्म बताना आरम्भ किया। "नग्न होऊनीया स्नानें जे करिती। त्यांची व्रतें होती निरर्थक॥" (जो विवस्त्र होकर नहाते हैं, उनके व्रत निरर्थक हो जाते हैं।) आखिर पानी में से निकलकर जब गोपियाँ कृष्ण को दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करती हैं तब कृष्ण उन्हें उनके वस्त्र वापस देते हैं।

कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते समय एकनाथ ने उनमें परमार्थ का भी पुट चढ़ा दिया है। वे कहते हैं, "भेद की दीवारों का दरवाजा खोलकर कृष्ण ने माया का ताला तोड़ डाला, अविद्या का छींका तोड़ दिया, क्रोध की साँकल खोल दी और दम्भ रूपी घड़ा

१. ज्ञानेश्वरी, अभंग १६६।
२. वस्त्रें देईं आतां वासुदी मुकुन्दा। जाऊनियां नन्दा सांगों आतां॥
अच्युता अनंता कृष्णा गरुडध्वजा। दासी आम्ही तुझ्या सकळिका॥
वाजतसे शीत जाऊं पाहे प्राण। यशोदेची आण तुज असे॥

फोड़कर प्रपंच रूपी छाछ बिखेर दी। प्रारब्ध रूपी बासी दही और ममत्व-रूपी दूध-मलाई वे पी गए। द्वैत की कोठी, काम की मुंडेर, लोभ से भरकर रखी हुई भलाई-बुराई रूपी घी की गगरियाँ आदि सबको कृष्ण ने चकनाचूर कर दिया।'[1] कृष्ण चरित्र विषयक अभंगों में एकनाथ ने हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया है। उन्होंने वसुदेव और देवकी की मनःस्थिति का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। कंस के बन्दीगृह में देवकी का दोहद लगे हुए हैं। 'मेळवूनि लेंकुरें खेळ खेळावा साचार' 'उचलावा महागिरी' 'जळीं रिघून नवरा नाथावा' 'कंसादिक वीर त्याचा करावा संहार।' अर्थात् वह बच्चों को एकत्रित करके खेल खेलना चाहती है—गोवर्धन उठाना चाहती है—पानी में पैठकर कालिया को नाथना चाहती है और कंसादिक वीरों का संहार करना चाहती है। गर्भ का विचार करते ही उसे बाह्य और अन्तरंग श्रीकृष्ण से ही व्याप्त दिखाई देने लगता है। 'सबाह्य अंतरी। व्यापक श्रीहरी।' कृष्ण का जन्म होते ही वह वसुदेव से कृष्ण को गोकुल में ले जाने के लिए कहती है। उत्तर में वसुदेव कहते हैं कि जब स्वयं परब्रह्म ही उनके घर आ गया है तब वे कंस का भय क्यों करें ?[2] वे भगवान् की रूप-माधुरी देखते ही रह जाते हैं। कृष्ण को गोकुल ले जाने का अनुरोध करते समय देवकी की मनोव्यथा कवि ने 'कृष्ण न्यावा गोकुळा। पाईं स्नेहाच्या शृंखळा' कहकर बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित की है। कृष्ण के यमुना तीर पर पहुँचते ही यमुना हर्ष से फूल उठती है और श्रीकृष्ण चरण-वन्दनार्थ उसमें बाढ़ सी आ जाती है। कृष्ण को लिये यमुना में प्रवेश करते समय कवि ने वसुदेव की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—'हातींचा कृष्ण विसरून। देव देवता ह्मातो वीर। मोहममतेचें महिमान। ऐसें आहे।' (पास के कृष्ण को भूलकर वसुदेव कृष्ण की रक्षा के लिए देवताओं की मनौती कर रहे हैं। ऐसा वे मोह-ममता के कारण ही कर रहे हैं।) कृष्ण की अनेक शरारतों का, गोपियों के उलहनों का, कृष्ण-विषयक यशोदा के प्रेम का वर्णन एकनाथ ने सूर जैसा ही किया है। सूरदास की ही भाँति बाल-कृष्ण के हठ का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> यशोदा म्हणे गाराबे। कृष्ण रडतां राहिना ॥
> कृष्णें हट्ट घेतली कसो। चन्द्र मागे खेळायासी ॥
> तो न ये करे। हातासी। कृष्ण रडतां राहिना ॥१॥
> बाई ! तुझी साउली सरसी। मन देईं खेळायासी।
> तो न ये बाळ। हातासी। कृष्ण रडतां राहिना ॥२॥
> धारणातीत हें धन। तें नये हाताकारण।
> कृष्णें मांडिलें विंदान। कृष्ण रडतां राहिना ॥३॥
> राधा म्हणे श्यामसुंदरा। तुम्ही चला माझे मंदिरा।
> एका जनार्दनीं दातारा। कृष्ण रडतां राहिना ॥४॥

(यशोदा कह रही है कि हे राधे ! कृष्ण ने अजब हठ ठान रखा है। वे खेलने के लिए चन्द्र माँग रहे हैं और लाख समझाने पर भी चुप नहीं हो रहे हैं। बराबर रो रहे हैं। यशोदा कृष्ण को समझाती है कि चन्द्रमा तक हाथ नहीं पहुँच सकता। पर कृष्ण रोना बन्द ही नहीं

---

१ श्री एकनाथ बाळरूप आणि कार नं० २० फाटक, पृ० १४० अभंग १४८-५४।
२ 'परब्रह्म आनंदें घरां आलें असतांना भाग कंसाचें न्य कोण शहाणपण।'

करते। तभी वे माँ की परछाईं खेलने के लिए माँगते हैं, पर यशोदा के समझाने पर भी कि परछाईं पकड़ी नहीं जा सकती, कृष्ण नहीं मानते और रोते रहते हैं। जब यशोदा शीशे में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब कृष्ण को दिखाती है, तब भी चन्द्र पकड़ में न आने के कारण कृष्ण उस ओर ध्यान न देकर रोते रहते हैं। फिर राधा उन्हें मनाती है तथा अपने घर चलने के लिए कहती हैं, पर कृष्ण किसी की बात नहीं मानते। हठ करते हैं और रोते रहते हैं।)

इसी प्रकार एक अन्य पद में कवि कहता है—

म्हाई भज मारूँ नको मज मारूँ नको।
नाहीं नाहीं म्यां खादली माती॥

(माँ ! मुझे न मारो, न मारो, नहीं, नहीं, मैंने मिट्टी नहीं खाई है।)

ज्ञानेश्वर, एकनाथ और नामदेव की ही भांति पंडित कवियों ने भी कृष्ण-रूप की माधुरी और बाल-लीलाओं का बड़ा ही सुन्दर और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। कृष्ण-जन्म, मृतिका-भक्षण, बाल-क्रीड़ा, गोरस-हरण, ऊखल-बन्धन वन-सुधा, वेणु-सुधा, हरि-विलास इत्यादि वर्णनों के कारण ही वामन पंडित मराठी-साहित्य-संसार में अमर हो गए हैं। कृष्ण के मिट्टी खाने से यशोदा क्रुद्ध है। इस प्रसंग का सजीव वर्णन वामन पंडित ने किया है—

कर श्रीकांताचा करकमळिं माता धरि करें।
दुजा हस्त क्रोधीं हरिवरि उगारुनि निकरें॥
दटाची ते वेळीं भयचकित डोळे हरि करी।
करी अंठवासे वरि कर दुजा जो भयहरी॥[1]

(श्रीकृष्ण का एक हाथ माता जोर से पकड़ती है और चपत लगाने के लिए दूसरा हाथ उठाती हुई डाँटती है, तब हरि की आँखें भय से चकित हो उठती हैं। वे भयहरण करने वाला अपना दूसरा हाथ बचाव के लिए मस्तक पर उठाये हुए हैं।)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि मराठी कृष्ण-काव्य में केवल कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही वर्णन नहीं हुआ, वरन् इन वर्णनों का सौन्दर्य, हाव-भावों का सूक्ष्म विवेचन सूरदास की ही तरह बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। इतना अवश्य है कि इन वर्णनों में अध्यात्म का ही आरोप अधिक हुआ है। सिद्धान्त की दृष्टि से मराठी के कृष्ण-गोपियों और हिन्दी के कृष्ण-गोपियों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, परन्तु व्यावहारिक रूप से दोनों के पात्रों में तनिक अन्तर है। श्रीमद्भागवत की ही तरह मराठी के कृष्ण विशेष रूप से दास्य-भक्ति के आलम्बन चित्रित हुए हैं, परन्तु, सूर ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्यभावों को अधिक महत्त्व दिया है। सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उसमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि कृष्ण का दिव्य रूप ढँक-सा जाता है। कृष्ण में भक्त-वत्सलता की अपेक्षा प्रेम की महत्ता स्वीकार की गई है। संक्षेप में, सूर के कृष्ण अधिक मानवीय हो उठे हैं। इसी प्रकार सूर की गोपियाँ भी अधिक वाचाल हैं। उनमें वाक्चातुर्य अधिक है। वे कृष्ण को उत्तर पर उत्तर देती हुई दिखाई गई हैं। कहीं-कहीं तो उनकी प्रगल्भता बहुत अधिक बढ़ गई है। उनकी तुलना में भागवत की ही भाँति मराठी की गोपियाँ अनुशासित हैं, परन्तु सूर की गोपियों की प्रगल्भता में भी ग्रामीणता

१. मृतिकाभक्षण, ४।

और सरलता की ओर झुकाव है। मराठी में चित्रित गोपियों में लौकिक प्रेम की उत्कटता हिन्दी की ही भाँति है, पर वे इस सत्य के प्रति सदा जागृत रहती हैं कि कृष्ण परमेश्वर है, इसीलिए उनमें सख्य की अपेक्षा दास्य भाव ही अधिक है। मराठी में भ्रमर गीतों के अभाव का यह भी एक कारण है। मराठी की अपेक्षा हिन्दी में विशेषकर, सूर का बाल-वर्णन अधिक व्यापक रूप में हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि सूर ने अपने आराध्य को मानवी रूप में देखा है और मराठी भक्त कवियों ने मानवी रूप में देवत्व को।

मराठी और हिन्दी दोनों के कवियों ने कृष्ण के साथ-साथ यशोदा, देवकी, वासुदेव, नन्द तथा साथी सखी बाल-गोपालों का वर्णन किया है। परन्तु, मराठी में यह वर्णन प्रसंग वश ही हुआ है। संक्षेप में, समस्त मराठी कृष्ण काव्य में कृष्ण के सहचर बाल-गोपाल, देवकी, यशोदा, नन्द, वसुदेव, बलराम आदि परिधि हैं और केन्द्र हैं स्वयं कृष्ण। हिन्दी में विशेष तथा सूरदास के वर्णन में इन पात्रों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी दृष्टिगत होता है। वास्तव में सूर ने समस्त पारिवारिक जीवन का जितना सफल और स्वाभाविक चित्र खींचा है, उतना मराठी कवियों ने नहीं।

भागवत-पुराण के दशम् स्कन्ध के (उन्तीस से तैंतीसवें अध्याय तक) पाँच अध्यायों को 'रास-पंचाध्यायी' कहते हैं। रास-पंचाध्यायी को भागवत का प्राण समझा जाता है।

गोपी तथा रास-क्रीडा प्रसंग, दशम् स्कन्ध के शृंगार पर आक्षेप तथा उसका खण्डन

रास पंचाध्यायी में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की अंतर्प्रेरणा का तथा शारदीय पूर्णिमा की विभावरी का बहुत ही सरस एवं काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। कृष्ण के मन में रास करने का विचार आते ही समस्त वन-प्रान्त अनुराग की लालिमा से अनुरंजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने अपनी वंशी उठाकर उसका वादन आरम्भ कर दिया। वंशी सुनते ही गोपियाँ अपने समस्त कार्य कलाप को छोड़कर वन में जा पहुँची। श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सहज भाव से उन्हें पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर वापस लौट जाने के लिए कहा पर गोपियों ने किसी भी मर्यादा को स्वीकार नहीं किया और आत्म विस्मृत-सी होकर वे वन में डटी रहीं। अन्त में कृष्ण ने उनके साथ मंडलाकार स्थित होकर रास किया। रास लीला में कृष्ण और गोपियों का मिलन, संयोग शृंगार के धरातल पर विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि के साथ वर्णित किया गया है।

रास-लीला का वर्णन हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने बड़े ही विशद रूप से किया है। रास-लीला को सूरदास ने 'वंशी ध्वनि सुन गोपी मोह' व 'रास-पंचाध्यायी,' 'श्रीकृष्ण विवाह', 'श्रीकृष्ण अन्तर्धान' 'गोपी विरह' 'श्रीकृष्ण मिले गोपिन को फेर रासलीला' और 'जल क्रीडा' इन छः शीर्षकों में विभाजित करके उसका बड़ा ही सरस वर्णन किया है।[1] नन्ददास ने 'रास-पंचाध्यायी' लिखकर ३७८ पदों में रास लीला का वर्णन किया है।[2] पर, मराठी कृष्ण-काव्य में रास का लगभग अभाव सा ही है। श्रीधर कवि ने अवश्य रासलीला का विस्तार से वर्णन किया है, पर उसमें भोग विलास का ही प्राधान्य है क्योंकि श्रीधर ने

१ सूरदास डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १२१।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ५५०।

कुचमर्दन, तांबूल-भक्षण, अधरामृत-पान या शारीरिक क्रीड़ाओं का भी यथेष्ट वर्णन किया है। ऐसा वर्णन करने मे वामन पंडित की ही भांति श्रीधर कवि का भी हेतु विषयीजनों को शृंगारिक वर्णनों से अपनी ओर आकृष्ट करना रहा है। कवि कहता है—

'जे कां विषय पर जन। न करती लीला श्रवण।
त्यांसी शृंगार रस दाखवून। मन वेधी आपणांकडे ॥'[1]

भागवत के दशम् स्कन्ध के शृंगार पर अनेक आक्षेप हुए हैं। गोपियां मूलतः परकीया हैं और परकीया स्त्रियों का कृष्ण के साथ विलास लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी दृष्टि से सामाजिक मर्यादा के अनुकूल नहीं है। रास-लीला के समय भी रात को स्त्री-सुलभ सारी मर्यादाओं का उल्लंघन करके वे वन में जाकर कृष्ण के साथ रास करती हैं। रास-लीला की परिभाषा करते हुए डॉ० मुंशीराम लिखते हैं—'रास शब्द रस से बना है। रसो वै सः, अर्थात् भगवान् स्वयं रस रूप हैं, आनन्द रूप हैं। उपनिषद् मे कहा गया है—आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रस-रूप ब्रह्म केन्द्र है और उसकी परिधि है ब्रह्माण्ड का यह चक्र, जिसे उसकी लीला कहा जाता है।'[2] वे आगे कहते है—'बंगीय विद्वानों ने जहां वैष्णव-भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहां उन्होंने रास-लीला को विज्ञान-सम्मत सिद्ध किया है। इन विद्वानों की सम्मति मे, बाह्य जगत् में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित, आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनन्त आकाश मे अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं। सूर्य केन्द्र में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे है। आकर्षण की शक्ति उनको परस्पर सम्बद्ध किये हुए है। इधर-उधर गिरने नहीं देती। रास-लीला मे कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य हैं; राधा तथा अन्य गोपियां ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं—इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिकशास्त्र के आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच मे एक केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमे अनन्त लहरें और अपरिमित कम्पन हैं। रास-लीला मे वह केन्द्रीभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप मे ऐसी ही लहरें उत्पन्न कर रहा है।

कुछ विद्वानों ने रास-लीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में भी किया है। वे कहते हैं, यही तो शिव का नृत्य है। डम-डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनन्त शब्द-ध्वनियां हैं और शिव के पद-तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं तांडव नाम के नृत्य को जन्म देती है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रास-लीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक और भी विचार रास-लीला के साथ सम्बद्ध है, जिसके अनुसार लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा हैं और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव, वृन्दावन सहस्र-दल कमल हैं। यही तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता

---

१. श्रीधर कृत हरिविलास, ७१।
२. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० २६५।

है। परन्तु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टि मार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीडा करते हैं उसकी लीला में भाग लेते हैं। गोपिकाएँ भी रास-लीला में कृष्ण के साथ मेल खेलती हैं।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रास लीला एक प्रकार का रूपक है। अमर कोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम राधा भी लिया गया है। यह नक्षत्र कृत्तिका नक्षत्र से चौदहवाँ नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृत्तिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास मंडल के मध्य में स्थित होने के कारण कम से कम रास मंडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।[1]

डॉ॰ हरवंशलाल ने कहा है कि गोपियाँ भगवान् की आनन्द रूपिणी शक्तियाँ हैं, राधा भगवान् की आह्लादिनी शक्ति है इसलिए कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक और राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई है।

योग की दृष्टि से भी रास का महत्त्व समझा जा सकता है। अनाहतनाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि है, उनकी नाड़ियाँ ही गोपिकाएँ हैं, कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्र-दल-कमल ही वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं।[2]

डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार रास-लीला ज्ञान मार्ग, योग मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग की सरणि है—शृंगार या काम चेष्टा का उसमें आधार स्वीकार ही नहीं किया गया है। रासलीला में उपास्य काम विजयी है, इसलिए इसके द्वारा काम-विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है।[3]

उपर्युक्त मतों के आधार पर यह मान भी लिया जाए कि रास-लीला एक आध्यात्मिक प्रतीक मात्र है और उसमें काम की भावना नहीं है, तब भी यह प्रश्न बना रहेगा कि भागवत में रास की योजना गोपियों को किस रूप को लेकर हुई थी? भागवत की गोपियाँ मानवी हैं या दैवी? कृष्ण और गोपियों का शृंगार मानवीय वासनाओं पर आधारित है या आध्यात्मिक है? यदि उसका स्वरूप आध्यात्मिक है तो उसमें केवल गोपियों का ही क्योंकर समावेश हुआ है?

अध्यात्म, पुरुष और स्त्री में भेद नहीं मानता। रास-लीला के समय कृष्ण का वंशी वादन गोपों को क्यों नहीं आकृष्ट करता? इस प्रश्न का उत्तर तभी मिल सकेगा जब गोपियों में काम भावना को स्वीकार किया जाए। हमारे विचार से भागवत में अध्यात्म का आश्रय लेकर इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है। मराठी भक्त-कवियों ने इस बात को समझा है और बड़ी सतर्कता से मानव सुलभ एषणाओं पर अध्यात्म की जय दिखाई है। ज्ञानदेव कहते हैं—

---

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ॰ मुंशीराम शर्मा, पृ॰ २६४-६५।

२ सूर और उनका साहित्य डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा पृ॰ ३१४।

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक, पृ॰ २६५।

> अगा जरी फोडावयाची लागी । लोहो मिळो का परिसाचे आंगीं ।
> का जे मिळतिये प्रसंगीं । सोनेंच होईल ।[1]

(अरे पारस को फोड़ने के लिए भले ही लोहे का घन आ जाए, पारस के स्पर्श से वह भी सोना बन जाएगा । अर्थात् निष्काम हो जाएगा ।)

भागवत हरिवंश आदि पुराणों की रचना एक विशिष्ट धार्मिक परिस्थिति की आवश्यकता-पूर्ति के रूप मे ही हुई है । भागवत-पुराण एक ही व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है । ऐसी दशा में यदि पुराणकार ने लौकिकता का आश्रय लेकर अध्यात्म का निरूपण किया तो आश्चर्य की बात नही । ऐसे निरुपण मे उसकी वैयक्तिक भावना भी अवश्य ही रही होगी। मधुरा-भक्ति तथा भक्त की मनोदशा का विवेचन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "परमेश्वर पति-रूप और हम सब पत्नी-रूप हैं । इस प्रकार की भक्ति को ही मधुरा-भक्ति कहते हैं । इस विश्व में हर समय एक ही पुरुष वास करता है । वह पुरुष है परम-पुरुष । वह सबका पति है । एक पुरुष जो कुछ प्रेम स्त्री को दे सकता है या जो प्रेम स्त्री पुरुष को दे सकती है, वह सब परमेश्वर को दे देना ही मधुरा-भक्ति है । भक्ति के अनन्त स्वरूपों में यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है ।" इतना ही नहीं, स्वामी विवेकानन्द आगे कहते है, "पति और पत्नी के रूप में होने वाली भक्ति से भी भक्त का दिल नही भरता, क्योंकि पति और पत्नी के परस्पर प्रेम मे सदाचार होता है । यद्यपि व्यभिचारी प्रेम मे दुराचार का रूप विद्यमान रहता है, तथापि वह पति और पत्नी के प्रेम से अधिक उत्कट हुआ करता है और इसीलिए भक्त दुराचारी प्रेम को भी पसन्द करता है । वह नही सोचता कि दुराचारी प्रेम का मार्ग अशुद्ध होता है ।"[2]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में राधा को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । वह कृष्ण की प्रमुख सखी है—प्रेमिका है । वह कृष्ण के व्यक्तित्व की पूरक है ।

कृष्ण की प्रमुख सखी राधा···विधुता, राई, रखुमाई, रुक्मिणी, सत्यभामा-तेलुगु

वह भोली, चंचल, चतुर, प्रेम-विवश और परम सुन्दरी परकीया है । कृष्ण उस पर आसक्त है, रति, रम्भा, उर्वशी, रमा आदि उसे देखकर मन मे घुलती रहती हैं, क्योंकि वे सब कंत-सुहागिन नहीं है और राधा कंत को प्रिय है । वह कृष्ण के साथ रति-सुख में मग्न है । रति-सुख के उपरान्त जहाँ राधा की 'मरगजी सारी', फटी कंचुकी, आलस्य भरे नैन और अटपटे बैन, उसके सहज बिमल सौन्दर्य में किंचित् व्यतिक्रम उपस्थित करते हैं, वहाँ रसिकराय को रस-वश करने का आत्म-सन्तोष और उत्फुल्लता भी उसके अंग-अंग से फूटी पड़ती है ।[3] वह मानिनी नायिका है । संक्षेप में, हिन्दी-साहित्य मे राधा कृष्ण की शक्ति का प्रतीक होते हुए भी वह अपने कार्य-कलाप मे पूर्ण रूप से मानवी चित्रित हुई है । मराठी-काव्य मे राधा के स्थान पर रुक्मिणी को महत्त्व मिला है । दोनो प्रदेशों के भक्तों के परस्पर सम्पर्क के परिणामस्वरूप मराठी के कृष्ण-काव्य मे राधा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ अवश्य है, पर वह नाम-मात्र के ही लिए ।

---

१. ज्ञानेश्वरी, ९-४६५ ।

२. विवेकानन्द, समग्र ग्रन्थ, भाग ५, पृ० १८५-१८६ ।

३. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद २६२८ ।

मराठी काव्य में विघुताराई वियोगिनी राधा का ही दूसरा नाम है, पर ऐसे उल्लेख बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं और जो हैं भी, व परवर्ती काल से सम्बद्ध हैं। वस्तुत मराठी कृष्ण-काव्य म रुक्मिणी या विट्ठल की रखुमाई को ही विशेष रूप स मान्यता मिली है। मराठी साहित्य में रुक्मिणी-स्वयंवर पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। सबसे पुराना रुक्मिण-स्वयंवर महानुभाव पन्थ का है। महानुभाव पन्थ का प्रादुर्भाव १२वीं १३वीं शताब्दी मे माना जाता है। १२०८ शक मे महानुभाव पन्थ की अनुयायिनी महदम्बा ने धवले गाए हैं। उनके धवले रुक्मिणी-स्वयंवर का पहला काव्य है। इसके बाद स्वय महदबा न ही मातृकी रुक्मिणी-स्वयंवर की रचना की। महदम्बा के पश्चात् नरेन्द्र, नृसिंह, सल्लोर मुनि, कृष्णदास आदि दस-बारह महानुभाव कवियों न तथा एकनाथ, सामराज, विट्ठल आदि दस-बारह सनातनी कवियो ने इस विषय को लेकर काव्य रचना की। अधिकतर भक्त कवियों न भागवत तथा पद्मपुराण का आधार लिया है। केवल एकनाथ न हरिवंश का आधार माना है।[1]

मराठी और हिंदी के कृष्ण-काव्य का विवेचन इस बात को सिद्ध करता है कि दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य का आधार भागवत और हरिवंश-पुराण होते हुए भी दोनों काव्यों में राधा की कल्पना म महान् अंतर है। मराठी म केवल रुक्मिणी को आदर्श, भावुक और पतिव्रता पत्नी क रूप में मान्यता दी गई है और इसलिए उसमें परकीया-तत्त्व का सर्वथा अभाव अभिलक्षित होता है। पर हिन्दी में रुक्मिणी की अपेक्षा राधा को ही कृष्ण की चित्-शक्ति के रूप म स्वीकार किया गया है। ऐसा क्या हुआ ? विशेषतया जबकि भागवत मे राधा का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। तेलुगु म भी सत्यभामा और रुक्मिणी को कृष्ण की पत्नियों के रूप मे स्वीकार किया गया है। रुक्मिणी कृष्ण को अधिक प्रिय है, उसका प्रेम आदर्श हिन्दू पत्नी का शुद्ध प्रेम है। उसमे आत्म-समर्पण का भाव है। सत्यभामा मानिनी है, रुक्मिणी के प्रति ईर्ष्यालु है। वह कृष्ण पर सम्पूर्ण अधिकार चाहती है।

भागवत म राधा का अभाव और हिन्दी कृष्ण-काव्य मे उसकी मान्यता मुख्यत क्या इस बात को सूचित नहीं करती कि जिन परिस्थितियों मे हिंदी के कृष्ण-काव्य की रचना हुई है, वे महाराष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थीं ? कई विद्वानो का मत है कि आचार्य वल्लभाचार्य द्वारा वृन्दावन म कृष्ण-सम्प्रदाय की स्थापना के कारण ही उत्तर में राधा को मान्यता मिली। स्वय वल्लभाचार्य का अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम राधा-भाव का था। अत आवश्यक था कि पुष्टि मार्ग क सभी भक्त कवि परम्परा निर्वाह के लिए राधा को स्वीकार करते। वस्तुत पुष्टि मार्ग के सभी भक्त कवि अनिवार्यत भक्त पहले थे। दर्शन का विवेचन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिए भी स्वाभाविक था कि वे अपने आराध्य देव के उसी रूप का गुण-गान करते जो उनके सामने उनके गुरु ने प्रस्तुत किया था। पर यहीं प्रश्न का समाधान नहीं हो जाता। वल्लभाचार्य का उत्तर मे आकर अपना सम्प्रदाय स्थापित करना भी विचार की अपेक्षा रखता है। यह सत्य है कि ब्रजमण्डल भगवान् कृष्ण की लीला भूमि था और उसे अपने सम्प्रदाय का केन्द्र बनाना वल्लभाचार्य जैसे भक्त प्रवर के लिए स्वाभाविक ही था। पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि आचार्य वल्लभ ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, उसके लिए केवल उत्तर की भूमि ही उर्वरा थी ? वस्तुत उत्तर भारत

---

१ महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका अंक १३५, पृ० १७।

की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही वल्लभ सम्प्रदाय की परिपुष्टि का प्रमुख कारण थी।

अक्रूर और उद्धव सन्देश

महाराष्ट्र में भ्रमर-गीत का अभाव

हिन्दी में राधा को परकीया नायिका स्वीकार करके कृष्ण-भक्ति में संयोग-शृंगार को मान्यता मिली। कृष्ण-भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है—"महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-पूजा का ''' जो रूप निर्धारित किया था, वह अत्यन्त आकर्षक था। वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष की ही प्रधानता थी। कृष्ण का सौन्दर्य, गोपियों का प्रेम, कृष्ण और गोपियों का विहार, ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए। किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्त्व सन्निहित थे, शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण का भी इंगित था, किन्तु यह रूप आगे चलकर स्थिर न रह सका। चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना करके कृष्ण के दाम्पत्य-प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। 'प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई।'[1]

कृष्ण-भक्ति में परकीयातत्त्व, संयोग-शृंगार की स्थापना और उसकी पूर्ति के लिए वियोग-शृंगार का प्रतिपादन अनिवार्य-सा हो गया। बिना वियोग के संयोग के आनन्द की तीव्रता का अनुभव नहीं किया जा सकता, इस बात को भक्त-कवि पूर्ण रूप से जानते थे। हिन्दी कृष्ण-काव्य में वियोग-शृंगार के प्रतिपादन के लिए कृष्ण का मथुरागमन आधार-बिन्दु माना गया। वियोग के उद्दीपन का कार्य अक्रूर और उद्धव के द्वारा परिपूर्ण होता है। अक्रूर कृष्ण के भक्त हैं, पर कंस की आज्ञा से उन्हें कृष्ण को मथुरा ले जाने का निष्ठुर कार्य करना पड़ता है। कृष्ण को लाने के लिए जाते समय वे शोकातुर हो जाते हैं।[2] इसी प्रकार जब कृष्ण और बलराम को रथ में बिठाकर वे मथुरा की ओर चलते हैं तो फिर उनका हृदय दुःख से भर आता है। वे सोचते हैं कि 'मैं इनकी जननी को दुखी करके, घोष नारियों को व्याकुल छोड़कर, नवनीत का भोजन करने वाले अत्यन्त कोमल बालकों को कुवलय, मुष्टिक, चाणूर जैसे भयंकर दनुजों के पास लिये जाता हूँ। मेरे इस कार्य को धिक्कार है। मैं उसी समय क्यों न मर गया।'[3]

कृष्ण के मथुरा-गमन और अक्रूर की कथा से वियोग-शृंगार का आरम्भ होता है और उसकी चरम सीमा उद्धव-सन्देश में होती है। उद्धव अक्रूर की अपेक्षा कृष्ण के अधिक निकट हैं। वे योग और ज्ञान-मार्ग के समर्थक तथा निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। उन्हें कृष्ण की ब्रज की प्रेम-चर्चा से कोई भी रुचि नहीं है और वे भक्ति-मार्ग द्वारा प्रतिपादित सगुणोपासना का खण्डन करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते हैं, इसीलिए कृष्ण उन्हें 'भुजंग' सखा

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ६१८।

२. सूर सागर (वेंकटेश प्रेस), पृ० ४५५-५६।

३. सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ४४३।

और 'निपट जोगी जग' समझते हैं। कृष्ण के कहने पर वे ब्रजवासिनियों को निर्गुण ब्रह्म की उपासना का सन्देश सुनाने के लिए जाते हैं, पर गोपियों के तर्क से पराजित होकर उन्हीं के रंग में रंगे वापस मथुरा लौट जाते हैं। उद्धव और गोपियों का संवाद हिन्दी-साहित्य में भ्रमर गीत के नाम से प्रसिद्ध है। भ्रमर गीत के प्रसंग का वर्णन लगभग सभी कृष्ण भक्त कवियों ने किया है, पर भ्रमर-गीत की रचना सूरदास ने सबसे अधिक विस्तार और तन्मयता के साथ की है। अपनी इस कथा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए 'उद्धव आगमन हेतु' शीर्षक से वे बताते हैं कि श्रीकृष्ण को जब ब्रज की याद आई तब उन्होंने उद्धव को ब्रज भेजने का विचार किया। भ्रमर-गीत के आरम्भ में ही सूरदास सबसे पहले उद्धव के आने का समाचार सखी द्वारा राधा को ही दिलाते हैं। विरह में गोपियों का प्रेम स्थिरता प्राप्त कर चुका है, उद्धव आकर उसे चंचल कर देते हैं परन्तु यह चंचलता क्षणभंगुर है। गोपियों के गम्भीर प्रेम का परिचय पाकर उद्धव अपना समस्त ज्ञान भूल जाते हैं और निर्गुण का उपदेश छोड़ कर सगुण के चेरे बन जाते हैं।[1] भ्रमर गीत की योजना में कृष्ण भक्त कवियों ने विरहिणी ब्रजांगनाओं के हृदय की भावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है। भ्रमर-गीत एक ओर विरही हृदय का मार्मिक वर्णन करता है तो दूसरी ओर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेयस्कर सिद्ध करता है। कृष्ण भक्ति-मार्ग के हिन्दी कवियों की विरह-व्यवस्था में अक्रूर और उद्धव वस्तुतः दो सोपान हैं: एक विरह का वातावरण निर्माण करने में सहायक सिद्ध होता है और दूसरा वियोग की व्यंजना करने के लिए कारण बनता है।

मराठी में भ्रमर गीत का सर्वथा अभाव है। यद्यपि अक्रूर और उद्धव दोनों पौराणिक व्यक्ति हैं और कृष्ण कथा में इन दोनों का ही उल्लेख हुआ है, तथापि मराठी कृष्ण भक्त कवियों ने विरह वर्णन के लिए इन दोनों का उपयोग नहीं किया, क्योंकि विरह वर्णन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इतना ही नहीं, मराठी में कृष्ण की मधुरा भक्ति को आरम्भ से ही मान्यता नहीं मिली। मराठी के कृष्ण काव्य का मुख्य आधार भागवत का एकादश स्कन्ध, महाभारत तथा गीता ही रहा है। हिन्दी कवियों की भाँति मराठी-कवियों ने भागवत के दशम् स्कन्ध से ही अपने काव्य की प्रेरणा नहीं ली।

मुरली-गीत और उसका चराचर पर प्रभाव

मुरली कृष्ण के रूप सौंदर्य का एक अभिन्न अंग है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने मुरली का विशद वर्णन किया है। कृष्ण के प्रति सखाओं तथा गोपियों की आसक्ति दोनों मुरली के व्यापक प्रभाव से ओतप्रोत हैं। वस्तुतः कृष्ण भक्ति के सम्पूर्ण काव्य में मुरली की लोक-लोकान्तरव्यापी रहस्यमयी ध्वनि निरन्तर विद्यमान रहती है। 'हरि जब अधर पर मुरली धरते हैं तो स्थिर चलने लगते हैं चर स्थिर हो जाते हैं, पवन थकित हो जाता है, जमुना का जल प्रवाह रुक जाता है, खग मोह जाते हैं, मृग-यूथ भूल जाते हैं, पशु मोहित हो जाते हैं, गायें विश्रमित होकर मुँह में तृण दबाए रह जाती हैं। गुरु सनकादि सकल मुनि मोहित हो जाते हैं, उनका ध्यान नहीं लगता।'[2] मुरली की ध्वनि से सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है। यह है मुरली का व्यापक प्रभाव। जड़, अध

---

१ सूरसागर (वें० प्रे०), पृ० ५५१।

२ वही, पद १२१८।

चेतन, पूर्ण-चेतन, सभी उसके हृदयाह्लादक, प्राण-पोषक, मनोहारी नाद से आनन्दित हो उठते हैं। मुरली की धुन सुनकर ब्रजांगनाएँ अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। पपीहे टेरने लगते हैं, कोकिलें कूकने लगती हैं और मोर नाचने लगते हैं। मुरली का स्वर अध्यात्म-क्षेत्र में क्या है? कुछ विद्वानों ने मुरली ध्वनि को शब्द-ब्रह्म माना है।[1] जिस प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है, उसी प्रकार उसकी वाणी भी सर्वव्यापी है। अतः मुरली-ध्वनि परब्रह्म का शब्द-रूप है। कई विद्वानों ने इसे नाम-लीला का रूप दिया है, क्योंकि भक्त नाम का जाप करते समय जिस ध्वनि का अपने अन्तःस्तल में श्रवण करता है, वही तो वंशी-ध्वनि है। 'हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर जो स्फोट और नाद होता है और जो नाद ब्रह्माण्ड-भर में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, वह भी वंशी की ही ध्वनि है। वंशी को कहीं-कहीं योग-माया के रूप में देखा गया है, जो प्रभु की अपरा-शक्ति की पर्याय है। श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग यहीं से आरम्भ होते हैं।"[2] वैष्णव आचार्यों ने मुरली की व्याख्या इस प्रकार की है। वेणु में तीन अक्षर हैं—व×इ×णु। 'व' ब्रह्म-सुख का द्योतक है, 'इ' सांसारिक सुख को प्रगट करती है, इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात् मात करने वाली है, वह है वेणु। वल्लभाचार्य वेणुनाद का निरूपण करते हुए कहते हैं—जब भक्त को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, तब उसके सामने वंशी बजने लगती है।[3]

हिन्दी कृष्ण-काव्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप मुख्यतः मोहन है। इस मोहन-स्वरूप का मुरली एक आवश्यक अंग है। रास-लीला एवं अन्य केलि-क्रीड़ाओं के लिए मुरली ही गोपिकाओं का आवाहन करती है, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में संयोग और वियोग-शृंगार की योजना में मुरली वह अलौकिक साधन सिद्ध होती है जो वेद, लोक और कुल की मर्यादा से गोपियों को मुक्त करके कृष्ण के अधीन कर देता है और साथ ही उनके इस व्यवहार को अलौकिक स्वरूप भी प्रदान करता है। गोपियाँ मुरली की सम्मोहन ध्वनि के कारण ही अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं और इस आत्म-विस्मृति के लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं, मुरली उत्तरदायी है। अतः आत्म-विभोर दशा में वे मर्यादा का उल्लंघन करके जो भी कार्य करती हैं, उसके लिए एकमात्र कारण मुरली है। यह सच है कि मुरली कृष्ण की सहचरी है, कृष्ण मुरली-वादन में प्रवीण हैं, पर फिर भी मुरली-वादन और उसके प्रभाव को जितनी महत्ता हिन्दी-काव्य में दी गई है उतनी मराठी में नहीं। मराठी काव्य में भी मुरली की मोहकता का पर्याप्त वर्णन हुआ है, पर वह कृष्ण-चरित के एक आवश्यक अंग के रूप में ही हुआ है। उसे विस्तार प्राप्त नहीं हो सका है, क्योंकि मराठी भक्त-कवि जितने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए, उतने मुरली-वादन या उनकी केलि-क्रीड़ाओं से नहीं।

---

१. नन्ददास 'रास-पंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में लिखते हैं—

> तब लीनी कर कमल जोग माया-सी मुरली, अघटित घटना चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली,
> जाकी धुनि तें निगम अगम प्रगटित बड़ नागर। नाद ब्रह्म की जनि मोहिनी सब सुख सागर।

२. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० २८८।

३. "यदा खलु पुरुषः शियनश्नुते वीणा अस्मै वाजते।"—श्रीमद्भागवत। स्कन्ध १० पूर्वार्द्ध, अ० २१ वेणु-श्लोक ६ का सुबोधिनी भाष्य।

कृष्ण के अन्य रूप

द्वारिकाधीश, अर्जुन सारथी, द्रौपदी का भाई, महाभारत के कृष्ण

हिन्दी कृष्ण काव्य में कृष्ण का मनोहारी लोक-रंजक रूप अधिक चित्रित हुआ है। इस चित्रांकन में परम्परावश उनकी अलौकिक लीलाओं का भी यत्र तत्र वर्णन हुआ है पर जितना विस्तार और मार्मिकता उनके मनमोहक रूप वर्णन को प्राप्त हुई है उतनी उनके शौर्य वर्णन को नहीं। इतना ही नहीं, कृष्ण के परम्परागत अन्य रूपों को कृष्ण भक्त कवियों ने अपने वर्णन का विषय नहीं बनाया। कदाचित् इसलिए कि भक्त होने के कारण वे उनकी रूप माधुरी के रंग से ही सिक्त होना चाहते थे, और इसीलिए उन्होंने कृष्ण के द्वारिकाधीश, सारथी, द्रौपदी का भाई तथा महाभारत में वर्णित रूपों का अपना गुण-गान का विषय नहीं बनाया। उनके कृष्ण नन्द नन्दन, गोपाल, रसिक शिरोमणि, रति-नागर, राधावल्लभ, गोपी वल्लभ, निठुर, नीरस कृष्ण हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का कृष्ण काव्य, कृष्ण चरित्र के केवल एक ही पक्ष को लेकर विकसित हुआ है। इस विकास में भी भक्तों की निजी रुचि और भावना प्रधान रही है और कृष्ण चरित्र की परम्परा और चरित्र का व्यापकत्व गौण। पर मराठी का कृष्ण चरित्र चित्रण के इस दोष से मुक्त रहा है। मराठी के भक्त-कवियों ने अपने काव्य में कृष्ण के समग्र व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। कृष्ण का दार्शनिक दृष्टिकोण, उनका पराक्रम, उनकी नीति, उनकी शालीनता, इन सबसे मराठी कवियों ने प्रेरणा ली है और काव्य का सृजन करके परम्परा को बनाए रखा है। इसी प्रकार भक्त और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध बड़ी ही मार्मिकता से द्रौपदी और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध में चरितार्थ होता है। द्रौपदी वस्त्र हरण की कथा को लेकर लगभग प्रत्येक मराठी भक्त-कवि ने भगवान् की भक्त-वत्सलता का तथा शरणागत की रक्षा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। मराठी के कृष्ण गीता वेत्ता और योगेश्वर होकर भी शालीनता की मूर्ति हैं। वे छोटे से छोटा काम करने में भी संकोच नहीं करते। जब भोजन का आयोजन होता है, तब जूठी पत्तलें उठाने का कार्य भार भी वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं। महाभारत के युद्ध में वे अर्जुन के सारथी बन जाते हैं। सारथी का कार्य करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता।

कृष्ण का चरित्र चित्रण

कृष्ण के चरित्र चित्रण के लिए हिन्दी और मराठी—दोनों भाषाओं के भक्त कवियों ने भागवत से ही प्रेरणा ली है, हिन्दी कृष्ण-कवियों ने भागवत के दशम् स्कन्ध से और मराठी कवियों ने एकादश स्कन्ध से। दशम् स्कन्ध से मराठी-कवियों ने केवल कृष्ण की बाल-लीलाएं ली हैं। भागवत के दशम् स्कन्ध के साथ-साथ हिन्दी-कवियों ने अन्य पुराणों में वर्णित कृष्ण कथाओं का भी आधार लिया है, पर महाराष्ट्र का झुकाव विशेष रूप से महाभारत और गीता की ओर ही रहा है। वस्तुतः मराठी-कवियों की दृष्टि में भक्ति और तत्व ज्ञान दोनों का समान महत्त्व रहा है। संत ज्ञानेश्वर द्वारा भक्ति और कर्म-योग का समन्वय तथा स्वामी चक्रधर द्वारा भक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता की स्थापना ने मराठी भक्ति सम्प्रदाय को अन्य प्रान्तों के भक्ति-सम्प्रदायों से कुछ भिन्न रूप प्रदान किया। शंकराचार्य के ज्ञानोत्तर

कर्म-योग को गौण माना। अन्य आचार्यों ने जिस कर्म-योग का उपदेश दिया था वह क्रिया-योग, भजन, पूजनादि में परिवर्तित हो गया, पर महाराष्ट्र ने अधिकतर गीता के निष्काम कर्म-योग का ही शुद्ध रूप से उपदेश दिया है। गीता एवं उपनिषदों में वर्णित जो निष्काम कर्म-योग मराठी सन्तों के सम्मुख था वह उनके काव्य में ठीक वैसा ही उतरा है। 'दशम् स्कन्ध पर भाष्य लिखते समय भी एकनाथ गीता के निष्काम कर्म-योग को नहीं भूले और इसीलिए व्यक्ति एवं समाज के सर्वांगीण विकास की ओर जितना ध्यान मराठी भक्त-कवियों ने दिया उतना अन्य किसी भी प्रान्त के भक्ति-सम्प्रदाय ने नहीं दिया।'[1] इस विशिष्ट दृष्टि के कारण ही महाराष्ट्र में धर्म संघटन के प्रति विशेष रूप से जागृति दृष्टिगोचर होती है। मराठी भक्त-कवियों का उद्देश्य समाज को केवल भक्ति का उपदेश देना ही न था। अतः ज्ञानेश्वर से तुकाराम तक सभी ने अपने काव्य में धर्म-संस्थापना का उद्देश्य सामने रखा है।

हिन्दी-भक्त कवियों का दृष्टिकोण किंचित भिन्न रहा है। उन्होंने अपने काव्य का सृजन या तो स्वान्तः सुखाय किया है या आचार्यों के निर्देशन में लोकरंजन के लिए। काव्य के ये दोनों प्रकार क्रमशः मीरा तथा अष्टछाप के कवियों की कृतियों में मिलते हैं। अष्टछाप के कवि वस्तुतः भक्त-कवि थे। उनमें ज्ञान के प्रति उतनी जिज्ञासा नहीं थी जितनी भाव की विह्वलता थी। वे सब आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अष्टछाप की स्थापना करने में भी स्वामी विट्ठलनाथ का उद्देश्य भगवद्‌भजन द्वारा लोकरंजन करना था। अतः इन सब कवियों ने पुष्टि-मार्ग के मन्दिरों में कीर्तन करने के लिए ही अपने पद गाये थे। उनका काव्य भाव-भूमि पर ही आधारित था, उसे दार्शनिकता का पुट नहीं मिल सका। परिणाम यह हुआ कि भक्तों के साथ भाव की उत्कटता तिरोहित हो गई और जनता के हाथों में भक्तों द्वारा वर्णित भगवान् की केलि-क्रीड़ाएँ अपने लौकिक रूप में उतर आईं।

मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की इस आधारभूत विभिन्नता के कारण ही कृष्ण-विषयक उनकी मान्यताओं में भी अन्तर आ गया। मीरा के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म होते हुए भी मीरा ने उन्हें पति के रूप में देखा और पति-परायणा पत्नी-हृदय की उत्कट भावानुभूति को अपने पदों में व्यक्त किया। अष्टछाप के कवि साम्प्रदायिकता से बद्ध होने के कारण तथा उनके काव्य का हेतु मन्दिरों में भगवान् का गुण-गान होने के कारण उन्होंने अपने अलौकिक आराध्य का लौकिक चित्र ही प्रस्तुत किया। हिन्दी के कृष्ण, और विशेषतः सूरदास के कृष्ण भागवत के कृष्ण होते हुए भी उनके अपने कृष्ण हैं। वे सम्पूर्णतः मानवीय रूप में चित्रित हुए हैं, पर साथ ही कवि स्थान-स्थान पर उनके अलौकिक रूप का भी स्मरण करता रहा है। इस चित्रण में भागवत की भाँति कृष्ण का चतुर्व्यूह अवतार-रूप नहीं है।[2] भागवत में राधा का सर्वथा अभाव है, पर अष्टछाप के कवियों ने अपने सम्प्रदाय की उद्देश्य-पूर्ति के लिए राधा को भी स्वीकार किया है। स्वयं सूरदास ने राधा को पुरुष की प्रकृति माना है। वे कहते हैं—

प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इतौ रस रीति स्याम सौं तै ब्रजबसि बिसराई॥[3]

१. नाथाचा भागवत धर्म, श्रीधर कुलकर्णी, पृ० १६१।
२. सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरबंशलाल शर्मा, पृ० २४६।
३. सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३४३४।

बजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकहि करिजानो बातनि भेद करायो ॥[1]
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूल गई।[2]

सूरदास ने कृष्ण को साक्षात् ब्रह्म के रूप में ही माना है—

ब्रजवासी पटतर कोउ नाहीं।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत, इनकी जूठनि लै लै खाहिं ॥
धन्य नंद, धनि जननि यशोदा, धन्य जहाँ अवतार कन्हाई।
धन्य धन्य वृंदावन के तरु जहँ बिहरत त्रिभुवन के राई ॥[3]

पर अनेक स्थानों पर उन्होंने विष्णु का ही महत्ता प्रदान की है। मराठी भक्त-कवियों ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है तथा अपने सम्पूर्ण काव्य में अपने आराध्य के इस रूप को तनिक भी ओझल नहीं होने दिया। मराठी के कृष्ण भागवत की भाँति दास्य भक्ति के आलम्बन चित्रित हुए हैं। सख्य और वात्सल्य को लेकर भी पर्याप्त अभंगों की रचना हुई है, परन्तु अधिक बल दास्य भाव पर ही दिया गया है। पर सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों को ही अधिक महत्त्व दिया है। सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उनमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमें अलौकिक रूप ढँक-सा जाता है। सूरदास के काव्य में भगवान् कृष्ण का अनुग्रह भक्तवत्सलता के रूप में प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण है कि यहाँ भगवत्कृपा के उल्लेख गौण-से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धों को लौकिक रूप ही दिया है।[4] सूर के कृष्ण न केवल काव्य के प्रधान नायक हैं, वरन् कवि के इष्टदेव भी हैं। उनके स्वभाव की यह विशेषता है कि उन्हें जो जिस भाव से भजता है उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं। फलतः भक्ति-भाव की विविधता के अनुरूप उनका व्यक्तित्व भी बहुरूपों में प्रकट हुआ—दास्य भाव के आलम्बन कृष्ण पतित-पावन करुणामय, भक्त-वत्सल हैं। वात्सल्य भाव के आलम्बन कृष्ण एक अनुपम शोभाशाली, अबोध-शिशु एवं सुकुमार, मनोहर, क्रीड़ामय चपल, धृष्ट बालक हैं। ब्रज की सम्पूर्ण लीला में वे नन्द, यशोदा तथा वात्सल्य भाव के आश्रय स्वजन-परिजनों को निरन्तर इसी रूप में अपने विविध बाल-कौतुकों से सुख देते हैं। सखाओं के समक्ष बाल और पौगण्ड कृष्ण प्रिय, सुहृद् सहचर सहायक और हृदयराज हैं। कृष्ण का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप मधुर रति का आलम्बन है। इस रूप में कृष्ण राधा के प्रेम के आलम्बन और आश्रय तथा गोपी प्रेम के आलम्बन हैं।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में कृष्ण का परम्परागत स्वरूप राधा और गोपियों के परकीया तत्त्व एवं मधुर रति भाव के कारण लौकिक धरातल पर उतर आया पर मराठी काव्य में पुरानी परम्परा निराबाध गति से बहती रही।

---

१ सूरसागर, ना० प्र० स० पद १६०१।
२ वही, पद २३०६।
३ वही पद १०८७।
४ सूर और उनका साहित्य डॉ० हरिवंशलाल शर्मा, पृ० २६४।
५ सूरदास डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, एम० ए०, डी० फिल्०, पृ० ३४४।

ज्ञानदेव, एकनाथ आदि के कृष्ण परब्रह्म-रूप है। वे रस के सागर है, भक्त-वत्सल हैं, तत्त्वज्ञ हैं, शूर है, नीति-निपुण और राजनीति-विशारद हैं। एकनाथ, नामदेव और तुकाराम ने भी जहाँ कृष्ण-गोपी प्रेम की चर्चा की है वहाँ भी वे कृष्ण के परब्रह्म-रूप को नहीं भूले हैं। एकनाथ कहते हैं—

जेथे मी क्रीडे आत्मारामु। तेथ केवीं रिघे वापुडा कामु।
माझे कामें गोपिका निष्कामु। काम संभ्रमु त्यां नाहीं॥
जो कोणी स्मरे माझें नामु। तिकडे पाहूं न शके कामु।
जेथ भी रमें पुरुषोत्तमु। तेथ कामकर्म रिघेना॥[1]

अर्थात्—

कृष्ण के सहवास में प्रत्यक्ष काम भी निष्काम बन जाता है, फिर भला गोपियों को काम की बाधा कैसे हो सकती है ! इसी प्रकार नामदेव का एक अभंग देखिए—

धन्य त्या गोपिका धन्य त्यांचे पुण्य।
भोगिताती कृष्ण पूर्णब्रह्म॥
नामा म्हणे होय कामाची ते पूर्ती।
नव्हे धैर्यच्युति गोविंदाची॥[2]

अर्थात्, गोपिकाओं का काम कृष्ण ने शान्त किया, पर शारीरिक क्रिया से नहीं, क्योंकि इस काम-शान्ति में गोविन्द की 'धैर्यच्युति' नहीं हुई। नरेन्द्र के रुक्मिणी-स्वयंवर के कृष्ण भी ईश्वर-रूप आदर्श पुरुष और पति-रूप हैं। 'शिशुपाल-वध' के रचयिता भास्कर भट्ट ने भी कृष्ण का यही रूप अपने सम्मुख रखा है। 'शिशुपाल-वध' शृंगार-प्रधान ग्रन्थ है, पर शृंगार का आश्रय कवि ने अपने तत्त्व-निरूपण के लिए ही लिया है। अतः शृंगार का यथेष्ट वर्णन करते हुए भी कवि का कृष्ण-चरित्र-चित्रण लौकिकता के रंग में नहीं रंगा है।

'वत्सहरण' के रचयिता दामोदर पंडित के कृष्ण भी शान्त रस के ही अधिष्ठाता हैं। कृष्ण के चरित्र-चित्रण की इसी परम्परा का पालन वामन पंडित, श्रीधर, मोरोपंत आदि ने भी किया है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है। इस अनादि सम्बन्ध के कारण ही मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति सदैव सजग रही है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेकरूपात्मक क्षेत्र मिलता है, उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिए भी।"[3] "कविता की आत्मा भाव है और भावों का परिष्कार प्रकृति के विविध रूपों तथा व्यापारों के साथ सामंजस्य होने पर ही सम्भव है।"[4] इसीलिए काव्य में प्रकृति का चित्रण अनायास ही हो जाता

१. एकनाथी भागवत, १२.५४-५५।
२. अभंगगाथा (आवटे), अभंग, २६१८।
३. चिंतामणि, दूसरा भाग, पृ० ५।
४. सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ५१४।

इसी प्रकार सूरदास के काव्य में शरद आदि ऋतुओं का भी बड़ा ही सुन्दर दृश्य चित्रित हुआ है।

सूर का प्रकृति-वर्णन यद्यपि उद्दीपन रूप में ही हुआ है, तथापि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें वह मनोदशा है जो मानव को अहं की संकुचित परिधि से निकालकर विश्व के पदार्थ मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्राण प्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदान करती है। तभी तो कृष्ण के वियोग में कालिन्दी की ऐसी दशा हो जाती है कि वह विरहिणी गोपियों की उपमान बन जाती है।[1]

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सों भई बिरह जुर जारी।[2]

सूरदास ने अलंकार के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ बहुत ही सुन्दर बन पड़ी हैं। 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाला उनका पद तो अतिशयोक्ति में अपना सानी नहीं रखता। परन्तु उनके अधिकतर उपमान परम्परानुकूल तथा कवि-समय सिद्ध ही हैं। कई स्थानों पर सूरदास ने उपमा और उत्प्रेक्षा लादने की भी भरसक चेष्टा की है जिसके कारण उनकी कल्पना क्लिष्ट भी हो गई है।[3] जैसे 'हरि-कर राजत माखन रोटी' के प्रसंग में 'मनो वराह भूधर-सह पृथ्वी धरी दसनन की कोटी।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास ने भावों के उद्दीपन के लिए ही प्राकृतिक वातावरण उपस्थित किया है। प्राकृतिक दृश्य कवि की भावना और कल्पना को सजग और मूर्त करते हैं। "अतः प्रकृति चित्रण की विविधता उनके काव्य में नहीं मिल सकती। फिर भी उनके चित्रणों में सौन्दर्य प्रियता के प्रचुर प्रमाण हैं।"[4]

सूरदास की ही भाँति विद्यापति ने भी उद्दीपन विभाव में ही वसन्तादि का चित्रण किया है। एक उदाहरण देखिए—

बाल बसन्त तरुन भए धाओल बढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगारए किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मंजरि घन कज्जल अँखितो अंजन लागे।
नव बसंत हितु अनुसर जोवति विद्यापति कवि गावे
राजा सिवसिंघ रूप नरायन सकल कला मन भावे।

मीराबाई राजस्थान की रहने वाली थीं। उनकी लीला क्रीड़ा राजस्थान में ही सम्पन्न हुई थी यद्यपि अन्तिम समय उन्होंने द्वारकाधाम में ही व्यतीत किया था। राजस्थान मरुस्थल है, तप्त बालुकामय अनुर्वर क्षेत्र है, जहाँ वर्षा अति विरल है। इसीलिए वर्षा में पिया की आगमन वार्ता की कल्पना करके मीरा कहती है—

सुनी हौ मैं हरि आवन की आवाज।
महल चढ़ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवें महाराज।

१ सूर और उनका साहित्य डॉ० हरवंशलाल शर्मा पृ० ४२४।
२ सूरसागर (सभा) पद ३८०१।
३ सूर और उनका साहित्य डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ४२४।
४ सूरदास डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ४६८।

दादुर मोर पपइया बोले कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिस बरसै दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, बेग मिलो महाराज॥

वसन्त और होली का वर्णन करते हुए मीरा कहती है—

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे।
बिण करताल, पखावज बाजे, अणहद की झनकार रे॥
बिनिसुर राग छतीसू गावें, रोम-रोम रंग सार रे।
शील सन्तोस की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे॥
उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर बरसत रंग अपार रे।
घट से सब पट खोल दिए हैं लोक लाज सब डार रे॥
होरी खेलि पीव घर आए सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण-कँवल बलिहार रे॥

इस प्रकार मीरा ने भी प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही किया है। वस्तुतः हिन्दी के सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने आराध्य कृष्ण को परमेश्वर मानते हुए भी संयोग और वियोग शृंगार की योजना द्वारा अपने इष्टदेव के अलौकिक रूप को लौकिकता प्रदान की है, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति के प्रत्येक आह्लादकारी परिवर्तन के साथ-साथ उनके हृदयों में उमंग उठी और उनका मानस अपने प्रिय से मिलने के लिए विह्वल हो उठा। मीरा के प्रकृति-वर्णन में कवयित्री की यही मनोदशा व्यक्त हुई है। सूर आदि अष्टछाप के कवियों तथा विद्यापति की यही मनोदशा राधा और गोपियों के मनोभावों में अभिव्यक्त हुई है। इस दृष्टि से मराठी भक्त-कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण कुछ भिन्न-सा रहा है। उन्होंने कृष्ण के रसिक-शिरोमणि रूप को स्वीकार नहीं किया है और इसीलिए माधुर्यभाव की व्यंजना के लिए उन्होंने हिन्दी-कवियों की भाँति राधा और अन्य गोपियों का आश्रय नहीं लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके काव्य में प्रकृति का जहाँ कहीं भी वर्णन हुआ है वह प्रसंगानुसार और स्वाभाविक है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन भी उन्होंने किया है और वह अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है। वास्तव में ये कवि चराचर विश्व में एक हरि को ही देखते है जहाँ प्रकृति का अलग अस्तित्व ही नहीं रहता। ज्ञानेश्वर के बड़े भाई निवृत्तिनाथ कहते है—

हरिवीण न दिसे जनवन आम्हां नित्य तो पूर्णिमा सोळाकळी॥
चन्द्र सूर्य रश्मी न देखो तारांगणें। अवघा हरि होणें हेंचि देवो॥
न देखो हे पृथ्वी आकाश पोकळी, भरलासे गोपाळी दुमदुमीत॥[1]

(सोलह कलाओं के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जन-वन में हमें और कुछ भी नहीं दिखाई देता। हमारे सम्मुख न तो चन्द्र है, न सूर्य, न रश्मि और न तारे। हम तो समस्त पृथ्वी और आकाश में गोपाल को ही व्याप्त देखते है।

मराठी कृष्ण-काव्य में प्रकृति का आश्रय उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों के

१. अभंगाचें क्रमांक, आवटे, श्री ज्ञानेश्वर महाराजांच्या गाथा।

लिए भी लिया गया है। महानुभाव पंथ के सुविख्यात कवि दामोदर पंडित कृष्ण का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इंद्रनीलांची दीप्ती नीलोत्पलांची कांती
एकवटली-तसी सांवळी श्रीमूर्ति मिरवतुसे ॥[1]

(सांवली श्रीमूर्ति ऐसी दिखाई दे रही है मानो इन्द्रनील की दीप्ति तथा नीलकमल की कान्ति ही उसमें आ मिली हो।)

जीव और शिव के मिलन का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं—

घडतां महोदधीसी। गंगा वेगु सांडि जैसी।
कां कामिनी कांतापासी। स्थिर होय (१८ १०८१)

(सागर से मिलते ही जैसे गंगा का प्रवाह शान्त हो जाता है, उसी प्रकार पति से मिलते ही स्त्री स्थिर हो जाती है।)

प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मुरलीवादन के चराचर पर प्रभाव का वर्णन करते हुए एकनाथ कहते हैं—

भुलविले वेणुनादें। वेणु वाजविला गोविंदें ॥
पांगुळलें यमुनाजळ। पक्षी राहिले निश्चळ ॥[2]

(कृष्ण की वंशी के निनाद ने सबको मोहित कर लिया है। यमुना-जल का प्रवाह रुक गया और पक्षी निश्चल हो गए।)

इसी प्रकार निळोबा का कथन है —

वेणु वाजवीत यमुनेच्या तटीं। उभा कान्हया सांवळा जगजेठी ॥

× × ×

पवन निश्चल होऊनिया ठेला। सूर्य अस्तमाना जाऊं विसरला ॥
वत्सें न पिती देहभाव गेला। मुखींचा कवळ गाईमुखींच राहिला ॥[3]

(यमुना के तीर पर सांवले कृष्ण खड़े मुरली बजा रहे हैं। मुरली ध्वनि के कारण पवन शीतल होकर बहने लगा, सूर्य अस्त होना भूल गया, बछड़ों ने मुंह से स्तन छोड़ दिया और गौओं के मुँह का ग्रास मुंह में ही रह गया।)

मराठी के अन्य प्राचीन कवियों की अपेक्षा रुक्मिणी-स्वयंवर के रचयिता महानुभाव कवि नरेन्द्र का प्रकृति की ओर अधिक ध्यान गया है। मुकुंदराज के काव्य में भी प्रकृति के कई वर्णन उपलब्ध हैं पर उनसे भी अधिक प्रकृति-वर्णन नरेन्द्र ने किया है। ये वर्णन बहिर्मुख दृष्टि से न होकर उद्दीपन रूप में ही अधिक हुए हैं। नरेन्द्र का चन्द्रोदय वर्णन सर्वोत्कृष्ट बन पड़ा है। चन्द्रोदय के कारण रुक्मिणी के हृदय में उत्पन्न बेचैनी, चिन्ता तथा विरह-सन्ताप की वृद्धि आदि का कवि ने बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन किया है। इसी प्रकार चान्दनी की शुभ्रता का वर्णन कवि ने बड़ी ही निपुणता से किया है। कवि कहता है—

भू गोलोकासीं मिळरमाची रजनी तैंसोराशि दीसताये चांदिणी
की गगना घातली गवसणी कमल-दलाची

---

१ वत्सहरण, दामोदर पंडित कृत, ओवी २१८।

२ एकनाथांची गाथा अभंग ११६।

३ अभंग गाथा (आवटे) अभंग १५४।

कीं धावा—पृथ्वीयेसां पोकली : कापुराची सोवाळीं
कीं गगन लेइलें कडियाली : मृणालाचीं
कीं श्रीकृष्णाचा देखावया अवतार हरुखें आला क्षीर-सागरु
तैंसा चांदिणेयाचा निडारु : जेथ रत्नें वर्तेचीं
गगन-सरोवरिचे राजहंस : तैसे चांदणेनि दिसती सारस
कीं ते बीनि साधिताय आकास : चंद्र-बिंबाची
चन्द्रिकां चक्रवाकें गवसते : राजहंसा सारिखीं दिसतें
म्हणोनि रात्रीं विघडतें : नोळखेति येकमेकातें
चांदिणेया सारिखा नाहीं लाघवी : जो चन्द्रकांताचे डोंगर लपवी
आंधार-विण आंगीं योकवी : क्षीर-सागरा तें
नक्षेत्रां-सारिखी अंगें गोरीं : तिया कामिनिया भांसळती चन्द्रकरीं
चंद्राचीये राणिवे-भीतरी : जग वेढी वालियेची
बहु बोलता अति-प्रसंगु कथे होइल रस-भंगु
आतां करूं वेगु : म्हणौं विरहोपचारु ।[1]

(आज रात की चाँदनी गोकुल मे शरद् पूर्णिमा की रस-सिद्ध चाँदनी के समान है या आकाश कमल-दलो से आच्छादित हो गया है ? या रिक्त भूलोक मे कर्पूर का गवाक्ष खुल गया है या आकाश मृणालो से भरा हुआ है ? या श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए पुलकित होकर क्षीर सागर आ गया है ? (चन्द्र-प्रकाश रूपी क्षीर-सागर में तारे उद्वेलित रत्नों के समान दिखाई दे रहे हैं।) शुभ्र चाँदनी में विचरण करने वाले सारस राजहंस के समान दिखाई दे रहे है अथवा राजहंसों के समान दिखाई देने वाले सारस चाँदनी से ही बने हुए हैं। चाँदनी में चक्रवाक भी राजहंस के समान दिखाई देते हैं, अत. एक-दूसरे को न पहचान पाने के कारण सारी रात वियोग ही मे कट रही है। किसी भी वस्तु को छिपाकर रखने के लिए अन्धकार की आवश्यकता होती है, परन्तु चन्द्रमा इतना कुशल है कि उसने अपने प्रकाश से ही क्षीर-सागर को छिपा लिया है। (चाँदनी की सफ़ेदी में क्षीर-सागर की सफ़ेदी विलीन हो गई है। नक्षत्रों के समान गौरवर्ण कामिनियों के वदन चन्द्र-किरणों मे अदृश्य हो गए हैं। चन्द्रमा के राज्य में यानी चाँदनी में ऐसा लगता है कि समस्त संसार ने श्वेत वस्त्र धारण कर लिया है।)

सायंकालीन शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

संकोचली कमळें : पक्षिये टाकिती अविसाळें
चक्रवाकें होति व्याकुळें : बीयोगें प्रियाचेनि ।[2]

(कमल संकुचित हो गए और पक्षियो ने अपने नीड़ों मे बसेरा करना आरम्भ कर दिया। चक्रवाक प्रिय के वियोग में व्याकुल हो उठे हैं।)

नरेन्द्र कवि ने नानाविध नैसर्गिक दृश्यों का वर्णन किया है। नरेन्द्र की ही भाँति भास्कर भट्ट बोरीकर नामक महानुभावी कवि ने भी अपने 'शिशुपाल-वध' ग्रन्थ में वसंत,

---

१. नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर', सं० डॉ० वि० भि० कोलते, ओवी ५१०-५१६।
२. रुक्मिणी-स्वयंवर, ओवी ४७६।

कृष्ण और जल क्रीडा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। दामोदर पण्डित के 'वत्सहरण' मे प्रकृति का आलम्बन तथा उद्दीपन रूप मे अत्यन्त मनोहारी चित्रण उपलब्ध है।

मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है अभिव्यक्ति। और अभिव्यक्ति का कारण है भाव। अभिव्यक्ति की अपूर्णता के साथ-साथ मानव मन मे सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि वह अपने चारों ओर सब-कुछ सुन्दर देखना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य अपने भावों को सुन्दरतम रूप में प्रकट करने के लिए लालायित रहता है। जिन साधनों से वह अपने भाव प्रकट करता है वह कला-पक्ष है और जिसे व्यक्त करता है वह है भाव पक्ष। इसी आधार पर काव्य के ये दोनों पक्ष माने गए हैं। साथ ही रस को काव्य की आत्मा माना गया है। वाक्य रसात्मकं काव्यं। मानव-हृदय मे स्थित भावों की संख्या अनंत है। परन्तु उनके विशिष्ट लक्षणों पर विचार करते हुए आचार्यों ने उन्हें तीन श्रेणियों मे विभाजित किया है—इन्द्रियजन्य प्रज्ञात्मक और गुणात्मक। इन्द्रियजन्य भाव वे हैं जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञात्मक भाव वे हैं जो भूत, वर्तमान या भविष्य के अनुभव से इन्द्रियजन्य भावों को उद्दीप्त करते हैं। भावों का उदय किसी स्थूल वस्तु से सम्बंधित होता है। यह वस्तु विभाव कहलाती है। विभाव के दो प्रकार माने जाते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव वे हैं जो मन में किसी चित्र को अंकित करते हैं तथा कल्पना द्वारा उपस्थित होते हैं। उत्पन्न भावों को उद्दीप्त करने वाले भावों को उद्दीपन विभाव कहा गया है।

रस निष्पत्ति, परम्परा निर्वाह तथा मौलिक उद्भावना

गम्भीरता की दृष्टि से भावों को दो भागों में बाँटा गया है—संचारीभाव और स्थायीभाव। संचारीभावों का उदय क्षणिक होता है तथा वे स्थायीभाव को रस स्थिति तक पहुँचाने में सहायक होते हैं तथा उसमे घुल मिल जाते हैं। जो भाव रसास्वादन तक बने रहते हैं तथा संचारीभावों से उद्दीप्त होते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं।

विभावों द्वारा स्थायीभाव के उद्दीप्त होने पर अन्तःस्थित भावों के जो चिह्न-बाह्य आकृति और चेष्टाओं के रूप में प्रकट होते हैं उन्हे अनुभाव कहते हैं। स्थायीभाव, अनुभाव विभाव और संचारीभावों के योग से ही रस की निष्पत्ति होती है। रस काव्य की आत्मा है। बिना रस के काव्य निष्प्राण है। आत्मा आनन्द रूप है। दूसरे शब्दों में, आनन्ददायी तत्व के बिना 'काव्य' की रचना सम्भव नहीं हो सकती। अतः काव्य की उपादेयता के लिए उसमें रस का अस्तित्व आवश्यक है। स्थायीभावों से उद्भूत रस नौ माने गए हैं—शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, भयानक, वीभत्स, वीर, रौद्र और शान्त। संस्कृत के आचार्यों ने 'शृंगार' को रसराज कहा है।

हिन्दी भक्त-कवियों के काव्य मे इन सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है, पर परम्परानुसार उनका विशेष झुकाव 'शृंगार' की ही ओर अधिक रहा है। विद्यापति की समस्त पदावलि शृंगार रस से परिपूर्ण है। शृंगार के अन्तर्गत कवि ने संयोग और वियोग दोनों का बड़े ही सुन्दर रूप से वर्णन किया है। विद्यापति का शृंगार 'उत्तान-शृंगार' की कोटि में आता है।

मीरा ने कान्त-भाव से ही अपने आराध्य गिरिधर की उपासना की है। वह स्वयं गोपी-भाव की प्रतीक है। अतः मीरा के पदो में भी अधिकतर शृंगार के ही दर्शन होते हैं। पर उसका शृंगार सात्विक शृंगार है, उत्तान नहीं। कृष्ण मीरा के पति है, परन्तु साथ ही वे सच्चिदानन्द स्वरूप भी हैं, आनन्द के आगार है। वह उनसे एकरूप हो जाना चाहती है। यही तो मीरा का शृंगार है।

अष्टछाप के कवियों के काव्य का मूल स्रोत भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त में वर्णित हरि-लीलाएँ रही है। भागवत मे शृंगार का विशद् वर्णन मिलता है। परन्तु भागवत-कार शृंगार-वर्णन को अश्लीलता की सीमा पर नही पहुँचने देता। जहाँ कहीं भी वह अतिशयता का अनुभव करने लगता है, वही वह उसे आध्यात्मिकता से रँग देता है। सूर मे भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सूरदास ने शृंगार रस का यथेष्ट वर्णन किया है, पर साथ ही उस पर आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक संकेतों का आवरण डालना भी वे नही भूले है। अष्टछाप के सभी कवियों की रचनाओ मे शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है और साथ ही वात्सल्य का भी। प्राचीन रस-शास्त्रियों ने वात्सल्य को शृंगार के ही अन्तर्गत माना है। सूरदास और परमानन्ददास के काव्य मे वात्सल्य का जैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी परिपाक हुआ है, वैसा अन्य कवियों के काव्य में उपलब्ध नही होता। कुंभनदास के अतिरिक्त अष्ट-छाप के सभी कवियो ने वात्सल्य का वर्णन किया है, परन्तु सूर और परमानन्ददास का वर्णन सर्वोत्कृष्ट है। इनके वर्णनों में वात्सल्य के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों की रचनाएँ समाविष्ट है। शृंगार-रस के परिपाक में भी अन्य कवियों की अपेक्षा सूर की रचनाएँ सर्व-श्रेष्ठ हैं। सूर के बाद नन्ददास, परमानन्ददास और कुंभनदास की रचनाएँ आती हैं। इन कवियों ने राधा और कृष्ण की लीलाओं के अनेक प्रसंगों का मनोहर वर्णन किया है। नन्द-दास और कुंभनदास की रचनाओ में मधुर-रति का प्राधान्य है।

भरतमुनि ने शृंगार रस के व्यापक महत्त्व का वर्णन यह कहकर किया है कि संसार में जो भी पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह सब शृंगार-रस के अन्तर्गत है।[1] अष्टछाप के कवियो का भी शायद यही दृष्टिकोण रहा है। अपनी रचनाओं द्वारा इन कवियो का उद्देश्य श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना का प्रदर्शन करना ही था। नन्ददास ने अपने ग्रन्थ 'रस-मंजरी' में लिखा है—

नमो-नमो आनन्द घन, सुन्दर नन्द कुमार।
रसमय, रसकारन, रसिक, जग जाके आधार॥
रूप, प्रेम, आनन्दरस, जो कुछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनों ताहि॥

आचार्यों ने शृंगार-रस का स्थायीभाव 'रति' माना है। रति का सांगोपांग वर्णन करते हुए नन्ददास कहते हैं—

उचित धाम काम तौ करे। जाते नहीं कवन अनुसरे॥
भूख-प्यास सबै मिट जाय। गुरुजन डर कछु रंचक खाय॥

---

१. 'यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्शृंगारेणोपमीयते'—नाट्यशास्त्र।

मन की गति पिय में इकतार। समुझ गिनी त्रिभि तन की पार ॥
सनक प्रान ओ पिय को पाय। सो बिरियाँ तरन ह्वै आवैं ॥
यदपि विमल गन पावहिं भारे। जो रति रस के मेटनहारे ॥
तदपि न भृकुटी रधक मरकैं। एक हर्याधस रसहूँ गटकैं ॥
स्तम्भ स्वेद पुनि पुलकित अंग। नैनन जल-कन धर स्वर भंग ॥
तन बिवरन, हियकंप जनावै। बीच-बीच मुरझाई आवैं ॥
यह प्रकार जाको मन लहिए। सो यह रस भरी 'रति' कहिए ॥

अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में ऐसी ही 'रति' का वर्णन मिलता है। कृष्णदास का एक पद देखिए—

पौढ़ि रही सुख-सेज छबीली, दिनकर किरन झरोखहि आई ॥
उठि बठे लाल बिलोकि बदन बिधु, निरखत नना रहे लुभाई ॥
अधखुले पलक ललन-मुख चितवत, मृदु मुसकात, हँसि लेत जभाई ॥
कृष्णदास प्रभु गिरिधर नागर, लटकि-लटकि हँसि कंठ लगाई ॥

अष्टछाप के कवियों ने संयोग शृंगार और वियोग-शृंगार, दोनों का पर्याप्त वर्णन किया है तथा शृंगार रस विषयक विभिन्न प्रसंगों के बड़े ही चित्ताकर्षक चित्र अंकित किए हैं। इन कवियों ने राधा और कृष्ण के पारस्परिक अनुराग के क्रमिक विकास, उनके संयोग और वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान, उपालम्भ मिलन आदि का बड़ी ही कुशलता से चित्रण किया है। इन वर्णनों में नायिका भेद की अधिकांश सामग्री आ गई है।

अष्टछाप के कवियों ने स्वकीया भक्ति को ही प्रश्रय दिया है और इसीलिए उनकी राधा स्वकीया है। पर नन्ददास ने 'रूपमंजरी' में परकीया भक्ति का भी महत्त्व दिया है। वे कहते हैं—

रस में जो उपपति रस आहीं।
रस की अवधि, कहत कवि ताहीं ॥

शृंगार से भी अधिक सूर के काव्य में वात्सल्य रस कूट-कूटकर भरा हुआ है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—

'वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।'[१]

सूर साहित्य में शृंगार और वात्सल्य के साथ साथ अन्य रसों का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। परन्तु वात्सल्य रस ही उनकी अपनी विशेषता है। कृष्ण के बाल-रूप का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—

बलि गई बाल रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन झुन नचावति नन्द-नारि।

[१] सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६७।

कबहुँ हरि कौं लाई अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।
कबहुँ हृदय लगाइ हितकरि, लेति अंचल ढारि।
कबहुँ हरिकौं चितै चूमति, कबहु गावति गारि।
कबहुँ लै पाछे दुरावति, ह्याँ नहीं बनवारि।
कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ-लोन उतारि।
सूर-सूर नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।[१]

वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में उपलब्ध है।

हिन्दी ही की भाँति रस-शास्त्र की इस परम्परा का पालन मराठी के कृष्ण-भक्ति-काव्य मे भी हुआ है। रस को ज्ञानेश्वर ने अन्तःकरण की द्रवावस्था माना है।[२] हेमचन्द्र ने भी कहा है कि सम्भोग-श्रृंगार-रस तथा विशेषतः शान्त, करुण तथा विप्रलंभ-श्रृंगार मे माधुर्य के कारण चित्त द्रवावस्था को प्राप्त होता है।[३] एक दूसरी ओवी में ज्ञानेश्वर शान्त-रस को काव्य की आत्मा बतलाते हैं। वे कहते है—

जे साहित्य आणि शांती। हे रेखा दिसे बोलती॥
जैसी लावण्यगुणयुवती। आणि पतिव्रता॥[४]

(जिस प्रकार कोई युवती सौंदर्य-गुण-युक्त होती है और साथ ही पतिव्रता भी होती है, उसी प्रकार भाषण-शैली में साहित्य और शान्त रस है।) उपर्युक्त ओवी से सूचित होता है कि अनेक रसों का अपने काव्य में परिपाक करना संत ज्ञानेश्वर को अभीप्ट था। ज्ञानेश्वरी का ग्यारहवाँ अध्याय रसों का प्रयाग-तीर्थ माना जाता है। इस अध्याय में मुख्य रस शान्त-रस होते हुए भी अद्‌भुत तथा अन्य रसो का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है। शान्त और अद्‌भुत रसों की धारा मे गीता-सरस्वती गुप्त रूप से विद्यमान रहने के कारण स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर ने इस अध्याय को त्रिवेणी-संगम कहा है।[५] ज्ञानेश्वरी का आरम्भ वीर रस से हुआ है तथा उसमें रौद्र तथा भयानक के साथ-साथ करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।[६] ग्यारहवें अध्याय में विश्व-रूप दर्शन का प्रसंग करुण और अद्‌भुत-रस प्रधान है, परन्तु बीच-बीच में भयानक रस का भी दर्शन होता है। ज्ञानेश्वरी मे श्रृंगार-रस का स्वतन्त्र रूप से परिपाक नही हुआ है, पर रसिको को प्रसन्न रखने के लिए कवि ने दृष्टान्तो का आश्रय लिया है। जन्म, जरा आदि वर्णनों में बीभत्स रस का विधान है। चौथे अध्याय मे हास्य-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी में सभी रसों का परिपाक होते हुए भी ज्ञानेश्वरी शान्त रस की ही गंगा है।

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ७३६।
२. अर्थु बोलाची वाट न पाहे। तेथ अभिप्रायोचि अभिप्रायातें विये।
भावाचा फुल्लौरा होतु जाये। मतीवरि॥
म्हणोनि संवादाचा सुवा ओढले। तरि हृदयाकाश सारस्वतें ओलें।
श्रोता दुश्चियता तरि वातुले। गाण्डला रसु॥—ज्ञानेश्वरी ६.२९ व २८।
३. काव्यानुशासन, ४.२-३।
४. ज्ञानेश्वरी ४.२१५।
५. श्री ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृ० २०२।
६. वही।

नरेन्द्र कवि के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भी सब रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। नरेन्द्र ने संयोग और वियोग, दोनों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। रुक्मिणी-स्वयंवर का शृंगार स्वकीया तत्त्व पर आधारित है, क्योंकि रुक्मिणी कृष्ण की पत्नी है। रुक्मिणी का विरहावस्था का वर्णन तो बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

नरेन्द्र कवि की ही भाँति भास्कर भट्ट के 'शिशुपाल-वध' में कृष्ण का रुक्मिणी के प्रसाद में आगमन उपवन की वसन्त शोभा, रुक्मिणी की विरहावस्था आदि का लेकर शृंगार का जो वर्णन हुआ है, वह अद्वितीय है। रुक्मिणी का रस-युक्त विरह-वर्णन कवि ने आठ सौ पंक्तियों में किया है। शृंगार रस के इस वर्णन में भी कवि का ध्येय मोक्ष प्राप्ति ही था। अपने ग्रन्थ के विषय में कवि स्वयं कहता है—

हा शिशुपालवध। आइकता सुटे भवबन्धु।

अर्थात्—इस 'शिशुपाल वध' को सुनते ही भव का बन्धन टूट जाता है।

कवि का यह उद्देश्य होते हुए भी ग्रन्थ में शृंगार की प्रधानता होने के कारण भास्कराचार्य के गुरु-बन्धु ने उसे निवृत्ति-मार्ग के योग्य नहीं माना।

महदम्बा के 'धवळे' भक्ति-रस प्रधान है तथा एल्हण का 'अष्ट विवाह' शृंगार रस प्रधान। इस ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्ण के आठ स्वयंवरों का वर्णन है तथा अन्तिम अध्याय में वसन्त क्रीडा का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वसन्त-क्रीडा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तयां कामिनीरूपा भुलला। निरहा मलयानल दिसे मातला
रजे न संभाळिलो भुलला। शौंवे परिमळे फुलांचा।

(उन कामिनियों के रूप का स्पर्श करके मलयानिल मतवाला हो उठा है और पागल सा बह रहा है। फूलों का परिमल भी उनके शरीर में दाह उत्पन्न कर रहा है।)

× × ×

की तारुण्यजळें भर्ती भरितां, विकार तरंगी हेलावे देतां।
तियां सौन्दर्याचियां सरितां। लोटल्या सुखसमुद्रावरी।

(उसकी सौन्दर्य रूपी सरिता में यौवन रूपी जल लबालब भरा होने के कारण उस पर भाव-ऊर्मियाँ उठकर सुख रूपी समुद्र की ओर उद्वेलित हो रही हैं।)

दामोदर पंडित का 'वत्सहरण' यद्यपि भक्ति-रस प्रधान काव्य है, फिर भी उसमें सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। श्रीकृष्ण चरित में समाविष्ट नौ रसों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

जेयाचा बहुरूप खेळु खेळतां। योगीए परमसिद्धी पावतां
तापत्रय निवारतां। सकळ जनाचे
जें देखें रास क्रुडा खेळिनला। तें मुर्तु शृंगारु जाला
गौळणी विनोदें नाचविला। तें हॅस्य रसु
यशोदा मेळविला। तें करुणारसु उटेवला
विखारु कालिया जिंतला। तें रौद्रु जाला

माते श्रीमुखें दाखविलें । तें अद्‌भुतारूप जालें
विश्वरूप प्रकटीलें । तें भयानकु
दैत्यांकरी संहारु । तें विभछु आणिक विरु
सांतु तो निरंतरु । तैयचि असे
ऐसें नवरस नाटक । देगो खेले जनमोहक
निज रूप ते ब्रह्मादिका । ठाउकें न्हवे ।[१]

(भावार्थ है—भगवान् के रास में श्रृंगार-रस, गोपियों को नचाने में हास्य-रस, यशोदा को डराने में करुण-रस, कालिय-मर्दन में रौद्र-रस, माता को दर्शन देने में अद्‌भुत-रस, विश्व-रूप दर्शन में भयानक-रस, दैत्यों के संहार में वीभत्स-रस तथा वीर-रस और भगवान् स्वयं शान्त रूप होने के कारण शान्त-रस की स्थिति है ।)

एकनाथ के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' मे श्रृंगार-रस का सुन्दर परिपाक होते हुए भी प्रधान रस शान्त ही है । अपने ग्रन्थ के विषय में कवि का अपना कथन है—

ये ग्रन्थीचे निरूपण । जिवा शिवा होतसे लग्न ।
अर्थ पाहता सावधान समाधान सात्विकां ।

(इस ग्रन्थ में परमात्मा और आत्मा के विवाह का निरूपण है । इसका अर्थ सावधानी से समझना चाहिए । इससे सात्विक जनों का समाधान होगा ।)

इस ग्रन्थ के विषय मे मराठी साहित्य के इतिहासकार पांगारकर कहते हैं—'भावुकों को कृष्ण-कथा में आनन्द आता है, जीव और शिव के ऐक्य का प्रतिपादक सिद्धान्त ज्ञानी और दार्शनिकों के लिए आकर्षक है और विवाह, वसन्त-क्रीड़ा आदि के मनोहर वर्णनों में काव्य-रसिकों को श्रृंगार का आस्वाद मिलता है ।[२] एकनाथ की ही भांति तुकाराम की वाणी से भी शान्त रस की ही वर्षा हुई है, क्योंकि तुकाराम ने सर्वत्र एक पांडुरंग को ही देखा है—

पांडुरंग ध्यानी, पांडुरंग मनी । जागृति स्वप्नीं । पांडुरंग ।

(पांडुरंग का ही ध्यान है । पांडुरंग ही मन में है । जागृत अवस्था और स्वप्नावस्था दोनों में एक पांडुरंग ही है ।)

तुकाराम के समकालीन मुक्तेश्वर का काव्य रचना-शैली, शब्दावली, अलंकार आदि कलात्मक गुणों से ओतप्रोत है, क्योंकि मुक्तेश्वर की दृष्टि और सृष्टि एक भक्त की न होकर कवि की है । मुक्तेश्वर का काव्य श्रृंगार-रस-प्रधान है । उन्होंने महाभारत का मराठी मे अनुवाद किया है, पर उसे पढ़ते ही पाठक को 'काव्य' पढ़ने का आनन्द उपलब्ध होता है । आदि-पर्व में शर्मिष्ठा का रूप-वर्णन श्रृंगार-रस-निरूपण में कवि की कुशलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

जैसी सुवर्ण चंपक कळी, कीं वोतिली मन्मथ पुतळी ।
अत्यन्त तारुण्य भरें लवली । परी दिसत सुकुमार ।
विराजे राजवदन चन्द्रिका । भाळीं रेखिला कस्तूरी टिका ।
आकर्ण पर्यन्त कज्जल रेखा । नयन तेणें शोभती ।

---

१. ब्रह्मावरण, सं० वि० मि० कोलते, पृ० १२-१३ ।

२. मराठी वाङ्‌मयाचा इतिहास, पांगारकर, दूसरा खण्ड, पृ० २६५ ।

दृढ़ बिल्व पीन स्तन । वरी मुक्तजळी विराजमान ।
हृदयी पदक देदीप्यमान । तेज फाके हृदयाजी ।
करि नागक शुण्डादण्ड । तैसे सरल भुजदण्ड ।
कंकणें रुणझुणती प्रचण्ड । मन्माते चेतवाया ।

(जैसे वह चम्पा की कली हो या मन्मथ द्वारा ढाली गई पुत्तलिका हो । वह तारुण्य के भार से लदी है, पर सुकुमारता से लता की तरह विनत है । उसका श्रीमुख चन्द्रिका की तरह देदीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्दी शोभायमान है । आकर्ण कज्जल रेखा से उसके नेत्र अत्यन्त शोभायमान लग रहे हैं । बिल्व फल के समान उसके स्तन कठोर और सुडौल हैं और उन पर मोतियों की माला सुशोभित हो रही है । हृदय पर पदक देदीप्यमान हो रहा है । शावक की सूंड के समान उसके बाहु सुडौल हैं । कंकणों की रुनझुन रुनझुन की प्रचण्ड ध्वनि मदन को चेतावनी दे रही है ।

शृंगार रस के दूसरे यशस्वी कवि वामन पंडित माने जाते हैं । वामन पंडित का 'राधाविलास' या 'कात्यायनी व्रत' उत्तान शृंगार रसात्मक मधुर काव्य है । 'कात्यायनी व्रत' में गोपियों के स्नान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

गोपनितम्बिनींची वदनें जलिं पद्मवनें अति शोभति गौरीं ।
उदक बिंदु मरंद तयावरी षट्पदसे कुटिलालक भारी ।
वेणुनिर्या उदयाद्रि वरी शशी । उगवतीकुमुदें जलिं गौरी ।
कृष्णकदम्ब तरुवरि जोंअनि उत्पल लोचनी त्या व्रजनारी ।

(यमुना जल में गोपिकाओं के मुख इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं जैसे सरोवर में कमल पुष्प हों । उनके मुख पर पानी की बूंदें मकरन्द बिन्दुओं के समान हैं और उनकी कुटिल केशराशि उन मकरन्द बिन्दुओं के चारों ओर भ्रमरों की भांति मँडरा रही है । उदयाचल पर चन्द्रमा को उदित होता हुआ देखकर जिस प्रकार पानी में कुमुदिनी समूह विकसित होता है, उसी प्रकार कदम्ब वृक्ष पर श्रीकृष्ण को देखकर कमल-लोचनी व्रजांगनाओं के मुख मण्डल विहंसित हो रहे हैं ।)

'रासक्रीडा' अथवा 'गोपवधु विलास' में शृंगार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं आत्म विश्वास से कहता है—

ह्याहि उपरी काव्य नाटक मिषें शृंगार जो पाहणें
या श्रीकृष्ण कथामृतीं न रमणें धिक् धिक् तयाचें जिणें ।

(श्रीकृष्ण-कथामृत रूपी मेरा काव्य पढ़कर भी जो शृंगार रस के लिए अन्य काव्य-नाटकों का आश्रय लेता है, उस पर धिक्कार है ।)

अपने काव्य में शृंगार की चरम-सीमा का विधान करके भी कवि पाठक को शृंगार रस से सावधान करना नहीं भूला है । वह कहता है—

शृंगारामृत हेंचि घ्या त्यजुनियां दुर्वासना कामना ।

(शृंगारामृत का ग्रहण दुर्वासना और कामना को छोड़कर ही करो ।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-गुणों और शृंगारिक वर्णनों की ओर अधिक थी तथा वह कृष्ण-लीला के वर्णनों में प्रकट हुई । परन्तु

प्राचीन कृष्ण-चरित की परम्परा, सन्त-काव्य की भावभूमि और तत्कालीन राष्ट्रीय भावना के कारण उनके शृंगारिक वर्णनों में भी आध्यात्म का ही बार-बार दर्शन होता है। और इसका मुख्य कारण यही है कि रसों के परिपाक में परम्परा का निर्वाह करते हुए भी मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने शान्त-रस को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। परन्तु हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों का इस दिशा में कोई निजी दृष्टिकोण नहीं दिखाई देता। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रस-परम्परा के अन्तर्गत शृंगार का परिपाक करते समय उनकी दृष्टि शृंगार की ओर कदापि नहीं थी। उनका हृदय तो सर्वदा अपने आराध्य के प्रति अटूट भक्ति-भावना से ओत-प्रोत था और इसीलिए उनके शृंगारिक वर्णनों में भक्ति की अमिट छाप दृष्टिगत होती है।

रूपगोस्वामी ने शृंगार को भक्ति के अन्तर्गत माना है तथा 'कृष्णरति' को भक्ति-रस का स्थायीभाव माना है[1] तथा उसके अनेक भेद-उपभेद भी किये हैं। 'मधुर-रस' को रूपगोस्वामी ने निवृत्त लोगों के लिए उपयोगी तथा दुरुह बताया है। इसके आलम्बन कृष्ण तथा कृष्ण-प्रिया हैं। उद्दीपन मुरली निस्वनादि, अनुभाव नयनकोण से देखना और स्मित आदि व्यभिचारी आलस्य, उग्रता के अतिरिक्त अन्य सब तथा स्थायी मधुरा रति है। विप्रलम्भ तथा सम्भोग नाम से इसके दो भेद होते हैं तथा विप्रलम्भ के भी पूर्वराग, मान, प्रवास आदि अनेक भेद हो सकते हैं। स्पष्ट है कि मधुर-रस शृंगार-रस का ही भक्तिपरक नाम है।[2] डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित कहते हैं—"रूपगोस्वामी का कथन है कि विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य तथा प्रवास नामक चार भेद किये गए हैं। पूर्वराग के अन्तर्गत दर्शन, श्रवण तथा उनके भेदों का रूप-वर्णन किया गया है। साथ ही रतिजन्म के हेतु अभियोगादि पूर्वराग में भी कारण-स्वरूप माने जाते हैं। वह भी प्रौढ़, समंजस तथा साधारण नाम से तीन प्रकार का होता है। समर्थ रति को प्रौढ़ कहते हैं, जिसमे लालसा आदि मरण तक की दशाएँ आ जाती हैं।"[3]

सम्भव है कि अपने शृंगार-रस-परिपाक में कृष्ण-भक्त कवियों की यही विशिष्ट दृष्टि रही हो। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में स्वीकार न करके उसे भाव के रूप में ही स्वीकार किया है। प्राचीन और अर्वाचीन मराठी-लेखक भी भक्ति-रस को स्वीकार नहीं करते। प्रो० वि० परांजपे भक्ति को शान्त में समाविष्ट मानते है और प्रो० अळतेकर शृंगार मे।[4] परन्तु डॉ० वाटवे ने मानसशास्त्र का आश्रय लेकर भक्ति-रस का समर्थन किया है।

भक्ति-रस को लेकर आधुनिक विद्वानों की चाहे जो धारणाएं रही हों, इतना निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों का अभीष्ट सामाजिक में शृंगार-रस का उद्रेक करना न होकर भक्ति-भाव उत्पन्न करना ही था।

---

१. रस-सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण- डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २७१-७२।
२. वही, पृ० २७६।
३. रस-सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण- डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २७६।
४. रस-विमर्श, डॉ० वाटवे, पृ० २६२।

अध्याय–५

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का साम्य और वैषम्य : कला-पक्ष

काव्य का अंतरंग उसका भाव-पक्ष और उसका बहिरंग कला-पक्ष माना जाता है। कला-पक्ष का कार्य काव्य के अंतरंग को समुचित रूप और अभिव्यक्ति देना होता है। जिन साधनों से काव्य के अंतरंग को रूप अथवा अभिव्यक्ति मिलती है, उनमें से प्रमुख हैं भाषा प्रयोग, अलंकार-योजना तथा छन्द विधान।

भाषा प्रयोग तथा शब्द-योजना

काव्य रचना में शब्द-योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शास्त्रीय दृष्टि से अभिव्यंजना के इस तत्त्व का अन्तर्भाव वृत्तियों, अनुप्रास तथा वर्ण-विन्यास-वक्रता में हो जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने वर्ण-योजना का निर्देश किया है तथा आदर्श वर्ण-योजना के कतिपय मापदण्ड बनाए हैं। इन मापदण्डों के अनुसार वर्ण-योजना का प्रस्तुत विषय के अनुकूल होना नितान्त आवश्यक है। प्रसाद गुण की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य माना जाता है। वर्ण-योजना में आग्रह की अति तथा असुन्दर वर्णों का प्रयोग निषिद्ध माना जाता है।

इन मानदण्डों को लेकर मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना पर विचार करने से पहले यह देखना आवश्यक है कि उनके पूर्व कला-सौष्ठव का कोई ऐसा ठोस आधार विद्यमान था या नहीं, जिसका आश्रय इन कवियों ने लिया हो। सूर के काव्य-सौष्ठव पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं, यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के शोध के फलस्वरूप सूरदास के समय से पहले का ब्रजभाषा-काव्य प्रकाश में आया है। इस शोध के आधार पर सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य में गीति-काव्य की

१ सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल पृ० १५८।

मौखिक परम्परा स्थापित की जा सकती है तथा व्रजभाषा का अस्तित्व भी माना जा सकता है, परन्तु उसमें कला-सौष्ठव का कोई भी ऐसा ठोस आधार नहीं मिलता, जिससे यह कहा जा सके कि सूरदास के पदों की प्रगल्भता और काव्यागपूर्णता का कोई पूर्ण आधार हिन्दी-जगत् में विद्यमान था। डॉ० सावित्री सिन्हा के शब्दों में "कला के क्षेत्र में नये मार्गों का उद्घाटन सूरदास, नन्ददास और उनके समकालीन भक्तों ने ही किया। उनकी कला-चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ था, कला के पुनरुत्थान-युग में उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होकर विकसित हुई। उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह पूर्ण अविकसित थी। भाव, भाषा, शैली, किसी भी दृष्टि से मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों पर उनका ऋण नहीं स्वीकार किया जा सकता।"[1] यदि डॉ० सावित्री सिन्हा की धारणा सही मान ली जाए तो भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अष्टछाप के कवियों के पूर्व व्रजभाषा में मौखिक गीति-काव्य अस्तित्व में था और वह संगीत योग्य होने के कारण कुछ समय से कण्ठ-काव्य के रूप में प्रवाहित था। अतः अष्टछाप के कवियों को चाहे उसके शिल्प में निखार लाना पड़ा हो, परन्तु उसका कलेवर उनके लिए चिर-परिचित था।

मराठी में वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत रही है। संत ज्ञानेश्वर के प्रादुर्भाव के पूर्व महाराष्ट्र में संस्कृत के प्रति लोगों का आदर कम होने लगा था और उसका स्थान प्राकृत ने ले लिया था। संत ज्ञानेश्वर के पहले महानुभाव पंथ के प्रणेता स्वामी चक्रधर ने धर्म-प्रसार के लिए मराठी का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु उनके वचन लिपिबद्ध न होने के कारण सर्व-साधारण की पहुँच के बाहर थे। संत ज्ञानेश्वर ने इस वस्तुस्थिति को समझा और 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के लिए लोक-भाषा मराठी को चुना। यह प्रयास सर्वथा नवीन होने के कारण संत ज्ञानेश्वर को ही भाषा का स्वरूप निर्धारित करने तथा उसे शिल्पबद्ध करने का दुहरा कार्य करना पड़ा। यह कार्य ज्ञानेश्वर ने अत्यन्त सुचारु रूप से किया। भाषा-प्रयोग की दिशा में यह प्रथम प्रयास होते हुए भी संत ज्ञानेश्वर ने जिस काव्य-चातुर्य का परिचय दिया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। ज्ञानेश्वर के भावानुकूल शब्द-चयन के विषय में श्री न० र० फाटक लिखते हैं—"भावानुकूल शब्द-चयन काव्य-कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। ज्ञानेश्वरी में इस अंग के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। ऐसा दिखाई देता है कि प्रसंगानुकूल, कर्णकटुताहीन शब्दों के चयन का ज्ञानेश्वर ने विशेष ध्यान रखा है।...ज्ञानेश्वर ने अपने प्रतिपादन के लिए एक ही अर्थ के अनेक शब्दों का बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है।[2] वे आगे कहते हैं—"गीता में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों की ज्ञानेश्वर ने व्याख्या की है।"[3] 'अहिंसा' शब्द की व्याख्या करते हुए ज्ञानेश्वर लिखते हैं—

आणि जगाचिया सुखोद्देशें। शरीरवाचामानसें।
राहाटणें तें अहिंसे। रूप जाण॥[4]

---

1. व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० 17।
2. श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृ० 177-78।
3. वही, पृ० 183।
4. ज्ञानेश्वरी, अ० 13, ओवी 214।

(और संसार के सुख उद्देश्य के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा खपते रहना ही अहिंसा है।)

संत ज्ञानेश्वर की दूसरी विशेषता यह है कि वे गहन-से-गहन विषय को अत्यन्त सरल शब्दों में सुबोध बनाकर पाठक के सम्मुख रखते हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुणों का मणि-कांचन योग हुआ है। उन्होंने सुडौल शब्द, अर्थ के योग्य पद-शैली, नाद माधुर्य आदि की ओर विशेष ध्यान दिया है तथा पारमार्थिक सत्य की प्रतीति कराने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए हैं। किसी महत्त्वपूर्ण बात को समझाने के लिए कहीं-कहीं उन्होंने क्रम से सात-आठ दृष्टान्त भी दिए हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य-सौष्ठव की चर्चा करते हुए प्रो० पटवर्धन कहते हैं—

Unparalled in Marathi literature Jnaneshvari is so exquisite, so beautiful so highly poetic in its metaphors and comparisons similes and anological illustrations so perspicuous and lucid in style so lofty in its flights so sublime in tone so melodious in word music so original in its concepts so pure in taste that notwithstanding the profundity the recondite nature of the subject and the inevitable limitations attendant upon the circumstance that the author s main object was to make the original intelligible rather than add anything new, the reader is simply fascinated floats rapturously on the crest of the flow and is lost in the cadence of rhythm and the sweet insinuating harmonies till all its thanks giving and thought is not ।[१]

संत ज्ञानेश्वर जैसा वाग्वैभव संत एकनाथ के काव्य में नहीं दिखाई देता, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी काव्य-सम्पदा अमूल्य नहीं है। एकनाथ ने कवित्व की अपेक्षा सुगम शब्दों में भागवत का अर्थ समझाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। बुद्धि का चमत्कार एकनाथी भागवत में नहीं दिखाई देता, परन्तु वेदान्त जैसा गहन विषय सरल शब्दों में समझाना एकनाथ का ही काम है और वह उन्होंने अत्यन्त सफलता से किया है। संत तुलसीदास की तरह उनका काव्य भी विविध है। पंडित, वेदान्ती, भावुक, मुमुक्षु, अज्ञानी, रसिक आदि अपनी-अपनी रुचि का काव्य एकनाथी भागवत में सुलभता से पा सकते हैं। काव्य विषयक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए एकनाथ कहते हैं—

प्रकाट न करावा ग्रंथ ग्रंथीं बोलावा मुख्यार्थ
पदीं दावावा परमार्थ हा निजस्वार्थ कवित्वाचा।[२]

(ग्रंथ बहुत बड़ा न हो। उसमें मुख्यार्थ का ही प्रतिपादन हो। पदों में परमार्थ समाविष्ट हो। इसीमें कवित्व चरितार्थ होता है।)

संत एकनाथ की ही भाँति सन्त तुकाराम और सन्त नामदेव की भाषा शैली भी सुबोध एवं सरल है। गूढार्थ की अभिव्यंजना के लिए कई स्थानों पर उन्होंने सुन्दर रूपकों का भी प्रयोग किया है। अपनी भाषा को जन-सुलभ बनाने के लिए इन कवियों ने ऐसे अरबी और फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है जो उस समय जनता में रूढ़ हो गए थे। एकनाथ के 'भारूड' नामक छंद प्रकार में ऐसे कई शब्द आ गए हैं। मराठी भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता होने के कारण मराठी कृष्ण काव्य में संस्कृत की तत्सम और तद्भव दोनों शब्दावलियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जो भाषा की विशेषता को देखते हुए स्वाभाविक ही है।

१ मिस्टिसिज्म ऑफ़ महाराष्ट्र, प्रो० रा० द० रानडे, पृ० २० से उद्धृत।
२ नाथाचा भागवतधर्म, डॉ० श्रीधर कुलकर्णी, पृ० १२४।

अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सरल शब्दों का प्रयोग संत ज्ञानेश्वर की विशेषता रही है। परन्तु अनेक स्थानों पर उन्होंने संस्कृत के कठिन शब्दों का तथा संस्कृत-मराठी के सामाजिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए—

ऐसें कलुषकरिकेसरी। त्रिताप तिमिरतमारी।
श्रीवरवरी नरहरी। बोलिले तेणें ॥[1]

संत ज्ञानेश्वर की सुबोध व्याख्या-पद्धति का दर्शन निम्नोक्त ओवी से हो सकता है—

एथ वडिल जें जें करिती। तया नाम धर्म ठेविती।
तेचि येर अनुष्ठिती। सामान्य सकल ॥[2]

(यहाँ जो कुछ भी बड़े आदमी करते हैं उसे धर्म समझकर सामान्य जनता उसका पालन करती है।)

यह अभंग गीता के तृतीय अध्याय के इक्कीसवें श्लोक का अनुवाद है, जो इस प्रकार है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

'रुक्मिणी-स्वयंवर' के रचयिता नरेन्द्र कवि ने संगीत और वास्तुकला से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे स्वर, श्रुति, ताल, प्रबंध, वोड्व, ग्राम, जाति, मूर्च्छना, राग, रागांग, उपांग, देशांग, भाषांग, ध्रुपद, ध्रुपदांग, अभंग, सालांग, खांब, गवाक्ष, खण्डा, कवाड, दाट, भीतभंग, चांदोवा, दारसंका, दारवंठा, उंबरा आदि। इसके अतिरिक्त लहरों के प्रतिशब्द-सम्बन्धी निर्झरों तथा वृक्ष एवं वनस्पति के नाम-सम्बन्धी अनेक शब्दों का प्रयोग नरेन्द्र ने किया है। अष्टछाप के कवियों की ही भाँति नरेन्द्र कवि ने भी तत्सम, तद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से कुछ शब्द हैं—

गण, ईश्वर, सिद्धि, विद्या, मनोरथ, कवि, दीपक, साहित्य, सारस्वत, रस, उसग, हियें, खेव, दिठी, मियाँ, माथा, विसांवा, राउल, भाखा, बीज, चाँद आदि।

नरेन्द्र के काव्य में कन्नड़ और तेलुगु के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं—

कन्नड़—परी, कुसरी, चोखाल, मिरविती, मातु, किडाल, मीड, ओलगे, गुढी, चवी, पिली, पाकल, पोट, पड्डड, वोवरी, कडे वाप, दाटी, वोडवली, नातुडें, पोली, वोर्मे, सरी, कैवार, हुडा, परियें; तथा

तेलुगु—उब, उबारा आदि।

दामोदर पंडित ने नरेन्द्र की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, जैसे निरभिमान, निर्दालिन, पाखांड, कासिपु, अमासु, ईस्वर, जिव, जिवित, फिटक दिप्ती, दिघुं, लिला, बिरु, क्षिर, विणा, सौंदर, नौतन, श्रीष्टि, चलण, वलण, सयण, नयण, पद्मिणि, दसन, देस, पसु आदि।

उपर्युक्त कवियों की ही भाँति संत एकनाथ, संत तुकाराम तथा संत नामदेव ने भी

---

१. ज्ञानेश्वरी, अभंग, ४२३।
२. वही, अभंग, १५८।

तत्सम, तद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इन शब्दों की विस्तृत सूची देना आवश्यक नहीं है।

ब्रजभाषा के विकास तथा रूप निर्माण में अष्टछाप के कवियों का विशेष हाथ रहा है। उन्होंने तत्सम, तद्भव और देशज तीनों प्रकार के शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग किया है। "तत्सम शब्दों का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा कल्पना प्रधान अप्रस्तुत योजनाओं के चमत्कारवादी स्थलों पर किया है। लीला प्रधान अनुभूत्यात्मक और विवरणात्मक स्थलों में प्रधानता तद्भव शब्दों की है और विदेशी शब्दों का पुट प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है, परन्तु उन पर ब्रज भाषा का रंग इस प्रकार चढ़ाया गया है कि उनका विदेशीपन प्रायः बिलकुल छिप गया है।"[१] तत्सम शब्दों के प्रयोग का उदाहरण है—

रूप गंध रस शब्द (स्पर्श) जे पंच विषय वर।
महाभूत पुनि पंच पावक पानी अम्बर धर॥
दस इन्द्रिय अरु अहंकार महत्तत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया कर विकास कहें परम हंस गन॥
जागृति स्वप्न सुषुप्ति धाम पर-ब्रह्म प्रकास।
इन्द्रिय गन मन प्रान इनहिं परमातम भास॥[२]

कल्पना प्रधान स्थल में तत्सम शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पद से देखा जा सकता है—

कमल मूरति मैं जब निहारी।
खंजन कमल कुरंग कोटि सत ताहि छिनु वारे जू वारी।
विद्रुम अरु बन्धूक बिम्ब सत, कोटि त्याग करि जिय में विचारी।
वारयो दामिनी कुन्द कोटि सत दूरि किये रचि गच टारी।
तिल प्रसून सत कोटि, मधुप सत कोटि, हीन परे मन मारी।
धनुष कोटि सत मदन कोटि सत कोटि चन्द न्यौछावर उतारी॥[३]

अष्टछाप के कवियों ने तद्भव शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने अनुभूत्यात्मक प्रतिपादन के लिए ही किया है। विभिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ तद्भव शब्द हैं—

ललचानि, साँकरी, चंद, परधनी, झरोखा, काछनी, अचरज, आग, गाजन, दीठि, हिय, बीजु पाहन, पावस, कोप दावारस, गहन, पाती, आस, सवार, तिहार माती, आरति, न्यौछावर, पहेली, कसौटी, ठगौरी तूल करनी, हर्ष, साँझ, अँधियारी, सोहना, मोहना, सगुन, परस, टेर, धार, बौर, अँचरा, बाढ़, टेव, गहि पुन, राजन, बारति, निहारत राजा, सुगन्ध, अँगुरी, उमगि, सिंघासन, काम, सुहाग।

विदेशी प्रयुक्त शब्द हैं—

महमान, मुसाहिब कुलफ लहरी, दलाली, सरदार, ताज, बेशरम दाग,

---

१ ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० ६० ।
२ श्रीकृष्ण सिद्धान्त व्याख्याया, पृ० ३८, नन्ददास ग्रन्थावली नागरीप्रचारिणी ।
३ चतुर्भुजदास वि० वि० कांकरौली, पृ० १०३ ।

जमानत, गुलाम, कसब, अमीनी, मुजरा, खवास इत्यादि ।

सूरदास की भाषा के विषय में डॉ० प्रेमनारायण टंडन कहते है—"अरबी-फ़ारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तर भारत मे सामान्य बोल-चाल की भाषा में प्रचलित हो गए थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन न करने वाले व्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन कवियों ने भी इनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषा को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ हो सके।"[1]

सूर की शब्द-योजना भाषा मे संगीत और लय का समावेश करने तथा उसे भावानुकूल बनाने के लिए ही हुई है। वह सहज ही पद मे निहित अर्थ को साकार रूप प्रदान करने में सहायक होती है। नृत्य की मुद्राओ और घुंघरू की छमछम का एक उदाहरण देखिए—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत ।
मुकुट लटकनि भृकुटि-मटकनि, नारि मन सुख देत ।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन ।
लोल कुण्डल गंड मण्डल, चपल नैननि सैन ।
स्याम की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि ।[2]
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम-गुन कर पोहि ।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास ने वर्ण-योजना का प्रयोग साधन रूप मे ही किया है। परमानन्ददासजी ने काव्य के बाह्य विधान की ओर विशेष ध्यान नही दिया है, फिर भी उनकी वर्ण-योजना प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल ही होती है। इस दृष्टि से परमानन्ददासजी की तुलना संत एकनाथ से की जा सकती है। कृष्णदास में काव्य-चेतना पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगत होती है। वर्णो के माधुर्य का उन्होंने विशेष ध्यान रखा है, जैसा कि निम्नोक्त पंक्तियो से दृष्टिगत होगा—

पौढ़ि रही सुख सेज सजीली दिनकर किरन झरोखहिं आई ।
उठि बैठे लाल, विलोक वदनविधु निरखत नैना रहे लुभाई ।
अधर खुले पलक ललन मुख चितवत मृदु मुस्कात हँसि लेत जंभाई ।
कृष्णदास प्रभु गिरधर नागर लटकि-लटकि हँसि कण्ठ लगाई ।[3]

नन्ददास की वर्ण-योजना अत्यन्त संगीतमय है। घुंघरुओं की झंकार, मुरली की मींड और मृदंग आदि वाद्यों के स्वरों का वातावरण कवि के निम्नोक्त पद में बहुत ही सुन्दरता से प्रकट हुआ है—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली ।
ताल मृदंग उपंगचंग एकै सुरजुरली ॥
मृदुल मुरज करतार तार झंकार मिली धुनि ।
मधुर जन्त्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि ॥

१. सूर की भाषा, डॉ० प्रेमनारायण टण्डन, पृ० १२२।
२. सूरसागर, ना प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ११४८।
३. अष्टछाप परिचय, सं० प्रभुदयाल मित्तल, पृ० २२८।

ललित भृकुटि पर चटकनि मटकनि चखतारन की।
लटकन मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥[1]

अष्टछाप के कवियों ने प्रचलित लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जैसे एक पन्थ द्वै काज, धान को गाँव पयार ते जान, नैनन के नहिं बैन बैन के नहिं नैन, जहाँ ब्याह तहँ गीत, दाई आगे पेट दुरावनि, स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागो सूधी काहु न करे, कौड़ी की कौड़ी जग बाजी, सूर स्वभाव तजै नहिं कारो कीन कोटि उपाय आदि।

मीराबाई की रचना में वैदग्ध्य और वक्रता के दर्शन नहीं होते। उसकी भावाभिव्यक्ति नितान्त सीधी है। उसमें व्यंग्य या उपालम्भ के लिए स्थान नहीं है। परन्तु मीरां द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उसकी आत्मानुभूति को सही-सही व्यक्त करता है। अपने अन्तरतम के दैन्य और विवशता को व्यक्त करने के हेतु अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाने के लिए मीरां ने भी मुहावरों का प्रयोग किया है, जिनमें से कुछ ये हैं—

ठाढ़ी पथ निहारूँ, माटी में मिल जासी, धान बतावत, चित चढ़ी, मस्तक के गरजी, तारा गिण गिण रैन बिहानी, नाचन लागी तो घूँघट कैसा, मुख मार्यो, अँखियाँ बदल बनाय, लई सीस चढ़ाय, घट के पट खोल दिए हैं आदि।

ये मुहावरे क्षोभ और कुण्ठा से उत्पन्न नारी हृदय के सहज उद्गारों को अभिव्यक्त करने में अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं।

मीरां की शब्द-सृष्टि में राजस्थानी, ब्रजभाषा तथा गुजराती के शब्दों का समावेश हुआ है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रदेशों में उनका जीवन बीता था। मीरां की भाषा जन-साधारण की भाषा है। उसमें आचार्यत्व के गुण नहीं हैं। परन्तु हृदय की पीर जितनी उनके पदों में मुखरित हुई है उतनी हिन्दी के अन्य किसी भी कृष्ण भक्त कवि की वाणी में नहीं हुई।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के कवियों ने मुख्य रूप से अपनी-अपनी बोल चाल की भाषाओं को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया। संस्कृत शब्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने इन भाषाओं को समृद्ध और परिष्कृत किया तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया।

हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने अभिधा शक्ति का प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक स्थलों पर ही किया है। परन्तु मराठी कृष्ण काव्य अधिकत व्याख्यात्मक होने के कारण मराठी कृष्ण भक्त कवियों ने शब्द की लक्षणा शक्ति का प्रयोग व्याख्यात्मक पदों में प्रचुरता से किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

श्लोक की व्याख्या करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

असें जीर्णवस्त्र सांडिजे। मग नूतन वेढिजे।
तैसे देहांतरातें स्वीकारिजे। चैतन्यनाथें॥[2]

---

१ नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, ब्रजरत्नदास, पृ० २१-२२।
२ ज्ञानेश्वरी, अभंग १४४।

(जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र छोड़कर नया वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार मरण के समय चैतन्यनाथ को स्वीकार कर लेना चाहिए।)

इस ओवी में कवि ने पूरे श्लोक की अभिव्यंजना लाक्षणिक अर्थ में की है। परन्तु अष्टछाप के कवियों ने व्याख्यात्मक पदों की रचना नहीं की। उन्होंने तो केवल कृष्ण के रूप-वर्णन, वात्सल्य-वर्णन, संयोग-शृंगार इत्यादि वर्णनात्मक और भाव-प्रसंगों का ही वर्णन किया है। इन वर्णनों में अभिधा-शक्ति का ही प्रयोग हुआ है, जिसके कारण कहीं-कहीं ये वर्णन नीरस हो उठे हैं। सूरदास के निम्नोक्त पद में इसी नीरसता का दर्शन होता है—

भोजन भयो भावते मोहन, तातोई जेंइ जाहु गौं दोहन।
खीर खांड खीचरी सँवारी, मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ भोग लियो भात पसाई, मूँग ढरहरी हींग लगाई।
सद माखन तुलसी दे तायो घिरत सुवास कचौरा नायो।
पापर वरी अचार परम सुचि। अदरख अरु निबुआनि ह्वैहै रुचि।[१]

मीरां की दर्द-भरी अनुभूतियों में भी अभिधा का सौन्दर्य ही निखरा है।

लाक्षणिक प्रयोगों का चमत्कार सबसे अधिक मुहावरों के रूप में ही हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी के कवियों की अभिव्यंजना में लक्ष्यार्थ है ही नहीं। लक्षणा के सूक्ष्म रूप हिन्दी-कृष्ण-काव्य में भी यत्र-तत्र मिलते हैं, परन्तु उनकी भाषा की चित्रात्मकता उनकी प्रतीक-योजना से ही सम्पन्न हुई है।[२]

हिन्दी और मराठी के कृष्ण-कवियों ने व्यंजना-शक्ति का उपयोग वक्र-अभिव्यंजना में ही किया है। बाल-लीला का माखन-चोरी-प्रसंग, राधा-कृष्ण के प्रेम से सम्बन्धित प्रसंग, मुरली-प्रसंग, मान-लीला, खण्डिता-प्रसंग तथा भ्रमरगीत आदि प्रसंगों को अष्टछाप के कवियों ने व्यंजना-शक्ति के द्वारा ही मार्मिक बनाया है। सूरदास के पद—

"सुनहु महरि अपने सुत के गुन कहा कहौं किहि भाँति बनाई।"[३]

में गोपी-हृदय में आन्दोलित आनन्द की ही ध्वनि निकलती है।

निरखति अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलिके ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती।

अंक और स्याम शब्दों के व्यंग्यार्थ से ही इस पद में निहित भावनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। स्याम का पत्र स्वयं कृष्ण-रूप बन जाता है तथा उसे हृदय से लगाकर राधा कृष्ण को हृदय से लगाने का सुख अनुभव करती हैं।

ईश्वर को ईश्वरत्व प्रदान करने वाले भगवान् के पापी भक्त ही होते हैं, इस वस्तु-स्थिति का उद्घाटन करते हुए सन्त तुकाराम कहते हैं—

जेणें तुज झालें रूप आणि नांव। पतित हे देव तुझे आम्ही।
नाहीं तरी तुज कोण हो पुसतें। निराकारीं तेथे एकाएकीं॥[४]

---

१. सूर सागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद १२१३।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८०७।
३. सूर सागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ६२१।
४. तुकाराम वचनामृत, प्रो० रा० द० रानडे, पृ० ४४।

(तुम्हारे रूप और नाम को बनाने वाला तुम्हारा भावी भाग्य हम भक्त ही हैं, नहीं तो तुम्हें पूछने वाला कौन था ! तुम तो निराकार और एकाकी ही थे।)

इसी प्रकार रुक्मिणी के मुख से श्रीकृष्ण की निन्दा करवाकर नरेन्द्र कवि रुक्मिणी की आत्म-विह्वलता को निम्नोक्त पद में ध्वनित करता है—

तयां जाति ना कुल अनोळखीं नेणों मायबापु वाढविला गोळी
वायांचि ठसा घडविला गोवळीं माणूस—पणाचा।

(कृष्ण की न तो कोई जाति है न कुल। उनके माता पिता का भी कुछ पता नहीं है। ग्वालिनों ने उनका पालन-पोषण किया है। इन ग्वालिनों ने व्यर्थ में ही मनुष्यपन कृष्ण पर लादा है। ध्वनि यह है कि कृष्ण में मनुष्यता का कोई भी चिह्न नहीं है, वे मनुष्यता विहीन हैं।)

यह कथन अष्टछाप के कवियों द्वारा विरचित भ्रमरगीत में गोपियों के उलाहनों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने वर्णनात्मक तथा कथोपकथन शैलियों का ही प्रयोग किया है। वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का समावेश होता है और कथोपकथन शैली के अन्तर्गत मुख्यतः भ्रमर-गीत का। परन्तु मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने मुख्यतः वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ व्याख्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। ज्ञानेश्वरी समग्र रूप से एक व्याख्यात्मक काव्य है।

अलंकार-योजना साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने साहित्य विद्या को अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया है। राजशेखर ने अलंकार-शास्त्र को वेदांग कहा है तथा उसकी उत्पत्ति भगवान् शंकर से मानी है परन्तु शास्त्रीय ढंग से अलंकार शास्त्र की चर्चा संस्कृत साहित्य में भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक चलती रही। इस दीर्घकाल में कई काव्य-सम्प्रदाय चले, परन्तु इनमें से सभी ने काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है। संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी और मराठी, दोनों भाषाओं ने अपनाई है। हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों के पूर्व निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त-कवि अपनी बानियों में अन्योक्ति रूपक, उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग कर चुके थे। इसी प्रकार प्रेम मार्गी कवियों ने भी अलंकारों से अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत किया है। विद्यापति की रचनाओं में तो अलंकारों को स्पष्ट रूप से महत्त्व मिला है। उनके काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों तथा शब्दालंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। मराठी कृष्ण भक्त कवियों की ही भाँति अष्टछाप के कवियों ने भी शोभा के लिए अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत नहीं किया। अलंकार तो उनकी कल्पना-सृष्टि के अन्तर्गत अनायास ही आ गए हैं। हिन्दी के कृष्ण-काव्य में अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, विरोधाभास, विभावना, पुनरुक्तिप्रकाश वीप्सा, यमक, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति आदि अलंकारों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। कवि नन्ददास के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि—

'और सब घढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

अष्टछाप के कवियों की अप्रस्तुत योजना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सादृश्यमूलक, (२) विरोधमूलक, (३) अतिशयमूलक।

इन कवियों के काव्य में सादृश्यमूलक योजनाओं का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इसे चार भागों में बाँटा जा सकता है—

रूप-साम्य, धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य और कल्पना-साम्य। इनका एक-एक उदाहरण देखिए—

रूप-साम्य — प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की सोभा कहौं विचारि।
मनो रह्यौ पन्नग पीवन को ससि मुख सुधा निहारि।[1]

धर्म-साम्य — मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पर आवै।[2]

प्रभाव-साम्य — पिया बिनु नागिन कारी रात,
कबहुँक जामिनि उवत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।[3]

कल्पना-साम्य — उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव जनु तड़ित छपायें।[4]

विरोधमूलक अप्रस्तुत योजनाओं का प्रयोग 'भ्रमरगीत' में अनेक स्थानों पर हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—

कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर कष्ट करो पहिचानी
कहँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि-सुनि लाज मरौ
चंदन छाँड़ि विभूति बनावत, यह दुख कौन जरौ।[5]

अतिशय-मूलक योजनाओं का प्रयोग भाव के उद्दीपन के लिए ही हुआ है। कृष्ण के रूप-वर्णन, गोपियों की विरह-वेदना आदि में कवियों की भावनाएँ अतिशयोक्ति से रंजित हो उठी हैं। एक उदाहरण लीजिये—

दिसि-दिसि सीत समीरहिं रोकत अंचल ओट दिये।
मृगमद मलय परसि तन तलफत जनु विष विषम पिये।[6]

सूरदास का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है। इसीलिए कवि की भावाभिव्यक्ति ने भाषा की सीमाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। यही कारण है कि सूर-साहित्य मे चमत्कारपूर्ण वक्र-कथन भरपूर मात्रा मे मिलते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है—

'सूर में जितनी सहृदयता है, उतनी ही वाग्विदग्धता।' सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है और इसीलिए उनके पदों मे अलंकारों का कृत्रिम प्रयोग नही दिखाई पड़ता। अलंकारों का प्रयोग कवि ने सौन्दर्य-बोध के लिए ही किया है और वह अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है। सूर की रचनाओं मे मुख्यतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति,

१. सूरसागर, ना० प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद २४२७।
२. वही, पद १६८।
३. भ्रमरगीत सार, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११६।
४. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद १०४८।
५. वही, ना प्र० स०, दशम स्कन्ध, पद ३५५१।
६. वही, पद ४११८।

प्रतिवस्तूपमा के ही दर्शन होते हैं। कवि का हेतु रूप-सौन्दर्य चित्रण द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था। अत उनके काव्य मे शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। शब्दालंकारों का उपयोग सूरदास ने केवल 'साहित्यलहरी' में किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है। श्लेष और यमक कवि के दृष्टिकूट पदों मे पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'अनुप्रास का प्रयोग तो सूर-काव्य मे अत्यन्त ही स्वाभाविक है, क्योंकि अनुप्रास द्वारा जहाँ एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान होता है, वहाँ दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी होती है। वीप्सा अलंकार कवि के हृदय की भक्ति भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के अंग प्रत्यंग के सौन्दर्य रस पान से तृप्त न होकर बार-बार स्वरूप वर्णन में किया है। वक्रोक्ति का प्रयोग व्यंग्योक्तियों में है। व्यंग्य को शृंगार रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृंगार के संयोग और वियोग—दोनों ही पक्षों में प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा इसका आधार ग्रहण किया जाता है। सूर के काव्य में व्यंग्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है। उनके वात्सल्य में भी हमें व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियों की उक्तियाँ तो उनके भावों के साथ व्यंग्य को भी लेकर निकलती हैं, इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं।'[1] सूरदास ने सांगरूपक का प्रयोग सबसे अधिक किया है। निम्नलिखित पद में सूरदास पतितों के राजा चित्रित हुए हैं—

हरि हौं सब पतितन कौ राजा
निंदा परमुखपूरि रह्यौ जग, यह निसान नित बाजा।
तृष्णा देश अरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मंत्री काम कुमति दीबे कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी।
गज अहंकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत-संगति की मेरें, ऐसौ हौं मैं ईस।
मोह मय बंदी गुन गावत, मागध दोष अपार।
सूर पाप कौ गढ़ दृढ़ कीन्हौ, मुहकम लाइ किंवार।[2]

इसी प्रकार सांसारिक विषयों का नाच-नाचकर कवि अन्त में भगवान् से कहता है—

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध कौ पहिर चोलना कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा-शब्द रसाल।[3]

अप्रस्तुत प्रशंसा का बहुत ही सुन्दर प्रयोग निम्नलिखित पद में हुआ है जहाँ गाय के माध्यम से माया का सुन्दर वर्णन हुआ है—

माधौ जू यह मेरी इक गाय।
अब आज तें आप आगे दई, लै आइ मैं चराइ।

---

१ सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ४३६-४० से उद्धृत।
२ सूर सागर (सभा) पद १४४।
३ वही, पद १५३।

यह अति हरहाई हटकत हूँ, बहुत अमारग जाति।
फिरति बेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
हित करि मिले लेहु गोकुल पति, अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह।
निधरक रहौं सूर के स्वामी, जनि मन जानो फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिले लेहु निबेरि।[१]

कृष्ण की मुख-छवि-वर्णन के प्रसंग में उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए--

मुख-छवि कहा कहौं बनाइ।
निरखि निसिपति बदन-सोभा गयो गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ।
निकसि सर तैं मीन मानो, लरत कीर छुराइ।[२]

इसी प्रकार प्रतीप, सन्देह, अतिशयोक्ति, सम्भावना, व्यतिरेक, अपह्नुति आदि के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं--

प्रतीप

मुख-छबि देखि हो नन्द घरनि।
सरद निसि को अंसु अगनित इन्दु आभा हरनि।
ललित श्री गोपाल-लोचन-लोल-आँसू-ढरनि।
मनहुँ वारिज निथकि बिभ्रम, परे पर-बस परनि।
कनक-मनि-मय-जटित-कुण्डल-जोति जगमग करनि।
मित्र-मोचन मनहुँ आए, तरल गति ह्वै तरनि।
कुटिल कुन्तल, मधुप मिलि मनु, कियौं चाहत लरनि।
बदन कान्ति बिलोकि सोभा सके सूर न बरनि।

अतिशयोक्ति

जब मोहन कर गह्यो मथानी।
परबत कर दधि, माट, नेति, चित उदधि, सैल, बासुकि भय मानी।
कबहुँक तीनि पैग भुव मापत, कबहुँक देहरि उलँघि न जानी।

रूपकातिशयोक्ति

खंजन, मीन, भृंग, वारिज, मृग पर दृग अति रुचि पाई।

व्यतिरेक

उपमा नैन न एक रही।
कवि जन कहत-कहत सब आए, सुखिकरि ताहिं कही।
कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नही उड़ि जात।

---

१. सूर सागर (सभा), पद ५१।
२. वही, पद ६७०।

हरि-मुख-कमल-कोष बिछुरे तें, ठाले क्यों ठहरात।
ऊधो बधिक ब्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात।[1]

अपह्नुति

चातक न होइ कोउ बिरहिनी नारि।
अजहूँ पिय पिय रजनि सुरति करि झूँठेहि मौनत वारि।[2]

नन्ददास के अलंकार प्रयोग में कई मिश्रित शैलियों के दर्शन होते हैं। रास-पंचाध्यायी में उन्होंने अधिकतर साम्यमूलक अप्रस्तुत योजनाओं का ही प्रयोग किया है। रूप-साम्य और गुण-साम्य का एक उदाहरण देखिए—

कृपा रंग रस-ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण रसासव पान अलस कछु घूम घुमारे।[3]

साम्य मूलक अप्रस्तुत-योजना में लाक्षणिक उपमानों का प्रयोग करके उन्होंने सौन्दर्य और अनुभूति का मणि-कांचन-योग प्रस्तुत किया है। इसका एक उदाहरण है—

कोमल किरन अरुनिमा बन में ब्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल जस॥

नन्ददास की अप्रस्तुत योजनाओं में लाक्षणिकता का एक दूसरा उदाहरण है—

मंद-मंद चलि चारु चंद्रिका अस छवि पाई।
उझकति है पिय रमा रमन कों मनु तकि आई॥[4]

अतिशयोक्ति के चमत्कार और अनुभूति का एक उदाहरण देखिए—

वा सुंदरि की दसा देखि कहत न बनि आव।
बिरह भरी पुतरी जु होई तो कछु छबि पाव॥[5]

अत्यानुप्रास, छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ए चंदन! दुखमंदन सब कहुँ जरन सिरावहु,
नंद नंदन जगबंदन, चंदन, हमहिं मिलावहु।[6]

पुनरुक्ति प्रकाश और यमक के कुछ उदाहरण हैं—

छोटो सो कन्हैया, मुख मुरली मधुर छोटी
छोटे-छोटे ग्वाल-बाल, छोटी पाग सिरन की।
छोटे-छोटे कुण्डल कान, मुनिन हू के छूटे ध्यान
छोटे पर छोटी लट छूटी अलकन की।

---

१ सूरसागर, पद ४२१०।
२ वही (वें० प्रे०) पृ० ४६६।
रास-पंचाध्यायी पृ० ३ दो० ५।
वही, पृ० ७, दो० ४५।
वही, पृ० २४ दो० ४४।
नन्ददास ग्रन्थावली, रास-पंचाध्यायी, ब्रजरत्नदास पृ० १६।

छोटी-सी लकुटि हाथ छोटे-छोटे बछरा साथ।
छोटे से कान्हें देखन गोपी आई घरन की।[1]
× × ×
रही न तनक असेठ तुम बिन नन्दकुमार पिय
निपट निलज यह जेठ धाय-धाय बधुवन गहे।[2]

चतुर्भुजदास के अलंकारों का प्रयोग भी परम्परागत है। जैसे—

उपमा कही न जाइ सुन्दर मुख आनन्द।
बालक वृन्द नच्छत्र प्रकटे पूरनचन्द।[3]

पुरुष की रस-लोलुप और स्त्री की एकनिष्ठ भावनाएँ भी परम्परागत उपमानो के माध्यम से ही व्यक्त की गई है—

हम वृन्दावन मालती तुम भोगी भौंर भुवाल हो।[4]

एक रूपक में कवि कहता है—

रजनी राज लियो निकुंज नगर की रानी।
मदन महीपति जीति यहाँ रन स्रम-जल सहित जंभानी।
परम सूर सौन्दर्य भृकुटि धनु अनियारे नैन बाल संधानी।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस-सम्पति बिलसी यों मनमानी।[5]

छीतस्वामी और परमानन्ददास के काव्य मे अलंकारों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ भी है तो वह अधिकतर विचारों या सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए ही हुआ है। जैसे—

श्री विट्ठल आगें और पन्थ जैसे जलकूप।[6]

इसी उपमान का दूसरा प्रयोग श्रीकृष्ण के रूप-चित्रण में हुआ है।

नैननि निरखें हरि के रूप।
निकसि सकत नहिं लावनि-निधि तें मानों पर्‌यो कोऊ कूप।[7]

छीतस्वामी के अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

आयो रितुराज साज पंचमी बसन्त आज
बौरे द्रुम अति अनूप अम्ब रहे फूली।
बेली लपटी तमाल सेत पीत कुसुम लाल,
उड़वत रंग स्याम भाम भँवर रहे भूली।[8]

सूरदास की ही भाँति मीरांबाई का काव्य भी भावमय है। उनके पदों में विरहिणी की तीव्र

1. नन्ददास ग्रन्थावली, रासपंचाध्यायी, ब्रजरत्नदास, पृ० ३३८।
2. वही, पृ० १६६।
3. चतुर्भुजदास, पृ० ४३।
4. वही, पृ० १२८।
5. वही, पृ० १५८।
6. छीतस्वामी और उनके पद, पृ० १०।
7. वही, पृ० ४६।
8. वही, वि० वि० कांकरोली, पृ० २०।

वेदना है। अतः उनके पदों में अलंकारों का समावेश स्वाभाविक ही है। उनके काव्य में रूपक के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

ज्ञान को ढोल बँधो अति भारी

उपमा, उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति, विभावना, विभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, वीप्सा, अनुप्रास के निम्नलिखित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

उपमा

जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी, ये बिन जीवन जाय।

उत्प्रेक्षा

कुण्डल की अलक-झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥

अत्युक्ति

गिणतां गिणतां घँस गया, रेखां आँगलिया की सारी।

विभावना

बिनि करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे।

विभावोक्ति

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।

अर्थान्तरन्यास

हेरी म्हां दरद दिवाणी, म्हारां दरद न जाण्यां कोय,
घायल री गत घायल जाणै और न जाणै कोय।
जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जाण्या जिण खोय।

श्लेष

मोहे गिरमिट माँ मिला साँवरो।
खोल मिली तन गाती।

वीप्सा

अति-अति व्याकुल भई
मुखि पिय-पिय बानी हो।

अनुप्रास

समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ
सरब सुधारण काज।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मीरा के काव्य में अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है, पर उन्हें काव्य के सौन्दर्य-वृद्धि के लिए बलपूर्वक नहीं ठूँसा गया है, अपितु भावना की गहराई और अनुभूति की तीव्रता के कारण ही काव्य में उनका समावेश अत्यन्त स्वाभाविक रूप से हो गया है।

पहले कहा गया है कि अलंकार काव्य का एक आवश्यक अंग है और काव्य-सर्जना अभिव्यक्ति की पूर्ति के लिए आप-से-आप हो जाता है। केशव की भाँति कि कविता-कामिनी को बलात् अलंकारों से लाद दे तो दूसरी बात है पर ऐसी दशा में

में वे काव्य के सौन्दर्य के साधक न रहकर बाधक बन जाते हैं और काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य कृत्रिम जगमगाहट से ढंक जाता है।

हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति मराठी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है, परन्तु मराठी के भक्त-कवियों का अलंकारों के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है। उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों को केवल प्रयुक्त ही नहीं किया, वरन् उनके गुणों पर भी उन्होंने प्रसंगवश विचार किया है। 'ज्ञानेश्वरी' के उपसंहार में ज्ञानेश्वर कहते हैं—

शब्दु कैसा घडिजे। प्रमेय कैसें यां चढ़िजे
अलंकार म्हणिजे। काइ तें नेणें।[१]

(शब्द का कैसे प्रयोग करना चाहिये, प्रतिपाद्य विषय का किस प्रकार निरूपण करना चाहिए तथा अलंकार किसे कहना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता।)

तथा,

जैसे आंगिचेनि सौन्दर्यपणें, लेणेयांसि आंगचि होय लेणें
तेथ अलंकारलें कवण कवणें, हे निवेंचेना॥[२]

(सुन्दर शरीर पर अलंकार पहनाने से शरीर में जो सुन्दरता आती है, उससे अलंकारों का शरीर ही अलंकार बन जाता है।)

उपर्युक्त दोनों ओवियों से काव्य-सृजन के लिए काव्य-गुणों की आवश्यकता चरितार्थ होती है। इसी प्रकार एक दूसरी ओवी में भास्कर कवि कहते हैं—

पुराणींचे दलवाडे। रसालंकारें सावडें
म्हणौनि भावो न निवडे। कला विदांसि॥[३]

(रस और अलंकार के विषय में कलाकार गरीब और भोले होने के कारण समूह के अर्थ को ग्राह्य नहीं समझते।)

तुकाराम कहते हैं—

शब्दाचीया रत्नेकरूनी अलंकार, तेणें विश्वम्भर पूजियता॥[४]
येथे अलंकार शोभती सकल। भावबलें फल इच्छेचेतें॥[५]

(शब्द के रत्नों से अलंकार बनाकर उनसे विश्वम्भर की पूजा की। यहाँ सभी अलंकार शोभायमान हैं और यह सब भावों की प्रबलता के ही कारण है।)

संत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ऐसें निजजनानंदें। तेणें जगदादिकंदें।
बोलिलें मुकुन्दें। संजयो म्हणें॥[६]

---

१. ज्ञानेश्वरी, १८.१७४६।
२. वही, १०.१४३।
३. उद्धवगीता, ११।
४. तुकाराम गाथा, अभंग ४००४।
५. वही, अभंग १०१३।
६. ज्ञानेश्वरी, १२।२३६।

उनका काव्य उपमा, दृष्टान्त, रूपक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, अनन्वय, आवृत्ति, एकावली इत्यादि अलंकारों से परिपूर्ण है। उपमा और दृष्टान्त अलंकारों का तो बहुत ही प्रयोग हुआ है। उपमा का एक उदाहरण देखिए—

कीं पार्थाचा मेरु जैसा रथुवरू मिरवतसे तैसा।[1]

(अर्जुन का रथ धनधारी मेरु पर्वत के समान है।)

निम्नोक्त ओवियों में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है—

तो तू परब्रह्मचि असकें। भाज देवें रिघलासि हस्तोदकें।
तरी आतां मेतु काय्या कें। देखावा ववणें।
जो चन्द्रबिंबाचा गाभारा। रिगालियावरिहि उबारा।
परि राजेपणें गाङ्गधरा। बोला हे तुम्ही।[2]

(ऐसे तुम परब्रह्म को भाग्य ने मेरे हाथ पर उदक छोड़कर मुझे दान दे दिया है। तो अब भेद है ही कहाँ? उसे कौन और कहाँ देखे? यदि यह कहा जाए कि चन्द्रमा की किरण के अन्तर्भाग में प्रवेश कर लेने पर भी गर्मी लग रही है, तो ऐसा कहना शोभा नहीं देता। परन्तु हे श्रीकृष्ण, आप अपने बड़प्पन में असम्बद्ध बातें कर रहे हैं।)

अनन्वय का उदाहरण है—

जैसी अमृताची चवी निर्वाळिजे।
तरी अमृताचि सारिखी म्हणिजे॥[3]

(अमृत के स्वाद का वर्णन किया जाए तो उसे अमृत के समान ही कहना होगा, उसी प्रकार ज्ञान को ज्ञान की ही उपमा देनी होगी।)

मराठी संत कवियों के पदों में आये हुए अलंकार वाचक शब्दों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए डॉ० माधव गोपाल देशमुख कहते हैं—

"उपमा, श्लेष तथा वणक—इन संज्ञाओं के उल्लेखों से विदित होता है कि ज्ञानेश्वर और महानुभाव कवियों के समय में सादृश्यमूलक अलंकारों के विषय में संस्कृत साहित्य-शास्त्र को देखते हुए एक स्वतन्त्र तथा पृथक् दृष्टिकोण था। संस्कृत में भिन्न वस्तुओं के साधर्म्य को ही उपमा कहा गया है। यह साधर्म्य यदि समानता अथवा तुलना से दिखाया गया हो तो उसे स्वतन्त्र अलंकार नाम नहीं दिया गया है परन्तु महानुभाव कवियों के विचार में वही उपमा अथवा सादृश्य है।"[4] वे आगे कहते हैं—"प्राचीन मराठी कवियों को श्लेष शब्द की अनेकार्थता का अर्थ अभिप्रेत नहीं था। उन्होंने उपमा श्लेष तथा वणक को परम्परागत साहित्य शास्त्र से भिन्न अलंकार माना है। उपमान और उपमेय का तुल्य भाव हो तो 'उपमा' होती है। तुल्य भाव दिखाकर उपमान को दूषण देने से श्लेष होता है और श्रेष्ठ उपमान देकर उपमेय की प्रशंसा करने से वणक अलंकार होता है।"[5]

---

१ ज्ञानेश्वरी, १।१३६।
२ वही, १०।३२१-३२।
३ वही, ४।९३।
४ मराठीचे साहित्य शास्त्र, डॉ० माधव गोपाल देशमुख, पृ० १६६।
५ वही, पृ० १८३।

इतना अवश्य है कि मराठी के कवियों की अलंकारों के विषय में अपनी निजी धारणाएँ होते हुए भी उनके काव्य में परम्परागत वर्णित अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम ने उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि का बहुलता से प्रयोग किया है। महानुभाव कवि नरेन्द्र का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' अलंकार वैभव का आगार ही है। उन्होंने उपमा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति तथा रूपक का विशेष रूप से प्रयोग किया है, तथापि उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की ओर उनकी सबसे अधिक रुचि रही है। कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा

कास्मिराचिये करंडिये जैसे : मोरिल मूर्ति प्रकासे।
पातळा लुगडेयांतुनि तैसे : आवएव दसता ती॥

(पारदर्शक स्फटिक पात्र मे रखी हुई प्रतिमा के समान बारीक वस्त्र में से उनके अवयव सुन्दर दिखाई दे रहे थे।)

उत्प्रेक्षा

तत्रं उचित-चन्द्रिका म्हणे : सूर्या अस्ताचलीं होत उपेणें
जैसे तेजाचें सांटवले घोपणें : मढीं पवळेयाचां
कीं कुंकुम-वर्नी सरागु : झेंपावत शृंगार-विहिगु
कीं त्रिनेत्रें तापला अनंगु : रिगत पश्चम-समुद्रीं
कीं ठेविला प्रकाशाचा मुडा : पाताळीं येणें होत गरुडा
कीं श्रीकृष्णें अघिला पश्चमिली कडां : कमळ-कांतिचेनि
कीं संध्या-सरोवरीं सारसिचा गिवसू : करूं आला सोनेयाचा सारसू
तैसा सूर्या होताय प्रवेशु : अस्ताचेलीं।[1]

(अस्ताचल के सूर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—तब चन्द्रिका उचित ही कहती है—"अस्ताचल पर सूर्य का आगमन ऐसा लग रहा है मानो मूंगे के मठ मे प्रकाश की राशि संग्रहीत हो उठी हो या अस्तमान सूर्य पर अनुरक्त शृंगार विहग झपट पड़े हों, या भगवान् त्रिनेत्र की क्रोधाग्नि से त्रस्त मदन पश्चिमी सागर में छिप रहा हो, या प्रकाश का पुंज पाताल जाने की बात सोचकर आरक्त हो रहा हो, या श्रीकृष्ण ने पश्चिमी तट पर कमल-कान्ति का अर्घ्य दिया हो, या संध्या-सरोवर मे सारसी को खोजने के लिए सोने का सारस आ गया हो।)"

अपह्नुति

की चन्द्र नव्हे ते स्वेत द्वीप : माझारि सांवळें ते श्रीकृष्णाचे रूप
दरि दाकौनि पाहों आले स्वरूप : श्री चक्रधराचें
कीं भूगोलकाचां प्रासादीं जैसा : गाळिवा अमृताचा आरिसा
तेथ श्रीकृष्णाचा बिंबला ठसा : कलंकु नव्हे तो।[2]

(चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है—या वह चन्द्रमा न होकर स्वेत द्वीप हो।

१. नरेन्द्र कवि कृत रुक्मिणी स्वयंवर, सं० डॉ० वि० भा० कोलते, पृ० ५१।
२. वही, पृ० ४२।

चन्द्रमा का कलंक श्रीकृष्ण का ही साँवला रूप हो, जो श्री चक्रधर (महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर, जो श्रीकृष्ण के ही अवतार माने जाते हैं) का स्वरूप देखने के लिए उभर आया हो, या चन्द्रमा भूलोक के प्रासाद में छत हुए अमृत का आईना हो। चन्द्रमा में श्रीकृष्ण का रूप ही बिम्बित हुआ है। वह कलंक नहीं है।)

नरेन्द्र की ही भाँति भास्कर कवि का काव्य भी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से भरा पड़ा है। मुख्य अलंकार हैं उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त तथा यमक।

नामदेव की वक्रोक्ति का एक सुन्दर प्रयोग निम्नोक्त पंक्तियों में देखा जा सकता है—

पतीतपावन नाम ऐकुनी आलों मी द्वारां।
पतीतपावन न होसि म्हणुनी जातों माघारा॥
घेसी तेव्हां देसी ऐसा असली उदार,
काय देवा रोधु तुमचें कृपणाचें द्वार।[1]

(आप पतितपावन हैं, यह सुनकर ही मैं आपके द्वार आया था, परन्तु आप पतितपावन नहीं हैं इसलिए अब वापस जाता हूँ। आप इतने उदार हैं कि पहले लेते हैं तब कहीं देते हैं, इसलिए हे भगवान, आप जैसे कृपण का द्वार मैं क्योंकर रोके रहूँ।)

संत तुकाराम के काव्य में अनायास ही अनुप्रास, दृष्टांत, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास

पिळोनिया पाहे पुष्पाचा परिमळ।[2]

दृष्टांत

निर्नासिकासी जसा नावडे आरसा,
मूर्खालागीं तसा शास्त्रबोध।[3]

(जिस प्रकार नकटे व्यक्ति को आईना नहीं भाता, उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति को शास्त्रबोध नहीं सुहाता।)

उत्प्रेक्षा

हरिनामवेली पावली विस्तार
फळीं पुष्पीं भार बोल्हावली
तेथें माझ्या मना होईं पक्षिराज
साधावया काज तृप्तीचें या।[4]

(हरिनाम रूपी लतिका जहाँ पनपी और फूले हो, वहीं हे मेरे मन, तुम पक्षीराज बनकर तृप्ति का कार्य साधने के लिए निवास करो।)

दामोदर पंडित, श्रीधर, मोरोपन्त, वामन आदि परवर्ती कवियों का काव्य तो अलंकारों की निधि ही माना जाता है। इन कवियों की अलंकार योजना से उनकी कविता-

---

१ मराठ्यांचा परिमल, डा० न० शिखरे पृ० ३७।
२ तुकाराम, डा० ग० हर्षे, पृ० १४८।
वही, पृ० १४६।
वही।

कामिनी अधिक शोभायमान ही हुई है, बोझिल नहीं। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की ही भांति मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में अलंकार-योजना परम्परागत होती हुई भी उसका विधान भावाभिव्यंजना के लिए ही हुआ है।

मनोरंजक एवं कल्पनामय वाक्य-रचना को काव्य कहा जाता है। ऐसी रचना गद्य में हो सकती है और पद्य में भी। पद्य रचना में पाद या चरण हुआ करते हैं। ये पाद या चरण गद्य-रचना में नहीं होते। यही गद्य और पद्य में अन्तर है।

छंद तथा संगीतात्मकता इसके अतिरिक्त पद्य में लयबद्धता होती है। पद्य की रचना जिन निश्चित नियमों से होती है उन्हें छन्द कहते हैं। लय के विषय में लीलाधर गुप्त लिखते हैं—

"लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है। लय हमें हँसा सकती है; लय हमें रुला सकती है; लय हमें आकृष्ट कर सकती है; लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है; लय हमें सुला सकती है; लय हमें जगा सकती है; लय हमें शान्त कर सकती है; लय हमें उन्मत्त कर सकती है; लय हमें संसार में अनुरक्त कर सकती है। लय हमें उदासीन कर सकती है, लय हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है, लय हमें ब्रह्म-प्राप्ति की ओर उन्नत कर सकती है, लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है; हम ताल देने लगते हैं, हम नाचने लगते हैं। लय हमारे हृदय, हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। लय के प्रभाव के हेतु लय का विवेक रूप प्रयोग होना चाहिए। भाव की जहाँ जैसी गति हो वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिए।"[1]

आगे चलकर गुप्तजी पद्य की लय पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"पद्य की लय में एकरूपता और नियमितता होती है। उसमें लय और पद का ढाँचा भी होता है, ऐसा व्यवस्थित ढाँचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रवेक्षण (Anticipation) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ठ कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोह-निद्रा-सी ले आता है और सुविकारिता, सूचकता और संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ प्रकाशन करता है। यदि अन्तर्वेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि अन्तर्वेग मन्द हो, तो छन्द उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है; काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के रोगों से पृथक् कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रज्वलित करके कवि को ऐसी दृश्यमान और श्रोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।"[2]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की कलात्मकता में छन्दों का एक विशिष्ट महत्त्व है और इस महत्त्व को बहुत प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है।

---

१. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, लीलाधर गुप्त, पृ० २२६-२७।
२. वही, पृ० २२८।

गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टुप, जगती आदि वैदिक छन्द और मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी आदि लौकिक संस्कृत के छन्दों का इसी लय के आधार पर विधान हुआ है।

छन्द शास्त्र की इस परम्परा का पालन काव्य में अनिवार्य तत्त्व के रूप में मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्ति-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही हुआ है। हिंदी भक्त कवियों की रचनाएँ गेय पद शैली में होने के कारण उनके अधिकांश पद कीर्तनोपयोगी संगीत पर आधारित हैं और इसलिए छन्द-शास्त्र की कठिन कसौटी पर उन्हें नहीं कसा जा सकता। हम पहले कह चुके हैं कि अष्टछाप के अधिकांश काव्य की रचना कीर्तन के लिए ही हुई है, अतः पिंगल शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा संगीत शास्त्रीय राग रागिनियाँ ही उनके काव्य में दिखाई देती हैं। ठीक यही बात मीरा के पदों के बारे में भी कही जा सकती है। उसके सभी पद इकतार पर गाये हुए पद हैं। इसलिए उसके पदों में भावों की अभिव्यक्ति और संगीत की झंकार का अनूठा समन्वय हुआ है। फिर भी मीरा के काव्य में कम से-कम पन्द्रह छन्द मिलते हैं, जिनमें से मुख्य हैं—सरसी, सार, विष्णुपद, दोहा, उपमान, समान सवैया, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चन्द्रायण।

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने अपने ग्रंथ 'सूरदास' में सूर के छन्दोविधान पर विशेष रूप से विचार किया है और छन्दों की दृष्टि से 'सूरसागर' के वर्णनात्मक एवं गेय सभी अंशों का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि सूर की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द हैं—[1]

वर्णनात्मक प्रसंगों के छन्द—

१ चौपई, चौपाई, दोहा, रोला तथा उनसे निर्मित नवीन छन्द।
२ चन्द्र (१०, ७) भानु (६, १५) कुंडल (१२, १०) सुखदा (१२, १०) राधिका (१३, ९) उपमान (१३, १०) हीर (६, ६, ११) तोमर (१२, १२) शोभन (१४, १०) रूपमाला (१४, १०) गीतिका (१४, १२) विष्णुपद (१६, १०) सरसी (१६, ११) हरिपद (१६, ११) सार (१६, १२) लावनी (१६, १४) वीर (१६, १५) समान-सवैया (१६, १६) मत्त-सवैया (१६, १६) हंसाल (२०, १७) और हरिप्रिया (१२, १२, १०)

अन्य अष्टछाप कवियों की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द प्रयुक्त हुए हैं—सार, चौपाई, दोहा, रोला आदि। रोला छन्द का प्रयोग नन्ददास ने 'रुक्मिणी-मंगल', 'रास पंचाध्यायी' और 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में किया है। नन्ददास के 'भँवरगीत' में रोला-दोहा का मिश्रित छन्द प्रयुक्त हुआ है।

मराठी कृष्ण-काव्य में छन्द विधान पर विचार करते समय विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात यह है कि मराठी भक्त-कवियों का उद्देश्य अपनी रचना द्वारा लोक-जागृति करना ही था।[2] अतः कीर्तनोपयोगी काव्य की रचना करते समय उन्होंने इस दृष्टिकोण को बराबर अपने सामने बनाए रखा। लोक जागरण का यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता था जब वे लोकोचित भाषा और छन्दों का प्रयोग करके अपने काव्य को सरल, सुबोध एवं लोकप्रिय

[1] सूरदास, डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७२ तथा ५७१।
[2] श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आदि काव्य, न० १० फाल्गुन, पृ० ५१।

बनाते । अतः जिन छन्दों का मराठी कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने प्रयोग किया वे सब-के-सब लोक-प्रचलित छन्द थे । ये छन्द इस प्रकार हैं—

ओवी—ओवी का अर्थ होता है—गुम्फित या ग्रथित । प्रत्येक ओवी में तीन चरण होते हैं । शब्द-योजना अनुप्रासयुक्त होती है और तीनों चरणों के अन्त में यमक होता है । चौथे चरण की स्थिति गाने की टेक के समान होती है । यह तीन पाद की पदावली एवं भाव-विशेष को गुम्फित करने के कारण ही 'ग्रन्थ' कहलाती है । कहा जाता है कि ओवी का जन्म कहावतों और पहेलियों से हुआ है । ग्यारहवी शताब्दी मे रचित 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में ओवी का उल्लेख है । ओवी जन-मनोहर छन्द है, यहाँ तक कि महाराष्ट्र की ग्रामवासिनी स्त्रियां अपने दैनिक व्यवहार के विविध प्रसंगों पर ओवियाँ गाती हैं ।

'ज्ञानेश्वरी' की रचना ओवी छन्द में ही हुई है । ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त नरेन्द्र कवि, भास्कर कवि, संत एकनाथ, दामोदर पंडित आदि सभी ने ओवी छन्द में अपने काव्य की रचना की है । नरेन्द्र कवि का 'रुक्मिणी स्वयंवर', 'एकनाथी भागवत', भास्कर कवि की 'उद्धव गीता' तथा 'शिशुपाल वध', दामोदर पंडित का 'वछाहरण' तथा मुक्तेश्वर का 'भारत' सभी ओवी-बद्ध ग्रन्थ हैं ।

अभंग—अभंग छन्द मराठी लोक-छन्द है । इसकी लम्बाई की कोई सीमा नही होती, इसीलिए इसे अभंग (अटूट) कहते हैं । एक अभंग में दो से लेकर दो सौ चौक भी आ सकते हैं । अभंग के एक पंक्ति-समूह मे चार चरण होते हैं और चार चरणों का एक चौक होता है । इन चरणों में गण, मात्रा और अक्षर का एक भी नियम लागू नही होता । ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि ने ओवी के साथ-साथ अभंगों में भी पर्याप्त रचना की है । 'एकनाथी गाथा'[1] में एकनाथ के सारे अभंग संग्रहीत हैं । इन अभंगों में एकनाथ ने भागवत-धर्म का निरूपण और स्वानुभव का वर्णन किया है । स्फुट अभंगों की अपेक्षा आख्यानपरक अभंगों में एकनाथ की वाणी अधिक रमणीय सिद्ध हुई है । पर तुकाराम के स्फुट अभंग ही अधिक सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं ।

भारूड—जनता में बहुत रूढ होने के कारण ही इस गीत-शैली का नाम भारूड पड़ा । इसमें सामाजिक पाखंडो के प्रति व्यंग्य किया जाता है । समाज की रूढ़ि पर व्यंग्य करना भारूड का मुख्य ध्येय है । व्यंग्य में बोध होता है, पर कटुता नही होती और इसलिए हँसी-हँसी में ही उपदेश दिया जा सकता है । भारूड की इस विशेषता के कारण ही यह गीत-शैली जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हुई । पाखण्ड की खिल्ली उड़ाकर लोक में जागृति उत्पन्न करने के लिए यह शैली अत्यन्त उपयुक्त होने के कारण प्रायः सभी प्राचीन सन्तों ने इसका उपयोग किया है, पर, एकनाथ के भारूड अनूठे, तीक्ष्ण और मर्मस्पर्शी हैं।

गौळण—गौळण का अर्थ मराठी मे ग्वालिन होता है । मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने 'गौळण'—अभंगों में गोपियों के कृष्ण-प्रेम को अभिव्यंजित किया है । तुकाराम ने कई गौळणें लिखी हैं । कई भक्त कवियों ने रागात्मिका वृत्ति को 'गौळण' कहा है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की मुरली सुनते ही उसीमें तन्मय हो जाती है ।[2]

---

१. एक नाथी गाथा, आवटे ।

२. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० २२८ ।

ध्रुवपद—पन्द्रहवीं शताब्दी में इसका चलन आरम्भ हुआ। भक्त कवियों ने भक्ति के पद गाने के लिए इसका प्रयोग किया है।

साखी—सन्त तुकाराम ने साखी छन्द का भी उपयोग किया है। सन्त तुकाराम की एक साखी का उदाहरण देखिए—

तुकाराम सबीतवांव रापु, तैसा आपनी हान,
पैतु बाहरा छोर ज्याय, प्रेम न मूरे सात।

आर्या—आर्या छन्द का प्रयोग मोरोपन्त ने बहुलता से किया है। मोरोपन्त की आर्या और वामन पंडित के श्लोक मराठी साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं।

धवळे—धवळे अभंग छन्द के समान चार चरणों का अनियमित अक्षर संख्या का छन्द है। मराठी की आद्य कवयित्री महदम्बा स्वामी चक्रधर के प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। विवाह प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण भक्ति रस से परिपूर्ण 'धवळे' उसने लिखे हैं।

श्लोक—वामन पंडित ने अपनी रचना श्लोकों में की है। संस्कृत साहित्य की परम्परा का पालन महाराष्ट्र के पंडित कवियों का ध्येय था। छन्द चयन में भी उन्होंने संस्कृत-छन्द को ही अपनाया। वामन पंडित के श्लोक महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। लोकोक्ति भी है—

सुश्लोक वामनाचा अभंग वाणी प्रसिद्ध तुक्याची।
ओवी ज्ञानेशाची किंवा आर्या मयूरपन्ताची।

(अर्थात् वामन पंडित के श्लोक, तुकाराम के अभंग, ज्ञानेश्वर की ओवी तथा मोरोपंत की आर्या प्रसिद्ध हैं।)

लावणी—लावनी को मराठी में 'लावणी' कहा जाता है। यह गीत का एक प्रकार है। इसका लावण्य से सम्बन्ध है। इसका मुख्य भाव शृंगार होता है। पेशवाकालीन महाराष्ट्र में विलासप्रियता की अभिवृद्धि के समय जाता लावणियों की ओर प्रवृत्त हुई थी। इस समय कई कवियों ने उत्तान शृंगारपरक कई लावणियों की रचना की थी। लावणियों का विषय मुख्यतः लौकिक हुआ करता है, परन्तु—

आगिहैं के कवि रीझी है तो कविताई है,
न तरु राधिका गोविंद सुमिरन को बहानों है

के अनुसार कई लावनीकारों ने अपनी लावनियों का विषय राधा-कृष्ण तथा महादेव-पार्वती को भी बनाया है।

हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों ने प्रभु के गुणगान के लिए ही अपने काव्य की रचना की थी तथा भगवान् के सम्मुख गा गाकर लोकरंजन का कार्य किया था। काव्य-सृजन का उद्देश्य श्री मूर्ति का गुणगान करना होने के कारण इन कवियों के काव्य में गेय तत्त्व को प्रधानता मिली। गीति-काव्य का चरम उद्देश्य आत्म कल्याण और परमानन्द की प्राप्ति होता है। यही उद्देश्य अष्टछाप के काव्य में भी अभिव्यक्त होता है।

'कवि अपने आध्यात्मिक विकास के लिए चित्त-वृत्ति के संयम से गीति काव्य में अपने कल्याणकारी उद्गारों को व्यक्त करता है। उस संसार से कोई विशेष संपर्क नहीं रखना पड़ता। आत्म संतोष के लिए भक्ति भाव अथवा दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से बिल्कुल

होकर वह गीत की सृष्टि करता है। उसे गीत में एक अलौकिक ज्योति की अनुभूति होती रहती है और उसके अंतःकरण में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें प्रसारित होने लगती हैं। वह अलौकिक आनन्द में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार के गीत पदों के रूप में मिलते हैं।"

इसके अतिरिक्त अष्टछाप के समय में ग्वालियर, व्रज और अकबरी दरबार संगीत के प्रधान केन्द्र थे। वृन्दावन में गोकुल और गोवर्धन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचलित कीर्तन में संगीत की साधना होती थी। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के उपदेश से हरिनाम-संकीर्तन की जो संगीत-लहरी उमड़ी थी, उसका प्रभाव भी वृन्दावन पर पड़ा था। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति की रचनाओं का गायन करके आनन्द-विभोर हो जाते थे। विद्यापति ने पन्द्रहवीं शताब्दी में संगीत और काव्य-कला से ओत-प्रोत पदावली की रचना करके हिन्दी गीति-काव्य की जिस नवीन शैली का प्रचलन किया था, उसका विशेष प्रचार चैतन्य और उनके शिष्यों ने किया था। चैतन्य के वृन्दावन-निवासी शिष्यों द्वारा विद्यापति की रचनाओं का गायन होता था और उसका प्रभाव भी अष्टछाप की शैली पर पड़ा। इस गीतिमय वातावरण और कीर्तन की आवश्यकता के कारण ही अष्टछाप के कवियों की कृतियों में राग-रागिनियों का विधान हुआ।

सूर के पदों की गेयता के विषय में डॉ० मुंशीराम शर्मा लिखते हैं—

"इस गायन-शैली में ऐसी कौन-सी रागिनी है जो सूरसागर में न आई हो! कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में है, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या अब उनका प्रचार नहीं है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है—

"'सूरसागर' में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[2]

सूरदास की ही भाँति मीरा के पदों में भी नाना प्रकार की राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः गीतात्मकता ही उसके पदों की विशेषता है। कान्तभाव की तीव्र अनुभूति के कारण ही उसके पद गीतों में फूट पड़े हैं।

हिन्दी के भक्त-कवियों की भाँति यद्यपि मराठी के भक्त-कवियों ने अपनी रचनाएँ राग-रागिनियों की कसौटी पर नहीं कसी, फिर भी उनमें गीति-तत्त्व बराबर विद्यमान है। इतना ही नहीं, इन सभी संतो ने संकीर्तन की महिमा पर विशेष जोर दिया है और अपने काव्य का उपयोग कीर्तनों और 'कथाओं' के लिए करके समाज को भगवद्-भजन की ओर अग्रसर करने के अपने उद्देश्य को पूरा किया है। अभंग, ओवी, श्लोक, धवले, गौळण आदि सभी भजनोपयोगी छन्द हैं। संत नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि के अभंग महाराष्ट्र में आज भी गाये जाते हैं, परन्तु हिन्दी के भक्त-कवियों के पदों की भाँति उनके अभंग या ओवियाँ शास्त्रीय राग-रागिनियों में नहीं है। उनमें गीतात्मकता की अपेक्षा भाव-तत्त्व का ही अधिक प्राबल्य है। इस दृष्टि से मराठी कृष्ण-काव्य लोक-गीतों की संगीत-पद्धति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

---

१. सूर सौरभ, तृतीय संस्करण, पृ० ३८३।

२. सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तृतीय संस्करण, पृ० २००।

अध्याय—६

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्ति-पद्धति तथा दार्शनिक दृष्टि

भक्ति-पद्धति

भक्ति की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है जिसका अर्थ है भजना। नारद भक्ति को परमप्रेम रूपा और अमृतरूपा मानते हैं जिसे पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है।[१] भगवान् को प्राप्त करने के साधनों में कर्म, ज्ञान और भक्ति-मार्ग की गणना होती है।

भक्ति का स्वरूप

सरलता से साध्य होने के कारण आचार्यों ने भक्ति मार्ग को प्रमुखता दी है।[२] भक्ति-मार्ग का प्रमुख सम्प्रदाय भागवत धर्म है तथा ग्रंथ हैं 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'महाभारत का शान्ति-पर्व', 'भागवतपुराण', 'हरिवंशपुराण' तथा दक्षिणी आचार्यों के ग्रंथ। भक्ति भाव है या रस इस विषय को लेकर विद्वानों के कई मत रहे हैं। कोई उसे रस मानता है तो कोई केवल भाव। रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' में भक्ति को रस मानकर उसका शास्त्रीय विवेचन किया है। भक्ति का उदय दक्षिण में माना जाता है। प्रसिद्ध है—

> भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द
> परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि अनिमित्त भाव से अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों का पालन करके अहिंसा-सहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करने वाला भक्ति और गुणों के श्रवण मात्र से ही मुझमें लीन हो जाता है।[३] गीता में भी इसी भाव की पुष्टि हुई है।[४] भक्ति के नौ उपकरण माने गए हैं। इसीलिए भक्ति को नवधा भक्ति भी कहा जाता है। ये उपकरण हैं—श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवा अर्चन वन्दन, दास्य सख्य और आत्मनिवेदन। भक्ति के अन्तर्गत भगवान् के प्रति भक्त का प्रेम भाव होना अनिवार्य है। भक्ति के बिना भक्त के जीवन की समस्त गतिविधि व्यर्थ और बन्धन में डालने वाली होती है। भक्ति ही ऐसा व्यापक धर्म

---

१ 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च, भ० सू० २-३।

२ अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ, भ० सू० ५८।

३ श्रीमद्भागवत, अ० २९, स्क० ३, श्लोक १२ १३।

४ गीता, १६ ४६।

है जिसका पालन मनुष्य-मात्र के लिए सम्भव है। हरि से पूर्ण अनुरक्ति होना ही भक्ति है। परन्तु मायामय संसार से अलिप्त हुए बिना मन हरि में अनुरक्त हो ही नहीं सकता। इसीलिए कृष्ण-कवियों ने संसार और अन्य साधन-मार्गों की निन्दा की है और सांसारिक विषयों को बुरा-भला कहा है।

भगवद्भक्ति के लिए भक्त का भगवान् की शरण जाना अनिवार्य है। उसकी कृपा से ही भक्त संसार के समस्त व्यापारों से विरत हो जाता है। भक्ति भक्त के सम्पूर्ण भाव-लोक की अधिकारिणी होती है, क्योंकि संसार और प्रभु एक साथ दोनों के प्रति अनुराग सम्भव नहीं है। इसीलिए मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने बारम्बार संसार के प्रति वैराग्य की भावना दृढ़ करने की आवश्यकता पर जोर देकर राग-द्वेष को गर्हित माना है। संसार के विषय में वैराग्य को दृढ़ करने से ही भक्ति पूर्ण होती है तथा उसमें आत्म-समर्पण का भाव आ जाता है। इस प्रकार संसार-सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान आत्मानुभूति में परिणत होकर भक्त हरिभजन को ही अपना एक-मात्र कर्तव्य समझने लगता है। भक्ति के लिए इष्टदेव का सगुण रूप अपेक्षित होता है। इसीलिए भक्त-कवियों का आराध्य निराकार ब्रह्म न होकर सगुण ब्रह्म होता है। तुकाराम कहते हैं—

इच्छितो तयांसी व्हावें जी अरूप।
आम्हांसी स्वरूपस्थिति चाड़॥[1]

(जो तुम्हें निराकार देखना चाहते हैं उनके लिए भले ही निराकार बन जाओ, परन्तु हमें तो सुस्वरूप की ही इच्छा है।)

इसी प्रकार सूरदास की गोपी कहती है—

निरगुन कौन देस को बासी ?[2]

तथा नन्ददास की गोपी सगुण की स्थापना का तर्क देती हुई कहती है—

जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो
पांइन बिन गो संग कहो को बन-बन धायो ?

मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भक्ति के अन्तर्गत निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्ग दोनों का समन्वय किया है। सन्त तुकाराम तो सरल मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न लगे सायास जावे वनांतरा। सुखे येतो घरा नारायण।

(संन्यास लेकर वन में जाने की आवश्यकता नहीं। स्वयं नारायण ही घर पर आ जाते हैं।)

इसी प्रकार सन्त एकनाथ का कथन है—

अवताराचे सामर्थ्य पूर्ण। प्रपंच परमार्थी सावधान।[3]

(अवतार में पूरा सामर्थ्य होता है, वह प्रपंच और परमार्थ दोनों के बारे में सावधानी से काम लेता है।)

सम-दृष्टि को भक्ति का आवश्यक अंग मानते हुए सन्त तुकाराम कहते हैं—

१. श्री तुकारामांची गाथा (दिवडीकर), अभंग २५६४।
२. सूरसागर-सार, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १६१।
३. सन्त वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति, गं० बा० सरदार, पृ० ३२।

शिव मस्तकीं धरिला । भेद भक्तांचा फाडिला ॥[1]

(विट्ठल की मूर्ति ने मस्तक पर शिवलिंग धारण करके भक्तों के भेदभाव को दूर कर दिया।)

भक्ति के लक्षण

भक्ति का मुख्य लक्षण है इष्टदेव के साथ भक्त का व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव तथा भगवद्-कथा। हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में इष्टदेव के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव के सर्वत्र दर्शन होते हैं। व्यक्तिगत सम्बन्ध के भाव के कारण ही सूरदास और तुकाराम अद्वैत ब्रह्म को अपने स्वामी, इष्टदेव विष्णु हरि, राम, कृष्ण आदि नाम और रूप में सीमित करके स्वयं को उनसे भिन्न मानते हैं। वे अन्य किसी भी देवी-देवता को नहीं मानते। अंबरीष, प्रह्लाद, द्रौपदी, गणिका, गीध, सीता और अजामिल का उद्धार करने वाले प्रभु सूरदास के हरि और तुकाराम के ही विट्ठल हैं। इष्टदेव के प्रति अपनी निकटता को सूचित करने के लिए ही सूरदास ने अपने आराध्य को पिता, नाथ और स्वामी की उपमा दी है। सूरदास कहते हैं—

वासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।[2]

तथा—

स्याम गरीबनि हूँ के गाहक
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति निबाहक।[3]

संत तुकाराम उन्हें माता कहकर पुकारते हैं।

तू कृपाळू माउली। आम्हां दीनांची साउली।
न सवरी त आली। बाळवेषें जवळी॥
माझें केलें समाधान। रूप गोजिरें सगुण।
निवविलें मन। आलिंगन देउनी॥[4]

(हम दीनों को छाया प्रदान करने वाली तुम कृपालु माँ हो। तुम अपने को बिना छिपाए बाल वेष धारण करके हमारे समीप आ गई और अपना वात्सल्यपूर्ण सगुण रूप दिखाकर और मुझे आलिंगन में भरकर तुमने मेरा मन शान्त करके मुझे सन्तुष्ट कर दिया।)

भक्ति में व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए अनन्य भाव अनिवार्य है। गीता में इसी अनन्य भाव का समर्थन हुआ है।[5] पुराणों में एक एक देवता का चरित्र चित्रण एवं उनकी महिमा का प्रतिपादन उन उन देवताओं के प्रति अनन्य भाव का ही पोषक है।[6] इस अनन्य भाव के कारण ही कृष्ण भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव को ही सर्वत्र देखा है। सूरदास विष्णु के

---

१ संत वाङ्मयाचा सामाजिक फलश्रुति, प्र० बा० हरभार, पृ० ३४।
२ सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ३।
३ वही, पद १६।
४ तुकाराम वचनामृत, प्रो० रा० द० रानडे, पृ० ७।
५ गीता ९।२२।
६ श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आणि कार्य, म० ए० फाटक, पृ० १०।

अतिरिक्त अन्य देवों का बहिष्कार करते हैं। इस बहिष्कार में अन्य देवों का अनादर निहित न होकर कवि के अनन्य-भाव की गहनता और तीव्रता ही ध्वनित होती है। संत तुकाराम कहते हैं—

पंढरीची वारी आहे माझे घरीं। आणिक न करीं तीर्थव्रत।
व्रत एकादशी करीन उपवासी। गाइन अहर्निशीं मुखीं नाम॥
नाम विठोबाचें घेईन मी वाचे। बीज कल्पांतीचें तुका म्हणे।

(पंढरपुर की यात्रा मेरे घर ही में है। और कोई भी तीर्थाटन या व्रत मैं नहीं करता। मैं तो केवल एकादशी का व्रत करूँगा और दिन-रात एक विठोबा का ही नाम जपा करूँगा। तुकाराम कहते हैं कि एक विट्ठल का नाम ही कल्पान्तर का बीज है।)

यही अनन्य-भाव मीरा के निम्नोक्त पद में भी व्यक्त हुआ है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई।

नामदेव कहते हैं—

तूं चांद मी चांदणी। तूं नाग मी पद्मिणी।
तूं कृष्ण मी रुक्मिणी। स्वयें दोन्हीं।
नामा म्हणे पुरुषोत्तमा, स्वयें जडलों तुझ्या प्रेमा।
मी कुडी तूं आत्मा। स्वयें दोन्हीं।[1]

(तुम चन्द्रमा हो और मैं चाँदनी। तुम सूर्य हो और मैं पद्मिनी। तुम कृष्ण हो और मैं रुक्मिणी। नामदेव कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम, मैं तुम्हारे ही रंग में रंग गया हूँ। इस प्रकार जो कुछ हो तुम्हीं हो, क्योंकि मैं शरीर हूँ और तुम आत्मा हो।)

यही दृष्टि संत ज्ञानेश्वर की भी रही है। वे कहते हैं—

पंढरपुरिचा निळा। लावण्य पुतळा। विठो देखियला डोळां।
बाईयेवो। वेधले मो मन तयाचिये गुणीं।
क्षण न विसंबे विठ्ठल रुक्मिणी। पौर्णिमेचें चांदणें
क्षणक्षणा होय उणें। तैसें माझें जिणें विठ्ठलेवीण।

(पंढरपुर के श्याम विट्ठल की मूर्ति देखकर उसीके गुण में मेरा मन तन्मय हो रहा है। एक क्षण भी विट्ठल और रुक्मिणी को मैं दृष्टि से ओझल नहीं कर सकती। जिस प्रकार पूर्णिमा की चाँदनी क्षण-क्षण घटती जाती है, उसी प्रकार विट्ठल के बिना मेरा जीवन भी घटने लगता है।)

भगवान् के साथ भक्त का व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा अनन्य-भाव होने के कारण ही वह सर्वथा अपने इष्टदेव पर ही निर्भर रहता है। भगवान् की सहायता का उसे अदम्य विश्वास होता है और वह निरन्तर उसका गुणगान किया करता है। परन्तु जब-जब उसके विश्वास को ठेस पहुँचती है, तब-तब वह अपने इष्टदेव को खरी-खोटी सुनाने से भी नहीं चूकता। भक्त की इस मनोदशा का चित्रण हिन्दी और मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में अनेक स्थानों पर हुआ है।

पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह या कृपा को प्रमुख स्थान दिया गया है। भगवान्

---

१. नामदेवाची अभंगगाथा (आवटे), अभंग २८६।

की कृपा से ही भक्त पुष्ट होता है। अतः सूरदास की भक्ति भावना का भगवदनुग्रह एक अनिवार्य लक्षण बन गया है। भगवान् की कृपा की याचना तथा उसकी सोत्साहरण प्रशंसा सूरदास के विनय के पदों तथा कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों की कथाओं में अत्यन्त दीन भाव से व्यक्त हुई है। ब्रह्म के इस विशिष्ट गुण के कारण ही उसे भक्ति का उपास्य, भगवान् बनाया गया है।

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल

में भगवान् की कृपा शक्ति का ही आवाहन किया है। यही याचना मीरा के निम्नोक्त पद में भी प्रतिध्वनित हुई है—

थे बिण म्हारे कोण खबर ले, गोवरधन गिरधारी।
मोर मुगट पीताम्बर शोभाँ, कुंडल री छव न्यारी।
भरी सभा मा द्रुपद सुतां री, राख्या लाज मुरारी।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, चरण कवल बलहारी॥[1]

भगवद्-कृपा प्राप्त करने के लिए संत तुकाराम केवल विठोबा से ही प्रार्थना नहीं करते अपितु अन्य सन्तों से भी याचना करते हैं कि वे उन्हें न भूलें।

कृपाळु सज्जन तुम्ही संतजन। हेंचि कृपादान तुमचें मज॥
आठवण तुम्हीं द्यावी पांडुरंगा। कींव मासी सांगा काकुळती॥
अनाथ अपराधी पतित आगळा। परि पायांवेगळा नका करूं॥
तुका म्हणे तुम्ही निरविल्यावरी। मग मज हरी उपेक्षीना॥[2]

(हे कृपालु संतो यदि तुम पांडुरंग को मेरी याद दिला दो तो मुझ पर तुम्हारी बड़ी ही कृपा होगी। आर्त होकर ही मेरी दयनीय दशा का आप वर्णन करें। मैं पतित हूँ, अनाथ हूँ, अपराधी हूँ फिर भी आप मुझे अपने चरणों से दूर न करें। तुकाराम कहते हैं कि आपके कहने पर हरि मेरी उपेक्षा कदापि नहीं करेंगे।

परन्तु फिर भी जब तुकाराम पर भगवदनुग्रह नहीं होता तो वे कड़े शब्दों में अपने इष्टदेव को ललकारने लगते हैं। वे कहते हैं—

तुझा संग पुरे संग पुरे। संगति पुरे विठोबा॥
आपल्यासारिखें करिसी दासां। भिकारीसा जग जाणें॥
रूप नाहीं ठाव नावा। तसें आमुचें करिसी देवा॥
तुका म्हणे तोंडें आपुलें मेळविलें। करिसी वाटोळें मागें तसें॥

(हे विट्ठल बहुत हो गया तुम्हारा साथ। अपने समान ही तुम अपने भक्तों को भी भिखारी बना देते हो। तुम्हारे न रूप है न नाम, उसी प्रकार हम भी बनाना चाहते हो। तुकाराम कहते हैं तुम्हारे पास तो अपना कुछ है ही नहीं इसीलिए तुम हमारा भी सत्यानाश करना चाहते हो।)

सूरदास ने एक ऐसे ही प्रसंग का उदाहरण देखिए—

---

१ मीराँबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४० ।
२ तुकाराम वचनामृत, प्र० रा० द० रानडे पृ० ४० ।

पाई जाति तुम्हारे नृप की, जैसे तुम तैसे कोऊ हैं।
कहां रहे दुरि जाइ आजु लौं, येई गुन ढंग के सोऊ हैं।
यह अनुमान कियौ मन में हम, एकहिं दिन जनमे कोऊ हैं।
चोरी, अपमारग, बटपारयौ, इन पटतर के नहिं कोऊ है।।
स्याम बनी अब जोरी नीकी, सुबहु सखी मानत तोऊ हैं।
सूर स्याम जितने रंग काछत, जुवती जन-मन के गोऊ हैं।।[1]

अपने प्रियतम के प्रति उपालम्भ करती हुई मीराबाई भी कहती है—

जाणां रे मोहणा, जाण्यां भारी प्रीत।
प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, औरण जाणां रीत।
इमरत पाइ विषां क्यूं दीज्यां, कूंण गांव री रीत।
मीरां रे प्रभु हरि अविनासी, अपणों जणारो मीत।।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मराठी और हिन्दी के सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् से अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया है तथा अनन्य भाव से ही सर्वत्र अपने आराध्यदेव की स्तुति या निन्दा भी की है। इष्टदेव के प्रति इस अनन्य भाव के कारण ही सूरदास आदि हिन्दी के कृष्ण-भक्त-कवियों ने अन्य देवताओं का यत्र-तत्र बहिष्कार भी किया है। परन्तु मराठी के कृष्ण-भक्त-कवियों ने अनन्य भक्ति का अनुसरण करते हुए भी अन्य देवताओं के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार न करके उन्हें अपने इष्टदेव में समाविष्ट कर लिया है। इस दृष्टि से इन कवियों की भक्ति का स्वरूप अनन्यता पर आधारित होते हुए भी समन्वयवादी रहा है। यही नहीं, वे अपने इष्टदेव का स्वरूप सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में देखते है।[3] कुछ उदाहरण देखिए—

मुंगी आणि राव। आम्हां सारिखाचि जीव[4]

(चींटी और राजा हमारे लिए एक समान है।)

तथा

नाहीं रूप नाहीं नांव। नाहीं ठाव धराया।।
जेथें जावें तेथें आहे। विठ्ठल माय बहिण।।
नाहीं आकार विकार, चराचर भरलेंसे।।[5]

(न उसका कोई रूप है, न ठिकाना है। जहाँ जाता हूँ वहीं माँ-बहन के रूप में एक विठ्ठल को ही देखता हूँ। न उसका आकार है और न उसमें विकार है। (परन्तु वही सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त है।)

सन्त एकनाथ कहते है—

एका पाहतां एकपण। जन तोचि जनार्दन।[6]

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद २१६९।
२. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११८।
३. श्री एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृ० ८४।
४. तुकाराम वचनामृत, पृ० १४।
५. वही, पृ० १०३।
६. श्री एकनाथ, न० र० फाटक, पृ० ३४१।

(एक को देखते ही एक ही दृश्य दिखाई देती है। जो जन है वही जनार्दन है।)

त्रिगुणात्मक सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भक्त उसे अनेक नामों से सम्बोधित करता है तथा अनेक रूपों का उस पर आरोप करता है। वस्तुतः ये नाम और रूप दोनों मिथ्या हैं। इसे केवल ब्रह्मज्ञानी ही समझ सकता है, भक्त नहीं। वह तो इन्हीं नाम और रूप का आश्रय लेकर अपने इष्टदेव को अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध सूत्र में आबद्ध करके उसे सीमित कर देता है। इसीलिए नाम भक्ति का अनिवार्य लक्षण माना जाता है। भगवान् का नाम भक्त को केवल सांसारिक प्रलोभनों से छुड़ाकर भगवान् की ओर ही उन्मुख नहीं करता, वरन् वह भगवान् के प्रति भक्त का अनुराग बढ़ाने का प्रमुख और मूलभूत साधन भी होता है। इसीलिए कलियुग में हरिनाम-स्मरण को धर्म का एकमात्र साधन माना गया है। हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने नाम स्मरण को भक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। संत तुकाराम का कथन है—

भक्ति के साधन

> नामसंकीर्तन साधन पं सोपें। जळतील पापें जन्मांतरींचीं।
> न लगती सायास जावें वनांतरा। सुखें येतो घरा नारायण।
> ठायींच बैसोनि करा एकचित्त। आवडी अनंत आळवावा।
> रामकृष्ण हरिविठ्ठल केशवा। मंत्र हा जपावा सर्वकाळ।
> याविण आणीक असतां साधन। वाहातसें आण विठोबाची।
> तुका म्हणे सोपें आहे सर्वांहूनि। शाहाणा तो धनी घेतो येथें॥[१]

(नाम संकीर्तन सबसे सरल साधन है। इससे जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं। वन में जाने की आवश्यकता नहीं, स्वयं नारायण घर पर ही आ जाते हैं। घर पर बैठकर ही एक-चित्त होकर अनन्त की प्रार्थना कीजिए तथा सर्वदा 'रामकृष्णहरिविठ्ठलकेशव' मन्त्र का जप किया कीजिए, क्योंकि यही सबसे सरल साधन है। जो चतुर व्यक्ति इस रहस्य को समझते हैं वे इसीसे अतुल धन प्राप्त कर लेते हैं।)

हरिनाम के महत्व का प्रतिपादन करते हुए सूरदास कहते हैं—

> हमारे निधन के धन राम।
> चोर न लेत, घटत नहिं कबहूँ, आवत गाढ़ैं काम।
> जल नहिं बूडत, अगिनि न दाहत, है ऐसो हरिनाम।
> बैकुंठनाथ सकल सुखदाता, सूरदास सुख-धाम।[२]

तथा

> को को न तर्यो हरि-नाम लिए।[३]

नाम की महिमा मीरा के निम्नोक्त पद में भी प्रतिपादित हुई है—

> पिया थारे नाम लुभाणी जी।
> नाम लेतां तिरतां सुण्यां जग पाहण पाणी जी॥

१ श्री तुकारामांची गाथा (देवनीकर) अभंग २३५३।
२ सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ९२।
३ वही, पद ८६।

कीरत कांईरा किया, घणा करम कुमाणी जी।
गणका कीर पढ़ावतां, बैकुण्ठ वसाणी जी।
अरध नाम कुंजर लयां, दुःख अवध घटाणी जी।
गरुड़ छांड पग धाइयां, पुसुजूण पटाणी जी।
अजामेल अध ऊधरे, जम त्रास णसानी जी।
पूतनाम जस गाइयां, जग सारा जाणी जी।
सरणागत थे वर दिया, परतीत पिछाणी जी।
मीरां दासी रावली, अपणी कर जाणी जी॥[1]

संत एकनाथ कहते हैं—

नाम तें ब्रह्म। नामापाशीं नाहीं कर्म विकर्म।[2]

(नाम ही ब्रह्म है। नाम के सम्मुख कर्म और विकर्म का विचार ही नहीं रहता।)
तथा

'वेडें वांकुडें तुमचें नाम। गाईन सदोदित प्रेम'[3]

(मैं प्रेम से तुम्हारा नाम सर्वदा गाता रहूँगा चाहे टेढ़ा-मेढ़ा ही क्यों न हो।)

भक्ति के साधनों मे गुरु-भक्ति का भी अपना स्थान माना गया है। गुरु की कृपा के बिना भक्ति की प्राप्ति असम्भव है। गुरु ही भक्त को भगवद्नाम का मन्त्र देता है तथा उसका मार्ग-प्रदर्शन करता है। इस प्रकार गुरु भगवान् और भक्त के बीच की एक अनिवार्य कड़ी है, जिसके बिना भगवान् और भक्त का सम्बन्ध स्थापित हो ही नहीं सकता। गुरु के इसी असीम ऋण को सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने स्वीकार किया है। सूरदास ने गुरु की भक्ति को हरि की भक्ति के समान बताया है। वे कहते है—

गुरु प्रसन्न, हरि परसन होई। गुरु कैं दुखित दुखित हरि जोई।[4]

संत एकनाथ कहते हैं—

जनार्दनें भज केला उपकार। पाडिला विसर प्रपंचाचा[5]

(जनार्दन गुरु ने मुझ पर बड़ा उपकार किया, क्योंकि उन्हीकी कृपा से मैं प्रपंच से छुटकारा पा सका।)
तथा

माझा मीच देव माझा मीच देव। सांगितला भाव श्री गुरुनें।[6]

(मैं ही अपना देव हूँ यह भाव श्री गुरु ने ही मुझे बताया है।)

सद्गुरु की ही भांति भक्ति में एकान्त निष्ठा बनाए रखने के लिए सत्संग आवश्यक माना गया है। सांसारिक विषयों से बचने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसी संगति में रहा जाए जहाँ भक्ति-विरोधी परिस्थितियाँ न होकर भगवान् के गुणों का श्रवण, कीर्तन

१. मीरांबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४२-४३।
२. श्री एकनाथ, वाङ्मय आणि कार्य, न० रा० फाटक, पृ० ३३८।
३. वही, पृ० ३३१।
४. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ४१६।
५. एकनाथी गाथा, अभंग ३२३३।
६. वही, अभंग ३२७३।

तथा नाम स्मरण का वातावरण उपलब्ध हो। सत्सग की ही भाँति भक्त का सदाचारी होना अत्यन्त आवश्यक है। यह सदाचार बाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। सत्सग और सदाचार की इस महत्ता के कारण ही मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियो ने सत्सग और सदाचार को भक्ति का आवश्यक अग माना है। "सूरदास ने हरि भक्तों के सग की महिमा का अतिरजना के साथ प्रतिपादन किया है तथा इसी भाव से गोपियों के द्वारा सुत, पति, माता, पिता आदि परिजनो को त्याज्य कहलवाया है। सामान्यत उन्होने सदाचारी धर्मानुरागी व्यक्तियों की सगति को ही सत्सग माना है, सदाचारी व्यक्ति नि सन्देह हरिजन होते हैं।"[1]

हरिजनो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सत एकनाथ कहते हैं—

सत प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम। चालते बोलते परब्रह्म[2]

(सत प्रत्यक्ष चलते-बोलते परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं।)

तथा

सत येती घरा। तोचि दिवाळी दसरा[3]

(सतों का घर आना ही दिवाली-दशहरा है यानी भक्त के लिए त्यौहार है।)

सत तुकाराम तो पढरी-पथ के ककड-पत्थर बन जाना चाहते हैं जिससे वे सत चरणों का स्पर्श कर सकें। वे कहते हैं—

होईन खडे गोटे। चरण रज साने मोठे।
पढरीचे वाटे। सतचरणीं लागेन।[4]

(कितना अच्छा हो यदि मैं पढरी के मार्ग के छोटे-बडे ककड बनकर सत-चरणो का स्पर्श कर सकूँ।)

वे सतों के ऋण को स्वीकार करते हुए आगे कहते हैं—

काय सागों आतां सतांचे उपकार। मज निरन्तर जागविती।
काय द्यावें त्यांसी व्हावें उतराई। ठेविता हा पायीं जीव थोडा।
सहज बोलणें हित उपदेश। करुनि सायास शिकविती।
तुका म्हणे वत्स धेनुवेचें चित्तीं। तसे मज येती साभाळीत॥[5]

(सतों के मुझ पर किये हुए उपकारो की अब क्या चर्चा करूँ। वे तो मुझे निरन्तर जगाते रहते हैं। उनके ऋण से मुक्त होने के लिए मैं दे ही क्या सकता हूँ। यदि उनके चरणों पर अपना प्राण अर्पण करूँ तो वह भी बहुत थोड़ा है। तुकाराम कहते हैं कि सत जन बडे कष्ट से मुझे सिखाते और उपदेश देते रहते हैं। जिस प्रकार धेनु का चित्त अपने वत्स मे लगा रहता है उसी प्रकार सत लोग मेरा निरन्तर ध्यान रखते हैं।)

सदाचार और आत्मशुद्धि पर बल देते हुए सत तुकाराम कहते हैं—

---

१ सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० २०५ २०६।
२ श्री एकनाथ ज० र० फाटक, पृ० १६५।
३ वही, पृ० १६६।
४ श्री तुकारामगाथा (देवनीकर) अभंग ३१६७।
५ वही, अभग २८१४।

जाउनिया तीर्था काय तुवां केलें । चर्म प्रक्षाळिलें वरी वरी ।
अंतरींचें शुद्ध कासयाने झालें । भूषण त्वां केलें आपणया ॥[1]

(तीर्थ जाकर तुमने क्या किया ? शरीर को ऊपर-ही-ऊपर धोने से क्या उपयोग ? शरीर धोने से अन्तरतम शुद्ध थोड़े ही होता है और तुम हो जो तीर्थयात्रा करके प्रसन्न हो रहे हो ।)

कृष्ण-कवियों ने संकीर्तन को सत्संग का ही एक रूप माना है। कलियुग में कीर्तन ही सद्गति का एकमात्र साधन होने के कारण संत एकनाथ ने भागवत की रचना की। संकीर्तन की प्रथा महाराष्ट्र मे ही दृष्टिगत होती है। हिन्दी प्रदेश मे भजन-गायन को ही कीर्तन कहते हैं, परन्तु महाराष्ट्र में हरि की कथा गाकर कहने की एक परम्परागत विशिष्ट शैली रूढ़ हो गई है। एकनाथ का भागवत इसी परम्परा की पूर्ति करता है। कीर्तन के लिए गायन तथा वाद्य विशेष रूप से उपयोगी होते है, परन्तु इनके न होने पर भी कीर्तन हो सकता है। कीर्तन का उद्देश्य श्रोताओं को भगवान् के स्वरूप और कार्य का सच्चा ज्ञान करा देना मात्र है। इस कीर्तन से ही जनता-जनार्दन काम-क्रोधादि विकारो से मुक्त होकर निःस्वार्थ भाव से जीवन व्यतीत कर सकता है। जनता के पाप का क्षय और उसकी बौद्धिक उन्नति होने से ही सुखी समाज की स्थापना हो सकती है। मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझा था, इसीलिए कीर्तन द्वारा केवल आत्मोन्नति ही न करके उन्होंने उसे समाज-जागृति के लिए साधन बनाया। इन सभी कवियों ने अपनी-अपनी वाणी में कीर्तन की महत्ता प्रतिपादित की है।

संत एकनाथ कहते हैं—

एकोनि कीर्तनाचा गजर । ठेला यमलोकींचा व्यापार ।[2]

(कीर्तन की गूँज सुनकर यमलोक का सारा व्यापार रुक गया है।)

तुकाराम कहते हैं—

नामसंकीर्तन साधन पैं सोपें । जळतील पापें जन्मांतरींचीं[3]

संतों के आगमन को वे भगवान् के आगमन से भी श्रेष्ठ बताते हैं—

करितां देवार्चन । घरा आले संतजन ।
देव सारावे परते । संत पूजावे आरते ।[4]

(भगवान् की अर्चना करते ही संत घर पर आ गए हैं। अतः भगवान् को छोड़कर सबसे पहले संतों की ही पूजा करनी चाहिए।)

भक्ति-भाव को उद्दीप्त करने के लिए प्रभु के रूप और लीलाओं में आसक्ति अनिवार्य है। इसीलिए भक्त अपने प्रभु के रूप और लीलाओं का गुणगान करके इष्टदेव के विषय में अपने प्रेम को उद्दीप्त करता रहता है। रूप और लीलाओं की इस उपादेयता के कारण ही मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने अनेक पदों की रचना करके अपने आराध्य के रूप और लीलाओ का वर्णन किया है। कृष्ण की रूप-माधुरी का वर्णन करते हुए सूरदास

---

१. श्री तुकाराम गाथा (देवडीकर), अभंग १७५० ।
२. श्री एकनाथ, स० र० फाटक, पृ० ३३९ ।
३. श्री तुकाराम गाथा (देवडीकर), अभंग २३५३ ।
४. वही, अभंग ३०३ ।

कहते हैं—

मुख-छवि कहाँ कहाँ लगि माई।
भानु उदै ज्यों कमल प्रकासित, रवि ससि दोऊ जोति छपाई।
अधर बिम्ब, नासा ऊपर, मनु सुक चाखन कों चोंच चलाई।
विकसत बदन दसन अति चमकत, दामिनि-दुति दुरि देति दिखाई॥
सोभित अति कुंडल की डोलनि, मकराकृत अति सरस बनाई।
निसि दिन रटति सूर के स्वामिहिं, ब्रज-बनिता देहैं बिसराई॥[1]

अपने इष्टदेव नन्दलाल के रूप के विषय में यही आसक्ति मीरा के निम्नोक्त पद में भी अभिव्यक्त हुई है—

बस्या म्हारे णेणण मां नन्दलाल।
मोर मुगट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहां भाल।
मोहण मूरत सांवरा सूरत णेणा बण्या बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजां उर बजती माल।
मीरा प्रभु संतां सुखदायी, भगत बछल गोपाल॥[2]

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों की ही भांति मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने भी विट्ठल यानी श्रीकृष्ण का अतीव सुन्दर रूप-वर्णन किया है। इन भक्तों के किये हुए श्रीकृष्ण के रूप वर्णन के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

कासें कसिला पीताम्बर तयावरी मेखळा।
अंगी उटि चंदनाची शोभताती वनमाळा॥
बाहू बाहुवटे तें रूप सुतलें डोळा।
मन माझें मोहिलें दृष्टि देखता घननीळा॥[3]

—नामदेव

(श्रीकृष्ण ने कटि पर पीताम्बर कस रखा है और उस पर मेखला शोभायमान हो रही है। उनके शरीर पर चन्दन का लेप लगा हुआ है और वन्य-पुष्पों की मालाएं शोभायमान हैं। उनके बाहुओं पर भुज-बन्धों की शोभा आँखों मे समा गई है। बादल के समान नीलवर्ण श्रीकृष्ण ने अपने रूप से मेरा मन मोह लिया है।)

सुंदर तें ध्यान उभें विटेवरी। कर कटावरी ठेवूनियां॥
तुळसी हार गळा कासे पीताम्बर। आवडे निरंतर हेंचि ध्यान॥
मकरकुण्डलें तळपती श्रवणीं। कण्ठीं कौस्तुभमणि विराजित॥
तुका म्हणे माझें हेंचि सव सुख। पाहीन श्रीमुख आवडीनें॥[4]

—संत तुकाराम

(कटि पर हाथ रखे, इट पर खड़े हुए विट्ठल का यह ध्यान अत्यन्त सुन्दर है। व पीताम्बर

---

१ सूरसागर, ना० प्र० स० पद १२५७।
२ मीराँबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेद पृ० १०१ १०२।
३ नामदेवाचा अभंग गाथा (आवटे), अभंग २३०६।
४ श्री तुकाराम गाथा (देवडीकर), अभंग १४।

पहने हुए हैं तथा गले में तुलसी की माला है। यही ध्यान (मुद्रा) मुझे निरन्तर भाता है। कानों में मकराकृति कुंडल देदीप्यमान हो रहे हैं। गले में कौस्तुभ मणि विराजमान है। सन्त तुकाराम कहते है कि इस श्रीमुख को आनन्द से देखना ही मेरा सारा सुख है।)

भक्ति को एकनिष्ठ और तीव्रतर बनाने के लिए कृष्ण-भक्त कवियो ने उपासना के अन्य मार्गों का सब प्रकार से खण्डन किया है। अष्टछाप के कवियो के भ्रमर-गीतो में निराकार की उपासना और योग-मार्ग का बड़े ही सुचारु रूप से खण्डन हुआ है। सूर की गोपी कहती है—

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार-ज्ञान कह जानैं, कैसें ध्यान धराहीं॥
तेई मूंदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतें सुनी न जाहीं॥
स्रवन चारि सिर जटा बंधावहु, ये दुख कौन समाहीं॥
चंदन तजि अंग भस्म बतावत, बिरह-अनल अति दाहीं॥
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सो तौ है अप माहीं।
सूरस्याम तें न्यारी न पल-छिन, ज्यों घट तें परछाहीं॥[1]

नाम-रूप भक्ति को श्रेष्ठतर बताते हुए सन्त तुकाराम कहते है—

सकळहि तीर्थे प्रयाग काशी। करितां नामाची तुळेति ना[2]

(प्रयाग, काशी आदि सभी तीर्थ कर लेने से भी वे नाम-स्मरण की बराबरी नही कर सकते।)

भक्ति की परिपूर्णता साधन और साध्य की एकरूपता मे ही सम्पन्न होती है। अतः भक्त अपने आराध्य के प्रति अपनी भक्ति-भावना से किसी प्रकार के फल की अपेक्षा नहीं रखता। वह तो निरन्तर अपने प्रभु की भक्ति में ही लीन रहना चाहता है। फल के विषय में मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की भी यही दृष्टि रही है। सन्त तुकाराम कहते हैं—

भक्ति का फल

हेंचि दान दे गा देवा। तुझा विसर न व्हावा॥
गुण गाईन आवडी। हेंचि माझी सर्व जोडी॥
न लगे मुक्ति धन-सम्पदा। संतसंग देईं सदा॥
तुका म्हणे गर्भवासी। सुखें घालावें आम्हांसी॥[3]

(हे देव, मुझे यही दान दो कि मैं तुम्हारा नाम न भूलूं। तुम्हारा गुण-गान करना ही मेरी सारी सम्पदा है। न तो मुझे मुक्ति की चाह है और न धन-सम्पदा की। मुझे तो केवल सत्संग देते रहो। सत्संग और तुम्हारे गुणगान के लिए, तुकाराम कहते हैं, मुझे खुशी से गर्भवास प्रदान करो। (भावार्थ है : तुम्हारी भक्ति और सत्संग के लिए मैं बारम्बार जन्म लेने के लिए तैयार हूँ।)

भक्ति के फल की ओर सूरदास की दृष्टि को लेकर डॉ० व्रजेश्वर वर्मा लिखते है—

---

१. सूरसागर सार, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १७२।
२. श्री तुकारामांची गाथा (देवदीकर), अभंग २२१४।
३. वही, अभंग २२२३।

"सूरदास ने भक्ति के किसी फल का निर्देश नहीं किया। स्वयं भक्ति में इतना सम्मोहन और प्रलोभन है कि उसके लिए उन्होंने इतर प्रलोभनों की आवश्यकता नहीं समझी। 'विनय' के पदों तथा 'भागवत' के कथा प्रसंगों में अवश्य सूरदास ने भव-सागर से तारने तथा वैकुंठ, निर्वाण और हरि-पद प्रदान करने आदि की याचना की है। परन्तु इन सब याचनाओं का स्थान भक्ति की याचना के समक्ष नगण्य है, क्योंकि सूरदास निरन्तर यही कहते जाते हैं कि भगवान् मुझे अपनी भक्ति दो, मेरी और कुछ भी रुचि नहीं है। सूरदास की भक्ति स्वतः पूर्ण है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर किसी अन्य प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती। भक्ति ही भक्ति का फल है। कृष्ण-लीला-वर्णन में सूरदास ने भक्ति का परिपूर्ण रूप प्रस्तुत किया है। जहाँ भक्त को ब्रह्म के परमानन्द रूप का साक्षात्कार ही नहीं, उसके लीला सुख में सम्मिलित होने का सुयोग मिलता है। गोलोक के इसी लोकोत्तर सुख को भक्त अपना सर्वोच्च आस्वादय मानता है, जहाँ वह आनन्दरूप से पल मात्र वियुक्त न हो सके। भक्ति की सिद्धि इसी सुख की प्राप्ति में है, अतः भक्ति ही सूरदास के भक्ति-धर्म का अंतिम लक्ष्य है। उनकी भक्ति निर्गुण है जिसमें कोई कामना, कोई अभीष्ट नहीं है।"[1]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और मराठी कृष्ण भक्ति-काव्य में भक्ति की प्रतिष्ठापना एवं उसका स्वरूप लगभग एक-सा ही रहा है। यदि कुछ अन्तर है तो वह केवल भक्ति की सीमाओं में। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति अपने इष्टदेव तथा उनसे सम्बन्धित वस्तुओं तक ही सीमित है, परन्तु मराठी के कृष्ण भक्त कवियों की दृष्टि में सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उस निराकार ब्रह्म का ही सगुण रूप होने के कारण उन्होंने सारे विश्व को ही प्रभु का व्यक्त रूप माना है। सन्त तुकाराम का कथन है—

> आतांक दुसरें मज नाहीं आतां। नेमिलें या चित्तापासुनियां ॥
> पांडुरंग ध्यानीं पांडुरंग मनीं। जागृतीं स्वप्नीं पांडुरंग ॥[2]

(अब मेरे लिए दूसरा कुछ भी शेष नहीं रह गया है। मेरा तो सारा चित्त पांडुरंग की ओर लगा हुआ है। मन में ध्यान में, जागृत अवस्था में तथा स्वप्न में मैं एक पांडुरंग को ही देखता रहता हूँ।)

इस सम्बन्ध में एक और बात भी महत्वपूर्ण है। वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय में सर्वप्रथम माधुर्य भाव को ही स्वीकार किया था, परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ ने कान्ताभाव को अपनाया जिसका परिणाम अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर पड़ा। इस सम्बन्ध में डॉ० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है—'वल्लभाचार्यजी ने पहले माहात्म्य ज्ञानपूर्वक वात्सल्य भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तर जीवन-काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथजी ने किशोर-कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति पद्धति में कर लिया।'[3] इस प्रकार हिन्दी के कृष्ण-काव्य में वात्सल्य और कान्ताभाव की भक्ति के दर्शन होते हैं, परन्तु मराठी कृष्ण-काव्य में अधिकतर दास्य भाव ही व्यक्त हुआ है।

---

१ सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० २०१।
२ श्री तुकारामगाथा (जोग), अभंग ३४०।
३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५२७।

दार्शनिक दृष्टि

हिन्दी के अधिकतर कृष्ण-भक्त कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे। वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में, जिसमें ब्रह्म माया-शबल माना गया था, शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की थी। इसमें ब्रह्म माया-सम्बन्ध से रहित होने के कारण ही शुद्ध कहा गया है। माया-रहित ब्रह्म ही एक-मात्र अद्वैत तत्त्व है। शेष सारा प्रपंच उसकी लीला है। वल्लभाचार्य ने 'ब्रह्मविद्या' में श्रुति-स्मृति को ही एकमात्र प्रमाण माना है। उनके विचार में युक्ति या अनुमान से ब्रह्म का निरूपण नहीं किया जा सकता। श्रुति और स्मृति के अनुसार सब-कुछ ब्रह्म ही है। वही गीता का पुरुषोत्तम, उपनिषदों का ब्रह्म और भागवत के श्रीकृष्ण हैं। वह सविशेष है, पर निर्विशेष भी है; सगुण हैं, पर निर्गुण भी है; अणु है पर महान् भी हैं, चल हैं पर कूटस्थ या अचल भी है, गम्य हैं, पर अगम्य भी है। वे विरुद्ध धर्मों या गुणों के आश्रय है। वे सत्, चित् और आनन्द है। उनके सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न हैं, वे उनकी शक्ति या माया नहीं हैं। उनके स्वरूप से ही (शक्ति या माया से नहीं) समस्त जगत् आविर्भूत होता है और ऐसा होने पर भी वह अविकृत रहता है। जगत् कार्य रूप से ब्रह्म ही है। इस ब्रह्म के तीन रूप हैं—परब्रह्म या पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्म। पहला ब्रह्म का आधिदैविक और तीसरा आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। अन्तर्यामी सर्वत्र आत्माओं में निवास करता है। परब्रह्म आनन्दघन है और अक्षर ब्रह्म आनन्दलेश है। अक्षर ब्रह्म चार रूप धारण करता है—अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव। अक्षर रूप पुरुष तथा प्रकृति के रूप में प्रकट होता है और यही प्रत्येक वस्तु का उपादान और निमित्त कारण बनता है।"[1] अष्टछाप के कवि भक्त और कवि ही अधिक थे, सिद्धान्तवादी नहीं। इसीलिए इन कवियों ने वल्लभाचार्य द्वारा निरूपित ब्रह्म का सम्यक् विवेचन नहीं किया। नन्ददास की 'रास-पंचाध्यायी' में दार्शनिक निरूपण भी हुआ है।

ब्रह्म

सूरदास और अष्टछाप के अन्य भक्त-कवियों के कृष्ण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, घट-घट-वासी, अन्तर्यामी, अजर, अनन्त और अद्वैत है। उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। वे स्वयं ज्योतिर्मय होकर सबमें प्रकाशित हैं तथा समस्त सत्ता और चेतना के आगार हैं। सूरदास के कृष्ण केवल सद्-चिद्-अक्षर-ब्रह्म ही नहीं, परमानन्द रूप भी हैं। परमानन्द रूप परात्पर ब्रह्म को केवल नित्य, लोकातीत वृन्दावन में नित्य लीला करने वाले कृष्ण के रूप में कल्पित किया गया है। ये परमानन्द रूप कृष्ण विष्णु के अवतार न होकर स्वयं अवतारी हैं। "वे ब्रह्म और रुद्र से महान् हैं ही, क्षीर-सागर-शायी विष्णु भी उनके वृन्दावन सुख के लिए ललचाते रहते हैं। ब्रह्म के आनन्द रूप की अनुभूति दुर्लभ है ही, उसका वर्णन और भी दुर्लभ है। उस रहस्यमय का आभास देने के लिए ही रास का वर्णन किया गया है, उसी-को और अधिक विशद रूप में व्यक्त करने के लिए हमारे कवि ने राधा-कृष्ण-केलि, हिंडोर-लीला और वसन्त-लीला का वर्णन किया है।"[2]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६६-६७।
२. सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १४६।

सूर के कृष्ण भक्त वत्सल कृष्ण हैं। उनका अनुग्रह कारण रहित है। उनका अनुग्रह प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। सूर के कृष्ण आदि-पुरुष हैं और राधा आदि प्रकृति। लीला सुख के लिए पुरुष और प्रकृति का अभिन्न सम्बन्ध राधा को विस्मृत हो जाता है। अतः वह कृष्ण व प्रेम की प्राप्ति का प्रयत्न करती हुई दिखाई गई है। वह उस प्रेम का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करती है जिसमें मानवीय सम्बन्धों की दृष्टि से सबसे अधिक घनिष्ठता और तल्लीनता होती है। स्थान स्थान पर कवि ने स्वयं कृष्ण के मुख से उसके और कृष्ण के अभेद का कथन करवाया है। उसने विस्तार के साथ राधा और कृष्ण के गुप्त प्रेम, उनके अलौकिक सुख विलास, उनके विवाह और अंत में उनके कीट-भृंग की तरह परस्पर तद्रूप हो जाने का वर्णन किया है।[१] सूरदास ने कृष्ण की लीलाओं में धर्म स्थापना विषयक कृत्यों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया है, यद्यपि श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> नैननि निरखि स्याम-स्वरूप।
> रह्यो घट घट व्यापि सोई, जोति-रूप अनूप
> चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
> सूर-चन्द्र-नक्षत्र-पावक, सब तासु प्रकास।[२]

'हरिजू की आरती बनी'[३] में भी इसी विराट रूप का वर्णन है। कच्छप के 'अघ-आसन', शेष फन की 'डांडी', मही का सराव', सप्तसागर का 'घृत', शैल की 'बाती', रवि शशि की 'ज्योति', तारागण के 'फूल', घटाओं के 'अंजन'—आरती के समस्त उपकरण व्यापक दृष्टि से ही जुटाये गए हैं।[४] सूर के कृष्ण अलख निरंजन, निर्विकार, अच्युत, अविनाशी हैं। ब्रह्मा, शेष और अन्य देवता उनकी सेवा करते हैं। माया उनकी दासी है और उन्होंने धर्म स्थापना के लिए नर का अवतार लिया है। फिर भी नारद के मन में कृष्ण की सोलह हजार नारियों के प्रति संदेह उत्पन्न होते ही कृष्ण अपना व्यापक रूप दिखाकर नारद का सन्देह दूर कर देते हैं। वे कहते हैं 'तुम्हें भ्रम हो गया है। मैं सब जगत् में व्यापक हूँ। वेदों ने इसका वर्णन किया है। मैं ही कर्ता और भोक्ता हूँ। मेरे सिवा और कोई है ही नहीं।'[५]

सूर के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। ब्रज लीलाओं के द्वारा कवि ने अद्वैत ब्रह्मरूपी कृष्ण के आनन्द-रूप की व्याख्या की है। यद्यपि कृष्ण ने पूतना, बकासुर, शकटासुर, यमलार्जुन, वत्सासुर आदि का उद्धार करके अपनी भक्तवत्सलता प्रमाणित की है, परन्तु कवि ने अपने वर्णनों में इन उद्धार-कार्यों का स्थान गौण रखा है और कृष्ण के सुंदर बाल एवं किशोर रूप की सुकुमारता से इन दुष्कर कार्यों की असंगति दिखाते हुए विस्मय और आश्चर्य भी प्रकट किया है। इसी प्रकार कृष्ण की रति-क्रीडाओं में भी कवि ने आध्यात्मिक संकेत दिए हैं।

---

१ सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १८६।
२ सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ३७०।
३ वही, पद ३७१।
४ सूरदास, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० १८८।
५ सूरसागर, पद ४८२८।

सूर के विनय-सम्बन्धी पदों में श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता और भक्त की दीनता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण की यह कृपा व्रज-लीलाओं में प्रेम का रूप धारण कर लेती है। वृन्दावन और व्रज के आध्यात्मिक रहस्य की ओर सूरदास ने अनेक बार संकेत किया है। वे कहते हैं—

वृन्दावन मोकों अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल, श्रीदामा, व्रज तें बन गौ-चारन आवत।
कामधेनु सुर तरु सुख जितने, रमा सहित बैकुंठ भलावत।
इहिं वृन्दावन, इहिं जमुना-तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत।
पुनि-पुनि कहत स्याम श्रीमुख सौं, तुम मेरे मन अतिहिं सुहावत।
सूरदास सुनि ग्वाल-चकृत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत।[1]

सूरदास की ही भाँति अष्टछाप के अन्य कवियों के भी कृष्ण आनन्द-रूप ही चित्रित हुए हैं। सम्भवतः लोकरंजन की दृष्टि से यही उनका अभीष्ट भी था। आनन्द रूप की पूर्ति के लिए ही इन कवियों ने राधा को व्रज की आनन्दमयी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

मीरां ने परब्रह्म को सगुण और निर्गुण एक साथ दोनों माना है। एक ओर वे वैराग्य साधने का उपदेश देती है तो दूसरी ओर भगवान् के ऐश्वर्यशाली सगुण रूप का बखान करती हैं। जैसे—

हरि हितु से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दास मीरां लाल गिरधर सहज कर वैराग।[2]

तथा—

म्हांरो प्रणाम बांके विहारीजी।
मोर मुगट माथ्यां तिलक विराज्यां, कुण्डल अलकांरी जी।
अधर मधुर धर बंशी बजावां, रीझ रिझावां व्रजनारी जी।
या छब देखयां मोह्यां मीरां, मोहन गिरवरधारी जी॥[3]

महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ ने जीव, प्रपंच, देवता तथा परमेश्वर ये चार स्वतंत्र पदार्थ माने हैं। ये चारों पदार्थ अनादि और अनन्त हैं। इनमें से किन्हीं भी दो पदार्थों का एकीकरण असम्भव है। इस दृष्टि से यह पंथ पूर्ण द्वैतवादी कहा जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अन्तिम सत्य माना गया है तथा ईश्वर उसका गौण स्वरूप है। परन्तु महानुभाव पन्थ ने ईश्वर को प्रमुख स्थान देकर ब्रह्म को उसी का एक भाग माना है। उनके मतानुसार ईश्वर अनादि, नित्य, अव्यक्त, स्वयंप्रकाश, सर्वव्यापक, ज्ञानमय, आनन्दमय, सर्वसाक्षी तथा सर्वकर्त्ता है। वह निर्गुण भी है और सगुण भी। ईश्वर का निर्गुण, अविक्रिय तथा अव्यक्त अंग ही ब्रह्म है। जीवों के उद्धार के लिए ही परमेश्वर अवतार लेता है। वह जीव को जीव, देवता, प्रपंच और परमेश्वर का सच्चा स्वरूप समझाकर शाब्दिक ज्ञान का बोध कराता है। महानुभाव पन्थ के कृष्ण-काव्य में इन्हीं सिद्धान्तों पर

---

१. सूरसागर, पद १०६७।
२. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद १५८।
३. वही, पद २।

आधारित परमेश्वर का निरूपण हुआ है। परन्तु वारकरी-सम्प्रदाय ने, जिसमें सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ नामदेव, तुकाराम आदि उल्लेखनीय हैं अद्वैतवाद को ही स्वीकार किया है। ज्ञानेश्वरी के आरम्भ में ही सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

ओं नमोजी आद्या। वेदप्रतिपाद्या।
जय जय स्वसंवेद्या। आत्मरूपा।[1]

(हे आद्य वेदों के प्रतिपाद्य, स्वयंप्रकाश एवं आत्मरूप, तुम्हें नमस्कार है।)

सन्त ज्ञानेश्वर के मतानुसार जानने वाला तथा वह, जिसे जाना जाता है, इन दोनों का अधिष्ठान केवल ज्ञान होता है। यह ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है तथा उसे सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि ये सब प्रमाण भी इसी स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप पर अवलम्बित रहते हैं। इस ज्ञान के उदर में ही अणुरेणु से लेकर अनन्त ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं। यही ज्ञान परमात्मा है। सन्त तुकाराम कहते हैं—

अणुरेणुपाती ब्रह्मांडाच्या कोटी। ज्ञानाचिये पोटीं दिसे अवघा।[2]

(ज्ञान के भीतर विश्व अणुरेणु-सहित करोड़ों ब्रह्माण्ड दिखाई देते हैं।)

वे आगे कहते हैं—

तुका म्हणे ज्ञान तोचि नारायण। जाणती सज्ञान गुरुपुत्र।
तुका म्हणे ज्ञान विठ्ठलचि पूर्ण। सर्व अणुरेणु व्यापलेंन॥

(तुकाराम कहते हैं ज्ञान ही नारायण है। इसे ज्ञानी गुरुपुत्र समझते हैं। ज्ञान विठ्ठल से परिपूर्ण है और वहीं अणुरेणु के व्यापारों का कारण है।)

नामदेव का कथन है—

आपुलीच आवडी पाहसि खेळिया।
आपणापासूनि व्याले रे॥[3]

(अपनी ही इच्छा से भगवान यह सब खेल खेल रहा है तथा अपने से ही यह सब सृष्टि उसने उत्पन्न की है।)

श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार पुरुष या जीव अनन्त है। परिमाण में प्रत्येक अणु है। वह ज्ञाता कर्ता और भोक्ता है। वह सत्, चित् और आनन्द भी है। ईश्वर की

जीव

कृपा होने से ही जीव दुःख के बन्धन से मुक्त हो जाता है। मुक्तावस्था में जीव और ईश्वर का वास्तविक ऐक्य हो जाता है। उन्होंने जीवों की तीन कोटियाँ मानी हैं—पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह। जो जीव निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं वे हैं प्रवाह जीव। जो वेदविहित मार्ग का अनुसरण करके ईश्वर की पूजा करते हैं वे मर्यादा जीव हैं। ईश्वर से अनन्य प्रेम करने वाले ईश्वर की कृपाप्राप्त जीव ही पुष्टि जीव हैं। प्रवाह जीव सदैव जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं। मर्यादा जीव कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग से क्रम मुक्ति प्राप्त करते हैं तथा क्रमशः

१ ज्ञानेश्वरी, अध्याय १।
२ महाराष्ट्रातील पाच सम्प्रदाय ह० श्री० ढेरे/जोशी, पृ० १०६।
३ वही।

पितृयान, देवयान और कैवल्य को प्राप्त करते हैं। भक्ति-मार्ग के अवलम्ब से इन्हें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। मर्यादा-भक्ति, ईश्वर-प्रेम में नवधा-भक्ति का फल होता है। पुष्टि-भक्ति में ईश्वर-प्रेम ही सब आध्यात्मिक कार्य-कलापों का अर्थ और हेतु होता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का ही एक अंश है जो भगवद्-कृपा से समस्त दुःखों के बन्धनों से मुक्त होकर भगवान् ही में मिल जाता है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-भक्ति को भी चार प्रकार का माना है—प्रवाहपुष्टि-भक्ति, मर्यादापुष्टि-भक्ति, पुष्टि-पुष्टि-भक्ति और शुद्धपुष्टि-भक्ति। प्रवाहपुष्टि-भक्ति उन लोगों की है जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी ईश्वर की भक्ति करते हैं। मर्यादापुष्टि-भक्ति उन लोगों की भक्ति है जो भोग-विलास से विमुख होकर, विरक्त भाव से ईश्वर का गुणगान, कीर्तन, चिन्तन आदि करते हैं। पुष्टिपुष्टिभक्ति करने वाले जीव ईश्वर की कृपा से ही पहले भक्त बनते हैं और फिर दुबारा ईश्वर की कृपा प्राप्त करके ज्ञान के अधिकारी बनते हैं। शुद्धपुष्टि-भक्ति उन लोगों की भक्ति है जो ईश्वर से केवल प्रेम ही करते हैं। यह भक्ति भक्त के हृदय में स्वयं भगवान् ही पैदा करते हैं। इसके तीन सोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन।[1]

अष्टछाप के कवियों ने श्री वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार जीव को भगवान् का ही एक अंश माना है और ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर के विषय में सूरदासजी ने अनेक संकेत किये हैं, परन्तु जीव के विषय में उतने नहीं। जीव को उन्होंने साधारण रूप से माया से आवृत माना है। श्री वल्लभाचार्य की ही भाँति सूरदास ने भी जीवों की तीन कोटियों की ओर संकेत किया है—उनका सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया। शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन उन्होंने भगवान् की नित्य-लीला के सम्बन्ध में और संसारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में किया है। अविद्या और माया को उन्होंने स्वरूप-विस्मृति का कारण माना है। माया के न होने से ब्रह्म और जीव में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा।[2] माया के कारण ही जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है। जैसे—

> **आपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।**
> **जैसें स्वान काँच-मन्दिर में, भ्रमि-भ्रमि भूलि पर्यौ।**
> **ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिर्यौ।**
> **ज्यौं सपने में रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्यौ।**
> **ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै, आपुन कूप पर्यौ।**
> **जैसे गज लखि फटिकसिला में, दसननि जाइ अर्यौ।**
> **मर्कट मूँठि छाँडि नहीं दीनी, घर-घर-द्वार फिर्यौ।**
> **सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनै पकर्यौ॥**[3]

संसारी जीवों की दुर्गति और दुःखों का वर्णन भी सूरदास ने बड़े ही विस्तार से किया है। ईश्वर की कृपा से जब ये जीव माया से छुटकारा पा जाते हैं तब वे मुक्त हो जाते हैं तथा उनमें आनन्द का उद्रेक होता है। अविद्या के कारण ही जीव इस आनन्द से विमुख

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६७-६८।

२. सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ३८१।

३. वही, पद ३६९।

रहता है। अविद्या के दूर होते ही जीव को अपना ज्ञान हो जाता है—

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ।[1]

जीव के सम्बन्ध में सूरदास ने भावी की प्रबलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म गति माना है। तीनों लोक उसीके वश में हैं और उसीके अधीन होकर सुर और नर देह धारण करते हैं—

भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह राहु, कहाँ वे रवि ससि, आनि संजोग परै।
मुनि बसिष्ट पंडित अति ज्ञानी, रचि-पचि लगन धरै।[2]

जीव के लिए वे भगवद्भजन को ही कल्याणकारी मानते हैं। वे कहते हैं—

सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जनम गवावै।

महानुभाव पंथ के कृष्ण भक्त कवियों ने पंथ सिद्धान्त के अनुरूप जीव को परमेश्वर से पृथक् पदार्थ माना है। जीव अनादि है, अनन्त है। मूलतः जीव स्फटिक के समान शुभ्र है, परन्तु अविद्या के कारण उस पर कालिमा छाई रहती है। जीव को बद्ध मुक्त कहा गया है। यह बद्धत्व अविद्या के कारण ही होता है फिर भी जीव अविद्या से मुक्त होकर ईश्वर स्वरूप का आनन्द भोग सकता है। इसीलिए उसे बद्ध मुक्त कहा गया है—

बद्ध मुक्त जीव[3]

इस बद्धावस्था से केवल परमेश्वर ही जीव को मुक्त कर सकता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि वह परमेश्वर की कृपा प्राप्त करे।

मग परमेश्वर तेयासी कृपा करीति, मग परमेश्वर आपुलिया
कृपा-शक्ति करुनि तेयाची अनादि अविद्या-छेदु करीति
मूलविद्या-छेदु करीति अज्ञान-छेदुकरीति।

(फिर परमेश्वर उस पर कृपा करते हैं, अपनी कृपा-शक्ति से उसकी अनादि विद्या का छेदन करते हैं, मूल विद्या का छेदन करते हैं, अज्ञान का छेदन करते हैं।)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों की ईश्वर और जीव-सम्बन्धी धारणाओं से मराठी के महानुभाव पन्थ के कृष्ण-कवियों की धारणाएँ भिन्न हैं। परन्तु वारकरी सम्प्रदाय के कृष्ण-कवियों ने ईश्वर और जीव का जो स्वरूप निर्धारित किया है वह हिन्दी-कृष्ण भक्ति कवियों की कल्पना से मिलता जुलता है। वारकरी-सम्प्रदाय जीव को परमात्मा में अवस्थित उसीका एक अंश मानता है। संत ज्ञानेश्वर का कथन है—

पं परमाणु भूतलीं। हिमकणु हिमाचलीं। मजमाजीं न्याहालीं।
म्हणु तसे। हो का तरंगु लहानु। परी सिंधुसि नाहीं भिन्नु।

---

1 सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ४०७।
2 वही, पद २६४।
3 सत्पाय ह० ना० नेने विचार ४५।

तैसा ईश्वरीं भी आनु । नोहेचि मा ॥[1]

(पृथ्वी का अल्प परमाणु जिस प्रकार पृथ्वी रूप है अथवा बर्फ़ के पर्वत का छोटा-सा कण जिस प्रकार बर्फ का पर्वत रूप है, उसी प्रकार तुम अपना अपनत्व मुझी में देखो। सागर की छोटी-सी लहर भी सागर से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर रूपी मुझमें दूसरा और कोई भी नहीं है।)

जीव विश्व का अनुभव करता रहता है। पदार्थ पदार्थ का अनुभव नहीं कर सकता। यह अनुभव लेने का केन्द्र-स्थान मनुष्य-जीवन ही हो सकता है। इसीलिए संत तुकाराम कहते हैं—

जल न खाती स्या जलां। वृक्ष आपुलियां फलां।
भोगिता निराला। तेणें गोडी निवडिली॥

(जिस जल को जल नहीं पीता। वृक्ष अपने फलों को नहीं खाता। इनका आस्वादन करने वाला कोई और ही (जीव) होता है, वही इनकी मिठास जानता है।)

जीव प्रत्येक पदार्थ का अनुभव लेता है, परन्तु जिस परमात्मा ने उस पदार्थ का निर्माण किया है उसके प्रेम का अनुभव पदार्थ के अनुभव के साथ करना जीव का कर्तव्य है। अनुभव लेने की इस पद्धति को ही 'स्मरण' या 'नामस्मरण' कहा गया है। नामस्मरण की महिमा वारकरी सम्प्रदाय के सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने गाई है। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

हरि मुखें म्हणा, हरि मुखें म्हणा, पुण्याची गणना कोणकरी॥

(मुख से हरिनाम का जप करते रहिए। पुण्य की गणना कौन करे, अर्थात् पुण्य की गणना न कीजिए।)

संत एकनाथ का कथन है—

आवडीनें भावें हरिनाम घेसी। तुझीचिन्ता त्यासी सर्व आहे॥

(तुम खुशी और भावुकता से हरिनाम लेते हो, तुम्हारी सब चिन्ता उसीको है।)

हरिनाम की महिमा प्रतिपादित करते हुए संत तुकाराम कहते हैं—

नाम संकीर्तन साधन पै सोपें। जलतील पापें जन्मांतरिची॥

(नाम संकीर्तन सबसे सरल और साध्य उपाय है। इसीसे तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के पाप भस्म हो जाएँगे।)

इन कवियों ने जीव का ध्येय मोक्ष न मानकर भक्ति माना है। भक्ति मोक्ष से श्रेष्ठ पंचम पुरुषार्थ है। संत तुकाराम कहते है—

मोक्ष पद तुच्छ केलें या कारणें। आम्हां जन्म घेणें युगायुगी

(हमें भक्ति करने के लिए) युग-युग मे जन्म लेना है। इसीलिए हम मोक्ष को तुच्छ मानते हैं।)

परमात्मा केवल प्रेम से ही वश में किया जा सकता है। इसीलिए ज्ञानेश्वरी में कहा गया है—

---

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १४, अभंग ३८५-८६।

पैं मद्भक्ता आत्मे रावों। आदरणें विण सौरसु नाहीं।
मी उपचारें कवणाहि। नाकळें मा ।।[1]

(हे अर्जुन, भक्त द्वारा अपनी आत्मा मुझे अर्पण किये बिना मुझे आनन्द नहीं होता। मैं अन्य किसी भी उपाय से किसी के भी वश नहीं होता हूँ।)

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने माया को ईश्वर की ही शक्ति माना है। वल्लभाचार्य ने माया को सत्य तथा भ्रम दोनों माना है। माया स्वयं ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा है और उसके दो स्वरूप हैं—विद्या और अविद्या। शंकराचार्य के

माया

मतानुसार अविद्या का नाश होते ही जीव और जगत् दोनों की सत्ता का लोप हो जाता है, परन्तु वल्लभाचार्य के मतानुसार अविद्या का नाश होने पर भी जीव और जगत् की स्थिति बनी रहती है।

अष्टछाप के कवियों ने माया का वर्णन अनेक रूपों में किया है। यह माया-नटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को अनेक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती रहती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् को विविधताओं से परिपूर्ण करता है। ईश्वर की गति माया ही है। विनय के पदों में भक्त-कवि सूरदास ने माया का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। यह माया सभी को ठगती रहती है। नारद जैसे महाज्ञानी शंकर और ब्रह्मा भी इससे नहीं बच पाए हैं। सूरदास कहते हैं—

हरि, तुव माया को न बिगोयौ ?[2]

सूरदासजी माया को हरि की ही माया मानते हैं—

तुम्हारी माया महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौ (हो)[3]

माया का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है—

अब हौं माया हाथ बिकानौ।[4]

सूरदास ने माया को मोहिनी, भुजंगिनी, नटिनी आदि नामों से सम्बोधित किया है तथा उसे अविद्या और तृष्णा कहकर अनेक रूपकों की योजना की है। अविद्या को गाय बताकर वे अपनी इस गाय को गोकुलपति के गोधन में मिलाना चाहते हैं। सूरदास कहते हैं—

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तें आप-आगे दई, लै आइये चराइ।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरत बेद-बन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह।[5]

यह अविद्या भ्रान्ति के समान है जो जीव को भ्रम में डालती रहती है—

---

१ ज्ञानेश्वरी, अध्याय ९, श्लोक १६७।
२ सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ४३।
३ वही, पद ४४।
४ वही, पद ४७।
५ वही, पद ५१।

माधौ, नेकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ-पथ, अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम-दलि खाइ।
अष्ट दस-घट नीर अंचवति तृषा तऊ न बुझाइ।
छहौं रस जौ धरौं आगें, तउ न गन्ध सुहाइ।
और अहित अभच्छभच्छति, कला बरनि न जाइ।[1]

माया के कारण ही जीव भगवान् को भूलकर मोह में पड़ा रहता है। भगवान् पास रहने पर भी उन्हें नहीं पहचान पाता। जिस प्रकार—

ज्यों मृग नाभि-कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत।[2]

माया और जीव में इतना ही अन्तर है कि माया चैतन्य-रहित है और जीव चैतन्य-युक्त। माया के कारण ही यह संसार सत्य प्रतीत होता है। यह माया अत्यन्त अगम्य है। सूरदास जी श्रीकृष्ण से कहलाते हैं—

मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार[3]

माया-विषयक महानुभाव पन्थ के कवियों की कल्पना इससे कुछ भिन्न रही है। उनके मतानुसार माया देवता-समूहों में सबसे ऊपर है और सभी देवताओं को व्याप्त किये हुए है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सहित सभी देवता इसी माया के अधीन हैं। उसकी स्वरूप-मर्यादा अगणित है। इसीको चैतन्य देवता भी कहा गया है। परमेश्वर की कृपा से अविद्या का नाश होकर जब जीव मोक्ष प्राप्त करता है तो माया क्रुद्ध होकर उदासीन हो जाती है—

माया कोपोनि उदासीन होए[4]

(माया क्रुद्ध होकर उदासीन हो जाती है।)

वारकरी कवियों ने माया अथवा सम्पूर्ण सृष्टि को ज्ञानस्वरूप परमात्मा की ही स्फूर्ति माना है। यह विश्व चैतन्य परमात्मा की ही क्रीड़ा या विलास है। जगत्-रूप में व्यक्त परमात्मा का स्वरूप आवृत्त न होकर अधिक शोभायमान दिखाई देता है। यह जगत् भगवान् का ही प्रकाश है और इसलिए उसकी उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जालेनि जगें मी झांके। तरी जगत्वें कोण फांके।
किलेवरी माणिकें लोपिजे काई।[5]

(उद्भूत जगत् से यदि मैं ही ढँक जाऊँ तो जगरूप में कौन प्रकाशित होगा। माणिक के तेज से माणिक का लोप नहीं होता।)

इसीलिए मराठी के कृष्ण-भक्त कवि संसार से दूर परमात्मा को देखने का प्रयास नहीं करते। संत तुकाराम कहते हैं—

---

१. सूरदास, ना० प्र० स०, पद ५६।
२. वही, पद ४६।
३. वही, पद ११११०।
४. सूत्रपाठ, सं० ह० ना० नेने, उद्धरण, ४६।
५. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १४, अभंग १२३।

आवडी धरोनि आले ते आकारा। केला हा पसारा याच साठीं ॥

(भगवान् ने अपनी खुशी से ही यह रूप धारण किया है और इसीलिए यह प्रपंच रचा है।)

संत एकनाथ ने माया को 'मूल माया' कहा है।[1] उनके मतानुसार जीव की अज्ञान दशा माया के प्रभाव से ही प्राप्त होती है। यह माया जीव और ब्रह्म के बीच में परदे के समान विद्यमान रहती है तथा इस प्रकार उनके भेद का अनुभव कराती है। जीव और विश्व की परस्पर भिन्नता उत्पन्न करने वाली शक्ति ही 'मूल माया' है। माया का स्वरूप-वर्णन असाध्य होने के कारण ही उसे अविद्या कहा गया है। एक सुन्दर स्त्री के विवाह प्रपंच के रूपक द्वारा संत एकनाथ ने माया का प्रभाव दिखाया है।[2] माया का निराकरण एक ब्रह्म ज्ञान से ही हो सकता है, परन्तु ऐसा ब्रह्म ज्ञान भक्ति का पोषक होता है, क्योंकि बिना भगवद्भजन के ब्रह्म ज्ञान कैसे हो सकता है। इसीलिए संत एकनाथ कहते हैं—

ऐसें जें ब्रह्मज्ञान। तें भक्तिचें पोषण जाण।
न करितां भगवद्भजन। ब्रह्मज्ञान कदा नुपजे।[3]

(ऐसा ब्रह्मज्ञान भक्ति का पोषण करता है। बिना भगवद्भजन के ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता।)

परमात्मा के विषय में जो योगमाया है वही जीव के सम्बन्ध में अविद्या है। इसलिए संत एकनाथ कहते हैं—

शिवीं जे योगमाया विख्याती। जीवीं तीतें अविद्या म्हणती।[4]

(परमात्मा की जो विख्यात योगमाया है वही जीव की अविद्या है।)

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यदि महानुभाव पंथ के कृष्ण-काव्य को अपवाद मान लिया जाए (जो मूलतः निवृत्तिपरक सिद्धान्तों पर आधारित है) तो मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति, ब्रह्म, जीव, माया आदि के विषय में लगभग एक ही जैसी धारणाएँ रही हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि मराठी भक्त-कवियों के सम्मुख लोक-उद्धार का उद्देश्य था और हिन्दी भक्त-कवियों के सम्मुख लोक-रंजन का।

१ श्री एकनाथ, वाङ्मय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृ० १८५।
२ वही, पृ० १८५।
३ वही।
४ वही, पृ० १८६।

अध्याय—७

मराठी और हिन्दी कृष्ण-कवियों के कृतित्व स्वरूप : विशेष तुलनात्मक अध्ययन

मराठी में कृष्ण-भक्ति का आरम्भ चक्रधर के प्रादुर्भाव से माना जाता है। स्वामी चक्रधर ने स्वयं काव्य की रचना नहीं की, परन्तु पर्यटन के समय अनेक पंडितों से तत्त्व-चर्चा करते समय जो कुछ उनकी पवित्र वाणी से व्यक्त हुआ उसे स्वामी चक्रधर के प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य की आज्ञा से केसोबासा ने एकत्र किया। यह संग्रह 'चक्रधरोक्त सूत्रपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है तथा महानुभाव पंथ की संहिता माना जाता है।[1] अपने वचनों में स्वामी चक्रधर ने ईश्वर, जीव और प्रपंच का सूक्ष्म विवेचन किया है। महानुभाव तत्त्वज्ञान के अनुसार जीव, देवता, प्रपंच तथा परमेश्वर—ये चार तत्त्व नित्य माने गए हैं। इनमें से एक नित्य और दूसरा अनित्य वर्ग है—

चक्रधर

एकु नित्य वर्ग। एकु अनित्य वर्गु (संहार ६)नित्य वर्ग में जीव, देवता तथा परमेश्वर है। प्रपंच अनित्य है—'प्रपंचु अनित्यो' (वि० भा० १६२) देवता वर्ग को महानुभाव तत्त्वज्ञान मे स्वतन्त्र स्थान दिया गया है, इसीलिए देवताओं को नित्य वर्ग में माना गया है। महानुभाव तत्त्वज्ञान की यह अपनी विशेषता है, क्योंकि अन्य किसी भी तत्त्वज्ञान में देवताओं को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है।[2]

महानुभाव पंथ श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय, द्वारावती के श्रीचांगदेव राउल, ऋद्धिपुर के श्रीगुंडम राउल तथा स्वामी श्रीचक्रधर—इन पंच कृष्णों को मानता है तथा इन्हें परमेश्वर का पूर्णावतार मानता है। गीता तथा भागवत के साथ-साथ 'सूत्रपाठ' इस पंथ का धर्म-ग्रन्थ है। अहिंसा, निःसंग, निवृत्ति तथा भक्ति-योग—इन चार वस्तुओं की आचार में स्थापना है। उसी प्रकार स्वामी चक्रधर का नाम, रूप, लीला, चेष्टा, स्थान, श्रुति, स्मृति तथा प्रसाद—इन सबको पंथ में अत्यन्त महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है। महानुभाव पंथ के आचार-धर्म की पूरी-पूरी कल्पना 'सूत्रपाठ' से हो जाती है जहाँ स्वामी चक्रधर ने कहा है कि साधक के लिए स्वदेश, स्वग्राम तथा आप्त जनों का सर्वथा त्याग श्रेयस्कर है, क्योंकि संग से ही विषय-

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० ८६७।

२. महानुभाव तत्वज्ञान, डॉ० वि० भि० कोलते, पृ० ११।

सेवन होता है और साधक धर्म से टल जाता है। स्त्री संग तो और भी बुरा है क्योंकि और द्रव्यों के सेवन से तो मनुष्य मावाला बनता है, परन्तु स्त्री को देखने से ही उसकी यह दशा हो जाती है। इसीलिए स्वामी चक्रधर कहते हैं—

स्त्री भणिजे महाद्रव्याचा रावोगा।
आणिकें द्रव्यें सेविलेयां माजविती।
स्त्री दर्शनमात्रेंचि माजवी
चित्रींची स्त्री न पहावी। (आचार ६ १०)

(स्त्री मादक द्रव्यों का राजा है। अन्य द्रव्य सेवन करने से पुरुष को पागल बनाते हैं, परन्तु स्त्री दर्शन मात्र से पागल बना देती है। स्त्री के तो चित्र का भी दर्शन नहीं करना चाहिए।)

स्त्री के बारे में उपर्युक्त विचार प्रकट करते हुए भी महानुभाव तत्त्वज्ञान के अनुसार ईश्वर प्राप्ति का मार्ग स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी खुला हुआ है। महानुभाव पंथ में आचार धर्म पर अधिक जोर दिया गया है तथा ईश्वर प्राप्ति का साधन निवृत्ति मार्ग को ही माना गया है। यद्यपि महानुभाव पंथ भागवत को भी धर्मग्रंथ मानता है तथा स्वामी चक्रधर के वचनों में श्रीकृष्ण-लीलाओं के कई उल्लेख मिलते हैं, परन्तु हिन्दी तथा परवर्ती मराठी कवियों की भाँति उसमें शृंगार का स्वीकार नहीं किया गया है। यह सच है कि परमानन्द एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए स्वामी चक्रधर ने भी ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को ही श्रेष्ठ कहा है—

'ज्ञानापासि प्रेम उत्तम (विचारमालिका ३०), परन्तु प्रेम की अवस्था सर्वसंगपरित्याग करके सम्पूर्ण रूप से परमेश्वर के अधीन होने से ही आती है। इसी प्रकार जिस तरह बोध से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी तरह प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है। भक्त के हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम तभी उत्पन्न होता है जब ईश्वर अपनी दृष्टि द्वारा भक्त के हृदय में प्रेम संचार करता है। भक्त के मन में प्रेम-संचार होते ही भक्त का विकार और विकल्प सर्वथा नष्ट हो जाता है।'[1] और भक्त श्रीमूर्ति को ही साधन-साध्य के रूप में देखने लगता है। श्रीमूर्ति पर भक्त का यह प्रेम इतना उत्कट होता है कि ईश्वर विरह की कल्पना मात्र से वह प्राण त्याग देता है। ईश्वर के प्रति हृदय में प्रेम-संचार होते ही भक्त के हृदय में कोई भी कामना शेष नहीं रहती—

भक्त आन कामना कसी? (ल० ब० उद्धरण, ३६)

महानुभाव पंथ के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर ने ईश्वर और जीव को लेकर जिस प्रेम को स्वीकार किया है, उसका स्थूल रूप से विवेचन ऊपर किया गया है। इस विवेचन से प्रतीत होता है कि उन्होंने विद्यापति, सूरदास प्रभृति कवियों द्वारा वर्णित राग और उत्ताव शृंगार को कहीं भी स्वीकार नहीं किया।

महानुभाव पंथ के महाकवियों में नरेन्द्र पहले कवि हैं जिन्होंने कृष्ण-चरित्र को लेकर मधुर शृंगार रस से परिपूर्ण 'रुक्मिणी स्वयंवर' नामक महाकाव्य की रचना की। नरेन्द्र

नरेन्द्र

कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' २२६७ ओवियों का प्रबंध काव्य है। इसका विषय भागवत के दशम स्कंध और पद्मपुराण से लिया गया है। काव्य में प्रकृति का मनोहारी वर्णन तथा उपमा उत्प्रेक्षा,

---

१ विकार विकल्प समाधे दवें लांनि उच्छेदेनि जाती' (उद्धरण, १५)

दृष्टान्त, रूपक, अह्नुति आदि अलंकारों का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। रुक्मिणी की विरहावस्था का ऐसा सरस और यथार्थ वर्णन इस काव्य में हुआ है कि देखते ही बनता है। काव्य-रचना में कवि ने अपने संगीत-ज्ञान का भी बड़ा अच्छा परिचय दिया है। कहा जाता है कि महानुभाव पंथ में प्रवेश करने के पहले कवि ग्रन्थ के पूर्वार्ध की रचना कर चुके थे।[1] विषय और वर्णन की दृष्टि से देखते हुए यह सच है कि 'रुक्मिणी स्वयंवर' मराठी काव्य में पहली रचना है, जिसमे कृष्ण के चरित्र को लेकर शृंगार का परिपाक हुआ है, फिर भी स्मरण रखने की बात यह है कि नरेन्द्र कवि-कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' का शृंगार रम्य होते हुए भी संयम और औचित्य की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। वह एक ओर कांत-भाव पर आधारित है, तो दूसरी ओर जीव और ब्रह्म के परस्पर सम्बन्ध पर।

मराठी की आद्य कवयित्री महदाइसा की विवाह-परक 'धवले' तथा 'मातृकी रुक्मिणी स्वयंवर' नामक रचनाओं में भी शृंगार का उत्तान वर्णन या राधा-कृष्ण की उत्तान शृंगारिक-क्रीड़ाओं का वर्णन न होकर विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले मधुर शृंगारिक पदों का विधान है।

भास्कर भट्ट

महानुभाव पंथ के दूसरे कवि भास्कर भट्ट बोरीकर के 'शिशुपाल वध' में अवश्य शृंगार का कुछ अधिक परिपाक हुआ है। इसीलिए कवि को विवश होकर 'उद्धवगीता' या 'एकादश स्कन्ध' नामक भक्ति-प्रधान एक दूसरे ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। 'शिशुपाल वध' की कथा महाभारत, हरिवंश और भागवत-पुराण पर आधारित है। नारदागमन, द्वारिका-वर्णन, ऋतु-वर्णन, जलक्रीड़ा-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि में कवि ने संस्कृत कवि माघ का अनुकरण किया है परन्तु ऐसे वर्णनों मे अलंकार-योजना कवि की अपनी है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम-कलह और गोपियों की विरहावस्था का कवि ने बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। 'उद्धव-गीता' भागवत के एकादश स्कन्ध पर आधारित है। इस ग्रन्थ मे कवि ने सभी रसों का सफल निर्वाह किया है, परन्तु प्रधान रस शान्त ही है।

सन्त ज्ञानेश्वर

संत ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र के भक्ति-आन्दोलन में जो योगदान दिया वह अद्वितीय है। एक ओर उन्होंने गीता को सभी वेदों तथा उपनिषदों का निचोड़ एवं प्रामाणिक ग्रंथ मान-कर जनोपयोगी समझा और दूसरी ओर सर्वप्रथम तत्त्व-निरूपण के लिए संस्कृत को छोड़कर लोक-भाषा मराठी मे रचना की। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' अथवा 'भावार्थ-दीपिका' श्रीमद्भगवद्गीता की ओवी-बद्ध टीका है। यह ग्रन्थ मराठी साहित्य मे एक अद्वितीय रत्न माना जाता है। अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए ज्ञानेश्वर कहते हैं—

माझा मरहाटाचि बोल कौतुकें, परि अमृतातें ही पैजाजिंके।

(मेरे ग्रंथ की भाषा मराठी क्यों न हो, मुझे विश्वास है कि अमृत का माधुर्य मराठी के शब्दों मे ढाला जा सकता है।)

लोक-जागृति को दृष्टि-पथ में रखने वाले तुलसीदास ने भी ऐसी ही परिस्थिति में कहा था—

---

१. मराठी चा भक्ति साहित्य, प्रा० भी० गो० देशपांडे, पृ० २४।

का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए सांच।
काम जु आवे कामरी का ले कर कुमाच।

गीता पर अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं और गीता के भिन्न भिन्न अर्थ लगाए हैं, पर जितनी सफल टीका ज्ञानेश्वरी बन पड़ी है, उतनी सफल शायद ही कोई दूसरी टीका हो। ज्ञानेश्वरी लिखने का हेतु जन-साधारण को गीता के आधार पर हिन्दू धर्म का रहस्य समझाना था। ज्ञानेश्वरी का प्रधान रस शान्त है। ज्ञानेश्वरी का साहित्यिक मूल्य निर्धारित करते हुए विद्वान् आलोचक वि० ल० भावे ने 'महाराष्ट्र सारस्वत' में कहा है—"ज्ञानदेव की कृति 'ज्ञानेश्वरी' ही नहीं, अपितु 'वागीश्वरी' भी है। वह जैसे एक धर्म-क्षेत्र है, वैसे ही एक काव्य-गंगा भी है। ज्ञानदेव की कल्पना लता के फूलों में वह दिव्य गुण है कि न तो वे कभी सूखते हैं और न उनकी सुगन्ध कम हो सकती है। ऐसे अमूल्य फूलों की माला बनाकर ज्ञानदेव ने महाराष्ट्र शारदा को सुशोभित किया है।"

महाराष्ट्र में भक्ति सम्प्रदाय की नींव डालने का श्रेय महानुभाव पंथ के साथ-साथ ज्ञानदेव को भी है। 'ज्ञानेश्वरी' के अतिरिक्त संत ज्ञानदेव की 'अमृतानुभव' 'चांगदेव पासष्टी' तथा 'अभंग-गाथा' आदि कई और रचनाएँ मानी जाती हैं। ज्ञानेश्वर के अभंगों में मुख्यतः ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग, इन तीनों का प्रतिपादन हुआ है। इन अभंगों में कवि का दृष्टिकोण भी द्वैतवादी रहा है और कवि पूर्ण रूप से सगुणोपासक है। ज्ञानेश्वरी के तत्त्व निरूपण और निर्गुणवाद के कारण कई विद्वान् अभंगकर्ता ज्ञानेश्वर को 'ज्ञानेश्वरी कार' से भिन्न मानने लगे थे, पर यह विवाद अब शान्त सा हो गया है और प्रायः सभी विद्वान् अभंगों को सन्त ज्ञानेश्वर की ही रचना मानने लगे हैं।

अपने भक्तिपरक अभंगों में ज्ञानेश्वर ने यत्र-तत्र गोपियों की विरहावस्था का बड़ा ही प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु ऐसे वर्णन ज्ञान की उदात्त भूमि पर आधारित होने के कारण उनमें एक प्रकार की सात्त्विकता सर्वत्र विद्यमान है और वे मधुरा भक्ति अथवा शृंगार की कोटि में नहीं आते। उनमें सर्वत्र बिछुड़े हुए जीव की ईश्वर प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति पर आधारित विह्वलता के ही दर्शन होते हैं।

नामदेव

विट्ठल भक्त वारकरी-सम्प्रदाय के दूसरे सन्त नामदेव वारकरी-सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम प्रचारक थे। इन्होंने न केवल मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि की अपितु हिन्दी साहित्य के भण्डार को भी भरा। यदि ज्ञानेश्वर ने ब्रह्म विद्या को लोक सुलभ बनाया तो नामदेव ने महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक हरिनाम की वर्षा की। सन्त नामदेव ने अपनी भक्ति रस-सिक्त अभंग रचना से साधारण जनता के हृदय को भक्ति की विह्वलता से प्रभावित किया। महाराष्ट्र में नामदेव का वही स्थान है जो उत्तर भारत में सन्त कबीर अथवा भक्त सूरदास का है। वारकरी-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए इन्होंने कीर्तन संस्था की स्थापना की और वे स्वयं भी एक अत्यन्त सफल कीर्तनकार बने। आज नामदेव के लगभग ३००० अभंग उनकी गाथा में संकलित हैं। उनके अभंगों की सरलता, प्रासादिकता एवं माधुर्य बेजोड़ हैं। वे सब जनता के लिए ही लिखे गए थे अतः उनकी रचना सरल और सुगम है। उनके अभंग निम्नलिखित विभागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) आत्मचरित-परक, (२) सन्त ज्ञानदेव के चरित विषयक,

(३) सन्त नामदेव की पारमार्थिक व्याकुलता, (४) अंतर्मुखता, (५) व्यक्तिगत चित्त-शुद्धि-विषयक, (६) भगवन्नामस्मरण एवं कीर्तन-सम्बन्धी, (७) साधक की पूर्वावस्था और उत्तरावस्था का वर्णन करने वाले, (८) संकल्प और वर-याचना-परक, (९) श्रीकृष्ण-क्रीड़ापरक और (१०) दर्शनानुभव का वर्णन करने वाले।

श्रीकृष्ण-क्रीड़ा को लेकर नामदेव ने केवल ५३ अभंगों की रचना की है। इन अभंगों में भागवत की देखादेखी शृंगार का सुन्दर परिपाक हुआ है, पर इन अभंगों मे नामदेव की आत्मानुभूत भावनाओं के उफान के दर्शन नहीं होते। विट्ठल का अनुनय-विनय करते समय कवि की भावनाएँ जिस प्रकार उमड़ती हुई दिखाई देती हैं, वैसी कृष्ण-लीलाओं के वर्णनो में कहीं भी दिखाई नही देती। अतः ऐसे अभंगों मे भावानुभूति की अपेक्षा कथात्मकता का ही निर्वाह दृष्टिगत होता है। उनका कृष्ण-चरित-वर्णन आत्मानुभूत न होने के कारण किसी कीर्तनकार का-सा हुआ है।

भागवत-पुराण के आधार पर कृष्ण-चरित-परक जो अभंग नामदेव ने लिखे हैं उनमें और सूरदास के पदों में आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। वृन्दावन मे कृष्ण के बाँसुरी बजाते ही जो-जो चमत्कार होते हैं, उनका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> **त्रिभंगी देहुडे उभे वृन्दावनी, वेणु चक्रपाणी वाजवीतो ॥**
> **स्थावरी गायी टाकिताती माना। वाळें स्तनपाना विसरती ॥**
> **सर्प आणि नाग मुंगुसें बेसती। जलेंहि वाहती विसरलीं ॥**
> **हस्तीसिंह एके ठायीं बैसताती। भ्रमर भुलती वेणु नादें।**
> **विचरती वेणी तैयें राहे फणी। करितां भोजनीं ग्रास मुखीं।**
> **उदकाचे कुंभ गोपिकांचे शिरीं। यमुनेचे तीरीं वेडावल्या ॥**
> **जाहले तटस्थ त्रिलोकींचे जीव। विसरला शीव देहभावा ॥**
> **नामा म्हणे व्योमीं उभ्या देवांगना। पाहोनियाँ कृष्णा भुलताती।**

(अभंग १५७७)

(त्रिभंगी मुद्रा में वंशी बजाते हुए कृष्ण वृन्दावन में खड़े हैं। वंशी की ध्वनि सुनकर गायें डोल रही हैं और बछड़े स्तन-पान करना भूल गए हैं। साँप और नेवले एकत्र बैठे हुए हैं और जल बहना भूल गया है (स्थिर हो गया है)। सिंह और हाथी एक साथ बैठ रहे हैं। भ्रमर वेणु-निनाद से पागल हो रहे हैं। कंघी करते-करते या भोजन करते-करते गोपिकाओं के हाथ जहाँ हैं वहीं रुक जाते हैं। गोपियाँ सिर पर पानी के घड़े लिये यमुना के तट पर भ्रान्तावस्था में घूम रही हैं। तीनों लोकों के जीव अपना देह-भाव भूलकर तटस्थ हो गए हैं। नामदेव कहते हैं, आकाश में खड़ी देवांगनाएँ कृष्ण को देखकर आत्मविस्मृत-सी हो रही हैं।)

राधा-विलास का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> **सुखनयनीं राधा भोगित अनंत, गोकुळांत वार्ता प्रगटली।**

(गोकुल में चर्चा होने लगी कि राधा कृष्ण को भोगती है।)

इसीलिए तो वृद्धा (सास) राधा से कहती है—

> "धरासी वनमाळीं आणूनको —अभंग १९६३

(वनमाली को घर में न लाया करो।)

श्रीकृष्ण की रूप माधुरी, गोपी विलाप तथा बाल-लीलाओं का भी बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन नामदेव ने किया है। गौओं को चराने के लिए ले जाते समय कृष्ण का मनोहर चित्र अंकित करते हुए नामदेव कहते हैं—

> सांवावरी पावा कस्तुरीचा टिळा। चालत गोपाळ गाई मागे॥
> यमुने पावलीं गोपा पावारीत। शिदोऱ्या शोभत पाठीवरी॥
>
> —अभंग १७०२

(कस्तूरी का तिलक लगाए कंधे पर बाँसुरी धरे गोपाल गौओं के पीछे-पीछे चल रहे हैं तथा यमुना के किनारे गोपालों को बुला रहे हैं। गोपालों की पीठ पर आहारों की पोटलियाँ लटक रही हैं।)

नामदेव की 'गोळणी' और 'विरहिणी' में भी शृंगार का परिपाक हुआ है, परन्तु, उसमें शारीरिक भोग विलास का दर्शन नहीं होता।

जनाबाई ज्ञानेश्वर की समकालीन मानी जाती हैं तथा नामदेव के लालन-पालन का श्रेय भी उन्हींको दिया जाता है। वे स्वयं अशिक्षित थीं परन्तु नामदेव जैसे आत्म द्रष्टा सन्त के निकट सम्पर्क के कारण उनका हृदय सुसंस्कृत होकर उसमें विट्ठल-भक्ति की धारा उमड़ पड़ी। जनाबाई ने अनेक भक्ति-परक अभंगों की रचना की है जिनमें से आज लगभग साढ़े तीन सौ अभंग उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि सन्त ज्ञानेश्वर के दर्शन से उसके काव्य में प्रौढ़ता आ गई थी। जनाबाई के अभंगों में निजी रसानुभूति के साथ नामदेव की आतुरता और ज्ञानेश्वर की योगानुभूति का सुन्दर संगम हुआ है। श्रीकृष्णलाल धारसौदे ने अपने मराठी साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ में ठीक ही कहा है कि "जनाबाई की काव्य-सरिता के एक तट पर भक्ति का माधुर्य, दूसरे तट पर योग का गुंजन और दोनों तटों के बीच प्रासादिक प्रेम का प्रवाह है।" जनाबाई के कुछ अभंग इतने सरस हैं कि उनमें और सन्त नामदेव के अभंगों में भेद बतलाना बहुत ही कठिन हो जाता है। यद्यपि जनाबाई सगुणोपासक थीं पर निर्गुण ब्रह्म की उन्हें अनुभूति हो चुकी थी। अन्त में रसमय अमूर्त परब्रह्म के साकार दर्शन के लिए वे छटपटाया करती थीं। दर्शन देने के लिए उन्होंने भगवान् की अनेक प्रकार से प्रार्थना की, अनेक प्रकार से उसे मनाया, अनेक प्रकार से उसे ललचाया और प्रसंग आने पर उसे अनेक प्रकार से गालियाँ भी दीं। परन्तु इन सभी अवस्थाओं में पाण्डुरंग पर उनकी भक्ति अनन्य थी। उनमें दाम्भिकता ज़रा भी नहीं थी। हर्ष-शोकादि भावनाओं से उनका हृदय भर जाता था। इन्हीं सब भावनाओं को उन्होंने अपने अभंगों में व्यक्त किया है। जनाबाई के अभंगों में लगभग सभी रसों का बहुत ही स्वाभाविक परिपाक हुआ है, परन्तु रसराज शृंगार को उनके अभंगों में कहीं भी स्थान नहीं मिला है। इस दृष्टि से जनाबाई और मीराबाई के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। मीराबाई ने गोपियों की भक्ति का आदर्श अपने सामने रखा था। उनके पदों में कृष्ण और गोपिकाओं का मधुर शृंगार है परन्तु अधिक प्रबल दास्य भाव ही है। शांत रस पर आधारित शृंगार तथा ईश्वर के विषय में दास्य भाव पर आधारित उत्कट प्रेम मीरां

के काव्य की विशेषता है। गिरिधर गोपाल के वियोग में मीरा व्याकुल है। वे अपने आराध्य को ब्रह्म के रूप में ही नहीं, प्रियतम के रूप में भी देखती है। उनका प्रेम दास्य-भाव पर आधारित होते हुए भी कान्त भाव का है, परन्तु जनाबाई के स्त्री-हृदय में आराध्य के विषय में रतिभाव के स्थान पर वात्सल्य का ही उद्रेक हुआ है। इसीलिए तो विट्ठल को माता मानकर वह फूट पड़ती है—

माझिये जननी हरिणी, गुंतलीस कवणें वनीं ॥
मुकें तुझे मी पाडस, चुकलें माये पाहे त्यास ॥
चुकली माझिये हरिणी, फिरतसे रानोरानीं ॥
आतां भेटवा जननी, विनविसे दासी जनी ॥[1]

(हे मेरी माता हिरनी ! तुम कौनसे वन में व्यस्त हो ? मैं तुम्हारा मूक शावक हूँ तथा अज्ञानवश तुमसे बिछुड़कर वन-वन में तुम्हें खोजती हुई भटक रही हूँ। दासी जनी प्रार्थना करती है कि हे माता, अब तो मिल जाओ।)

वात्सल्य की ही भाँति जनाबाई के अभंग करुण-रस से भी ओत-प्रोत है। सजल नेत्र लिये मुँह से नाम-स्मरण करते हुए ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने के लिए जनाबाई कहती है—

सर्व भावे गाईन नाम, सखा तूंचि आत्माराम।
रूप न्याहाळीन दृष्टी, सर्वसुख सांगेन गोष्टी।
दीनानाथ चक्रपाणी, दासी जनी लागी ध्यानी ॥

(सब भावों से तुम्हारा ही नाम-स्मरण करूँगी, तुम्ही मेरे सखा हो। मैं आँख भरकर तुम्हारे रूप का पान करूँगी तथा तुम्हे सुहानेवाली बातें तुमसे करूँगी। हे दीनानाथ ! दासी जनी का ध्यान तुम्ही पर लगा हुआ है।

इसी प्रकार—

कांगे उशीर लागला, माझा विसर पडला।
तुजवरी संसार, वोळविलें घरदार।

(तुम्हें देर क्योंकर हुई ? क्या मुझे भूल गए थे ? मैंने तो तुम्हारे लिए घर-द्वार, संसार सब छोड़ रखा है।)

अन्त में जनाबाई को पांडुरंग के दर्शन हो जाते हैं और वह अपने-आपको भूल जाती है—

ऐसी विश्रांति लाभली, आनन्दकळा संचारिली।
येथे सर्वांग सुखी झाले, लिंग देह हरपले।

(ऐसी विश्रान्ति का लाभ हुआ कि लिंग देह नष्ट होकर सारे शरीर में आनन्द का संचार हो गया।)

अब तो जनाबाई को पाण्डुरंग के विरह की चिन्ता ही नहीं रही। पाण्डुरंग का रहस्य अब उसने जान लिया है, इसीलिए तो वह चुटकी लेती है—

---

१. संतकाव्य समालोचन, भाग १, गं० द० ग्रामोपाध्ये, पृ० ७३।

राणा येदगी काय करिसि, तुझें बळ आम्हापासी।
नाहीं सामर्थ्य तुज हरी, जनी म्हणे परिलीचोरी।

(जनी कहती है—तुम्हारा सब रहस्य अब मैं जान गई हूँ। तुमम कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, अपितु तुम्हारा सारा बल हमारे (भक्तों के ही) पास है। तुम इसकर भी क्या कर लोगे ?)

जिस धम सस्थापन का आरम्भ सन्त ज्ञानेश्वर न तीन सौ वष पूव किया था, उसे पूरा करने म सन्त एकनाथ ने अपनी सारी आयु व्यतीत कर दी। इसीलिए तो महाराष्ट्र की भावुक जनता एकनाथ को ज्ञानेश्वर का अवतार मानती है।

एकनाथ — एकनाथ के प्रादुर्भाव के कुछ ही वष पूव समस्त महाराष्ट्र में बारह वष तक अकाल पडने से समस्त देश उजाड हो गया था और निर्वाह के लिए लोग देश छोड छोडकर मालवा, गुजरात आदि प्रान्तो की ओर भागने लगे थे। इस प्राकृतिक अथवा दैवी आपत्ति से भी अधिक यावनी-सकट ने महाराष्ट्र के सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन को गहरा धक्का पहुँचाया था। नामदेव के काल में ही महाराष्ट्र परतन्त्र हो चुका था। यावनी राजसत्ता और धम प्रचार का प्रभाव मराठी साहित्य पर होने लगा था। नामदेव के समकालीन अथवा उनकी शिष्य-परम्परा के विसोबा हिरा, चोखा, भानुदास, जनाबाई, नामा पाठक आदि सन्त-कवियों ने जनता में भक्ति की धारा को प्रवाहित रखा, परन्तु इन भक्त-कवियो पर मुख्य आरोप यह लगाया जाता है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से सवथा उदासीन होने के कारण उन्होंने जनता का उचित मागदशन नहीं किया। इसम सन्देह नहीं कि सन्त-कवियो की दृष्टि पारमार्थिक ही थी और शान्ति का कोई भी सन्देश उन्होंने जनता को नहीं दिया, किन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि मुसलमानी सत्ता का प्रभाव, दण्ड एव अत्याचार सहन करते हुए भी इन सन्त-कवियों ने अपने अभगा द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग जनता को बताया और हिन्दू धर्म मे उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाए रखा।

इस दृष्टि से देखा जाए तो लोक-जागृति के लिए सन्त एकनाथ ने जो कार्य किया वह वास्तव मे अनुपम है। ज्ञानेश्वर के पश्चात् दो शताब्दियों तक जो प्रतिकूल वातावरण महाराष्ट्र मे था उसके कारण ज्ञानेश्वरी का निमल प्रवाह कई स्थानो पर शैवाल ग्रस्त हो गया था। उस स्वच्छ करके भक्ति-जल को पुन स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित करने का श्रेय सन्त एकनाथ को ही है। कालान्तर म ज्ञानेश्वरी की हस्तलिखित पोथियो मे अशुद्ध पाठ आ गए थे। सन्त एकनाथ ने उन्हे शुद्ध करके भाषा को व्यवस्थित एव अर्वाचीन रूप प्रदान किया। इसके अतिरिक्त एकनाथ ने 'रुक्मिणी स्वयवर,' 'भावाथ रामायण', 'आनन्द लहरी', 'प्रह्लाद विजय', स्वात्म सुख', 'एकनाथी गाथा आदि अनेक ग्रथों की स्वतन्त्र रूप से रचना की। परन्तु धम प्रतिष्ठापना की दृष्टि से एकनाथ की सर्वोत्कृष्ट रचना 'भागवत' मानी जाती है। यह ग्रन्थ भागवत के एकादश स्कन्ध पर १८८०० ओवियो की एक बृहद टीका है। यह टीका महाराष्ट्र मे अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। वारकरी-सम्प्रदाय मे ज्ञानेश्वरी के बाद भागवत को ही पूज्य ग्रन्थ माना जाता है। ज्ञानेश्वरी का आधार कृष्ण-अजुन सवाद है, तो भागवत का आधार कृष्ण-उद्धव सम्वाद है। इस बृहद् ग्रन्थ की रचना मे कवि का हेतु लोक-सग्रह एव समाजोद्धार करना ही था।

इस ग्रन्थ में भागवत-धर्म की परम्परा, स्वरूप, विशेषताएँ, ध्येय, साधना आदि सबका भागवत-पुराण के आधार पर प्रासादिक शैली में विवेचन है। एकनाथ ने भागवत-धर्म को अधिक उदार और मानवतावादी बनाया। वे कहते है—"सब भूतों में भगवद्भाव का अनुभव करना भागवत-धर्म की आत्मा है। इसलिए सबसे मैत्री करो, प्रेम करो और सबके साथ समान रहो।' जाति-भेद का खण्डन करते हुए सन्त एकनाथ कहते हैं—"जाति से चाहे कोई सबसे श्रेष्ठ क्यों न हो, वह यदि हरिचरणों से विमुख है, तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जो प्रेम से भगवद्-भजन करता है।" इसी प्रकार भक्त की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"स्वकर्म, धर्म, वर्णाचार तथा अपने-अपने अन्य सब कर्मों को करते हुए भी जो सब भूतों को भगवदाकार देखता है, वही ईश्वर का प्रिय भक्त है।"

अंतःशुद्धि पर एकनाथ ने विशेष रूप से जोर दिया है तथा उसका साधन हरि-कीर्तन को माना है। नाम-स्मरण के समान और दूसरा साधन नहीं है। साधनों में मुख्य साधन भक्ति है। भक्ति में भी नाम-कीर्तन विशेष है। नाम से चित्त-शुद्धि होती है—साधकों को स्वरूप-स्थिति प्राप्त होती है। तपाचरण, सांख्य-ज्ञान-विचार तथा वेदाध्ययन से जो कुछ मिलता है वह सब नाम-स्मरण से प्राप्त होता है। चित्त-शुद्धि के बिना आत्म-ज्ञान असम्भव है।

एकनाथ ने भक्त तीन प्रकार के माने हैं—प्राकृत, मध्यम और उत्तम। उत्तम भक्त वह है जो प्राणिमात्र में ईश्वर-दर्शन करता है। संक्षेप में, एकनाथ ने प्रपंच को परमार्थनिष्ठ बनाने का स्वानुभवयुक्त उपदेश सबको दिया है।

गोपी-प्रेम को लेकर एकनाथी भागवत में जो ओवियाँ हैं, उनमें भी श्रीकृष्ण के शुद्ध प्रेम का ही दर्शन होता है। उनमें न उत्तान-शृंगार का वर्णन है और न शारीरिक विलास का।

ज्ञान, योग और कर्म का आचरण करने वाले पुरुष की अपेक्षा भक्त भगवान् को अधिक प्रिय है। इसीलिए प्रेम का श्रेष्ठत्व स्वीकार करते हुए एकनाथ कृष्ण से कहलवाते हैं—

मी भावार्थाचा भुकेलों। प्रेमाच्या पावलों पाहुणेरा।

—एकनाथी भागवत, अ० २४

(मैं भाव का भूखा हूँ, प्रेम का अतिथि हूँ।)

भागवत-पुराण के एकादश स्कंध के १२वें अध्याय में गोपी-प्रेम-विषयक कृष्ण और उद्धव का जो चतुःश्लोकी संवाद है, उसके आधार पर गोपी-प्रेम का सच्चा भावार्थ प्रकट करने के लिए सन्त एकनाथ ने लगभग सौ ओवियाँ लिखी हैं। कृष्ण की वंशी का स्वर सुनते ही गोपियाँ हाथ का काम छोड़कर वृन्दावन की ओर भागने लगती हैं। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए सन्त एकनाथ लिखते हैं—

ऐकोनी माझें वेणुगीत। गोपिका सांडुनि समस्त।
निज देहातें न सांभाळित। भज गिवसीत पातल्या॥
सांडुनि पतिपित्यांची चाड। न धरोनि वेदशास्त्रांची भीड।
माझे ठायीं निजभाव दृढ। प्रेम अति गोड गोपिका॥

न करते हुए जो लोग कृष्ण को व्यभिचारी कहते हैं, वे मूर्ख हैं।)

भागवत-पुराण को आधार मानकर भक्ति-भाव से विभोर होकर कृष्ण और गोपियों के प्रेम की चर्चा करते हुए भी सन्त एकनाथ ने सूरदास आदि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की तरह अपने वर्णनों में उत्तान-शृंगार को प्रश्रय नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने तो स्थान स्थान पर 'कामासक्ति' का खण्डन करके कृष्ण के ब्रह्मत्व-रूप को ही पाठकों के सामने रखकर प्रेम अथवा भक्ति को पवित्र बनाया है।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, मराठी काव्य-धारा एक नये क्षेत्र में प्रवाहित होने लगी थी। पहले देखा जा चुका है कि भास्कर भट्ट, नरेन्द्र आदि कवियों की प्रवृत्ति स्वच्छन्द काव्य-रचना की ओर अधिक थी, परन्तु परम्परागत साहित्यिक एवं धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण उनकी प्रतिभा को परिमित क्षेत्र में ही पल्लवित होना पड़ा था। संत-कवियों की रचनाएँ भी भक्ति के साधन-रूप में ही हुई थीं। उनमें भाषा, अलंकार आदि काव्य-गुणों को प्रायः गौण स्थान ही था। ज्ञानेश्वरी में भी, जो भावार्थदीपिका भी कही जाती है, ज्ञानेश्वर की अन्तःस्फूर्ति के कारण ही काव्य-सौन्दर्य प्राप्त हुआ था। भास्कर भट्ट द्वारा लोकानुरंजनकारी काव्य की रचना हुई थी, परन्तु उसके गुरुबंधु ने उसे दोष दिया था, जिसके कारण भास्कर भट्ट उपरत होकर फिर से बँधी बँधाई परिपाटी के अनुसार काव्य-सृजन में लग गए। परन्तु मुक्तेश्वर काव्य पढ़ते ही मराठी काव्य में हम प्रथम बार अनुभव करते हैं कि यह काव्य पारलौकिक न होकर लौकिक है और काव्य के साहित्यिक गुणों की ओर कवि का विशेष ध्यान रहा है।

मुक्तेश्वर

ललित साहित्य के प्रायः सभी गुण मुक्तेश्वर के काव्य में है। मुक्तेश्वर ने काव्य के बाह्य रूप, शब्दावली, अलंकारादि की ओर उतना ही ध्यान दिया है जितना काव्य के अन्तरंग की ओर। इस दृष्टि से मुक्तेश्वर एक कवि हैं, न कि एक भक्त।

मुक्तेश्वर का 'महाभारत' अनुवाद के लिए मराठी साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। परन्तु अनूदित रचना होने के कारण मुक्तेश्वर के काव्य पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि मुक्तेश्वर की प्रतिभा में मौलिकता का अभाव था। वस्तुतः मुक्तेश्वर ने किसी साम्प्रदायिक गुरु का आदर्श अपने सम्मुख न रखकर कालिदास, माघ प्रभृति कवियों को ही आदर्श माना था। इसीलिए मुक्तेश्वर का महाभारत पढ़ते समय 'काव्य' पढ़ने का आनन्द उपलब्ध होता है।

मुक्तेश्वर ने महर्षि व्यास के महाभारत का केवल शब्दशः अनुवाद ही नहीं किया, अपितु काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से आवश्यकतानुसार अनुवाद में संक्षेप अथवा विस्तार करने का भी साहस किया है। कहते हैं कि मुक्तेश्वर ने संपूर्ण महाभारत का अनुवाद किया था, परन्तु आज उसके केवल आदिपर्व, सभापर्व, वनपर्व, विराट पर्व तथा सौप्तिक पर्व ही उपलब्ध हैं। इनकी कुल ओवी संख्या १४६८७ है।

मुक्तेश्वर स्वभाव से ही सिद्धहस्त कवि थे, अतः उन्होंने अनेक स्थलों पर प्राकृतिक दृश्यों तथा नारी-सौन्दर्य का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। प्रकृति तथा नारी के बाह्य और सरस सौन्दर्य का वर्णन, जो मूल महाभारत में नहीं है, वह मुक्तेश्वर के अनुवाद

में है। शर्मिष्ठा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

जैसी सुवर्ण चंपक कळी। कीं कोरिली मन्मथ पुतळी।
अत्यंत तारुण्य भरे सवळी। परी विनत सुकुमार।
विराजे राजवदन चंद्रिका। भाळीं रेखिला कस्तूरी टिळा।
आकर्ण पर्यंत कज्जल रेखा। नयन तेणें शोभती।
दृढ बिल्व पीनस्तन। वरी मुक्तजाळी विराजमान।
हृदी पदक देदीप्यमान। तेज फांकें हृदयाजी।
करि शावक सुण्डादण्ड। तसे सरल भुजदण्ड।
कंकणें रुणझुणती प्रचण्ड। मदनाते चेतवाया।

(जैसे वह चम्पा की कली हो या मन्मथ की ढाली हुई पुत्तलिका हो। वह घन-यौवन के भार से बोझिल है, पर सुकुमारता में लता की भाँति विनत है। उसका मुख चंद्रिका की तरह देदीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्दी शोभायमान है। उसके कानों तक काजल की रेखा खिंची हुई है, जिससे उसके नेत्र अत्यन्त शोभायमान लग रहे हैं। बेल फल के समान उसके स्तन कठोर और सुडौल हैं और उन पर मोतियों की माला सुशोभित है। हृदय पर पदक देदीप्यमान है। उसके बाहु शावक की सूँड के समान सुडौल हैं। उसके कंकण रुनझुन रुनझुन की प्रचण्ड ध्वनि करके मदन को चेतावनी दे रहे हैं।)

इस वर्णन को देखकर अनायास ही विद्यापति की राधा का स्मरण हो आता है—

'पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनक लता।'

वैसे तो महाभारत के सभी प्रसंग कवि ने बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किये हैं, पर उनमें द्रौपदी-वस्त्र-हरण, शकुन्तला-दुष्यन्त-आख्यान, नारद-नीति, जरासंधाख्यान तथा नल-दमयन्ती-आख्यान बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। शृंगार-रस का परिपाक कवि ने समय-असमय चाहे जब किया है। उदाहरण के लिए कौरव पांडव युद्ध का उत्तान शृंगारपूर्ण रूपक कवि ने इस प्रकार बाँधा है—

पांडव प्रताप पुरुष तरणा। नववधू कौरव सेना।
शृंगारिली परिसघट्टना। युद्ध सुरता न धारवे॥
गळाले अभिमानाचें वास। धर्माचें मोकळे केस॥
रणाभ्यासनीं श्रांत। मानोनियां पळाली॥
व्रण सघन पयोधर पीन। मर्दितां झाले आरक्त घन।
शकुनि कंचुकी आवण। पडिलें कोठें नेणवे॥
शस्त्र धारा तीक्ष्ण शर्तीं। चुंबितां मुख आंतळें क्षिती।
झाली रूपाची उपहती। कौरव-सेनावधूची॥

(पांडव प्रताप बाँका पुरुष है और कौरव-सेना नववधू। वधू साज शृंगार से सुसज्जित है, परन्तु युद्धरूपी सुरत अथवा सम्भोग नहीं करने देती। अभिमान रूपी सुगन्ध उसके शरीर से छूट रही है तथा धर्म रूपी उसके बाल खुल गये हैं। वह रणरूपी शैया पर अनुभूत कष्ट के कारण भाग उठी है। व्रण रूपी दृढ़ उरोजों का मर्दन करते ही वह आरक्त हो उठी है। शकुनि रूपी कंचुकी आवरण होकर न जाने कहाँ गिर पड़ी है। शस्त्रों की तीक्ष्ण धार रूपी

दाँतों से उसका मुख चूमते ही उस पर खरोंचे पड़ गई हैं और इस प्रकार कौरव-सेना-रूपी वधू का स्वरूप बिगड़ गया है।)

इन पंक्तियों में शृंगार का अत्यन्त उत्तान रूप प्रकट हुआ है, पर वह अपने में स्वतन्त्र होने के कारण हिन्दी-कवि विद्यापति आदि से तुलनीय नहीं है। हिन्दी-कवियों का शृंगार-वर्णन कृष्ण-राधा तथा गोपियों की लीलाओं को लेकर ही हुआ है, जबकि मुक्तेश्वर का शृंगार विषय से भिन्न कवि की निजी प्रवृत्ति को सूचित करता है।

नामदेव की ही भाँति संत तुकाराम ने भी पांडुरंग-भक्ति-परक असंख्य अभंगों की रचना की है। उनके अभंगों में स्वाभाविकता, तीव्रता, स्निग्धता, कोमलता और समानता के एक साथ दर्शन होते हैं। तीव्र भावोद्रेक पर आधारित होने के कारण तुकाराम के सभी अभंगो का स्वरूप स्फुट है। कहा जाता है कि संत तुकाराम ने कई सहस्र अभंगों की रचना की है, परन्तु अभी हाल ही में बम्बई सरकार द्वारा प्रकाशित उनकी गाथा मे लगभग पाँच हजार अभंग संग्रहीत हैं। महाराष्ट्र के सांस्कृतिक इतिहास में तुकाराम का वही स्थान है जो उत्तर भारत में तुलसीदास का है। संत तुकाराम को सगुण भक्ति ही प्रिय थी। वे मुक्ति नहीं चाहते थे, वे तो—

तुकाराम

पांडुरंग ध्यानी। पांडुरंग मनी। जागृति स्वप्नी। पांडुरंग।

का महामन्त्र का उच्चार करके भगवद्भक्ति के लिए असंख्य जन्म चाहते थे। तुकाराम के अभंगों में सच्चे मानवतावाद के दर्शन होते हैं। एक अभंग में वे कहते हैं—

जे का रंजले गांजले त्यासी म्हणें जो आपुले।
तोचि साधु ओळखावा। देव तेथेंची जाणावा।

(जो दुःख और कष्टों से पीड़ित मनुष्य को अपनाता है, वही सच्चा साधु है तथा भगवान् वहीं विद्यमान रहते है।)

तथा,

दया क्षमा शान्ती। तेथें देवाची वसती

(जहाँ दया, क्षमा और शान्ति रहती है वहीं भगवान् वास करते हैं।)

तुकाराम के अभंग आत्मानुभूति पर आधारित होने के कारण इतने लोकप्रिय हुए हैं कि उनके कई वचन भाषा का मूलभूत अंग बन गए हैं और लोगों के नित्य व्यवहार मे प्रयुक्त होते हैं। संत तुकाराम ने आत्म-चरितात्मक, आत्म-परीक्षक, आत्मानुभव-निवेदनात्मक, उपदेशात्मक, संत-चरित-वर्णनात्मक, पौराणिक-कथात्मक, स्तुति-परक, पंढरपुर-महिमा-वर्णनात्मक तथा विविध प्रसंगनिष्ठ अनेक प्रकार के अभंगो की रचना की है, पर यहाँ हम उनके विराणी के अभंगों पर ही विचार करेंगे।

भगवान् से संवाद करते समय संत तुकाराम अपने को भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में देखते हैं। कहीं विट्ठल को पिता कहते तो कभी माता मानते, कहीं उन्हें साहूकार कहते तो कहीं उन्हे मित्र समझकर उनसे प्रेम-कलह करने लगते। परन्तु उनके अभंगों में 'विराणी' के अभंग अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'विराणी' का अर्थ है अपनी इच्छा से विहार करने वाली। इन अभंगों मे अपनी इच्छा से पति का त्याग करके किसी अन्य पुरुष के साथ रममाण होने वाली स्त्री का चोंगा पहनकर शृंगार की अवस्था में कवि ने अभंगों की सरस

रचना की है। ये अभंग मधुरा भक्ति में और प्राप्त हैं परन्तु उनका शृंगार स्वानुभूति पर आधारित होने के कारण उन्हें पढ़ने से शृंगार रस की निष्पत्ति नहीं होती। आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण ही पाठक के मन में निर्वेद का भाव उत्पन्न होता है। एक उदाहरण देखिए—

> सद्‌गुरु आम्हीं भोंगु सर्वं काळ। तोडियेलें जाळ मोहपाश।
>
> याच साठीं सांडियेले भरतार। रातलों या परपुरुषासीं।
>
> तुका म्हणे आतां गभ नये पत्र। घोंघप लें फळ नसे ॥[1]

(पहले पति द्वारा मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं हुए अतः मैं व्यभिचारिणी बनी। अब प्रियतम की मुझे रात दिन चाह है। मैं उसके बिना क्षण भर भी नहीं रह सकती। मैं तो अब अनन्त में रममाण हो चुकी हूँ। अपने सभी संसार पाश मैंने तोड़ डाले हैं। अब तो मुझे सर्वांग सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करना है। इसीलिए तो पति को त्यागकर मैं इस पर-पुरुष के साथ रत हुई हूँ। अब तो ऐसी दवा ली है जिससे न तो गर्भ रहे और न कुछ फल प्राप्त हो।)

कृष्ण और गोपियों को लेकर भी तुकाराम ने हिन्दी और मराठी में कुछ गवलणें लिखी हैं परन्तु वे संख्या में बहुत ही थोड़ी और परिपाटी-बद्ध होने के कारण विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

संत तुकाराम तक मराठी कृष्ण-काव्य में भक्ति और तत्वज्ञान प्रकृति और पुरुष के युगल की भाँति विद्यमान रहे। इसीलिए मराठी भक्ति-सम्प्रदाय में भक्ति का सबल रूप नहीं दिखाई देता। मध्ययुगीन कवि श्रीधर रघुनाथ पंडित, मोरोपंत तथा वामन पंडित प्रभृति कवियों की हरि विजय कृष्ण विजय, राधा विलास, राधा-विलास आदि रचनाओं में जिस शृंगार का वर्णन होता है उस पर विचार पिछले अध्याय में हो चुका है।

मराठी कृष्ण-काव्य के इस विवेचन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महाराष्ट्र का कृष्ण भक्ति-सम्प्रदाय पूर्ण रूप से तत्व ज्ञान और कर्मयोग पर आधारित होते हुए भी लोकहित और राष्ट्रीय भावना के प्रति सर्वदा सजग रहा है जबकि हिन्दी के कृष्ण सम्प्रदाय का झुकाव लोकरंजन की ही ओर अधिक रहा है।

हिन्दी के कृष्ण भक्ति काव्य में भी दो प्रवाह इंगित होते हैं—सात्विक कृष्ण भक्ति का गान करने वाला काव्य तथा भक्ति-अधिष्ठित उत्तान शृंगारपरक काव्य। काल क्रम के अनुसार नरसी मेहता हिन्दी का पहला कृष्ण भक्त कवि माना जाता है।[2] नरसी के पदों में दास्य भाव पर आधारित शुद्ध भक्ति भावना ही सर्वत्र अभिव्यक्त हुई है। उसमें कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का वर्णन नहीं मिलता।

नरसी मेहता

नरसी मेहता के बाद सात्विक कृष्ण भक्ति का गान करने वाली विरहिणी मीरा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मीरा के पद जितने उत्तर भारत में लोकप्रिय हैं उतने ही महाराष्ट्र में भी हैं। यह सच है कि गोपियों की कृष्ण भक्ति का आदर्श मीरा ने अपने सम्मुख रखा था, पर उसके पदों में शृंगार संयम का उल्लंघन नहीं करता। उसकी भक्ति दास्य भाव पर

मीरा

१ तुकाराम गाथा अभंग ३०३१।

२ हिन्दी भक्ति काव्य डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० १०६।

आधारित होने के कारण उसका शृंगार शान्त रस में परिवर्तित होकर ईश्वर-विषयक मीरां के उत्कट प्रेम को ही प्रकट करता है। गोपाल-कृष्ण के प्रेमानन्द में आत्मविभोर इस कवयित्री में महाराष्ट्र के नामदेव तथा मुक्ताबाई आदि संतों जैसी आत्मानुभूति के दर्शन होते हैं। यह सच है कि मीरां ने कान्ता-भाव से ही गिरिधर नागर से प्रेम किया है और इसलिए उसमें पिया-मिलन की उत्कट लालसा भी बार-बार दिखाई देती है, पर उसका प्रेम मराठी संत-कवियों की भांति आत्मानुभूत होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में न तो कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का विस्तारपूर्ण वर्णन करने की ओर झुकाव है और न लौकिकता की गंध। निम्नलिखित पद से मीरां का यही प्रेम व्यक्त होता है—

> श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।
> नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ
> प्रेमी जन को जाँचूँगी।
> प्रेम-प्रीति के बांध घुँघरू,
> सुरत की कछनी काछूँगी।
> लोक लाज, कुल की मरजादा,
> या में एक न राखूँगी।
> पिया के पलंगा जा पौढूँगी
> मीरां हरि रंग राचूँगी।

विशुद्ध प्रेम की यही झांकी मीरां के विरह-वर्णन में भी दिखाई देती है। पिया के आने की प्रतीक्षा करते-करते जब मीरा के नयन थक जाते हैं तब वह अपनी मनोदशा को व्यक्त करती हुई कहती है—

> पिया बिनि रह्यो न जाइ।
> तन मन मेरो पिया पर वारूँ वार-बार बलि जाईं।
> निसि दिन जोऊँ वाट पिया की कबेर मिलोगे आई।
> 'मीरां' के प्रभु आस तुम्हारी लीज्यो कंठ लगाई।

भगवान् के विरह की ऐसी ही सच्ची अनुभूति ज्ञानेश्वर के उन अभंगों में व्यक्त हुई है जहाँ वे ईश्वर के वियोग में अपनी विरहावस्था का वर्णन करते हैं।

उत्तान शृंगार-प्रधान कृष्ण-भक्ति-परक काव्य-सृजन की ओर मैथिल कोकिल, विद्यापति और अष्टछाप के कवियों की प्रवृत्ति अधिक रही है। विद्यापति ने सर्वप्रथम अपने काव्य में उत्तान-शृंगार के रसीले चित्र खींचे। इन रूप-चित्रणों में विद्यापति पर गीतगोविन्द का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

विद्यापति

विद्यापति के काव्य के विषय को देखते हुए कई विद्वान् उनकी गणना भक्त-कवियों में करते हैं, परन्तु यह धारणा अब निराधार सिद्ध हो चुकी है। राधा और माधव जैसी चिर-परिचित विभूतियों को लेकर शृंगारिक रचना करते समय यदि यत्र-तत्र थोड़ी-बहुत भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो उससे कवि भक्तों की कोटि में कदापि नहीं रखा जा सकता और न ही उसके काव्य को भक्ति-काव्य कहा जा सकता है। ठीक यही बात विद्यापति पर लागू होती है। विद्यापति अन्तःप्रेरणा से ही शृंगारिक कवि

थे। पौराणिक साहित्य की परम्परा के अनुसार शृंगार के आराध्य देव हैं कृष्ण। इस परम्परा के कारण ही कदाचित् जयदेव ने 'गीतगोविन्द' का विषय राधा-कृष्ण को बनाया। जयदेव की ही भाँति विद्यापति ने अपने शृंगारिक वर्णन के लिए राधा-कृष्ण के रास विलास का आश्रय लिया। हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों तथा मराठी के पंडित कवियों ने इसी परम्परा का पालन किया है। अब तो यह भी प्रमाणित हो गया है कि विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे और शिव की उपासना के कारण ही उनका जन्म हुआ था। निम्नलिखित पद इसी बात की ओर संकेत करता है—

मानपात गन हरि कमलासन
सब परिहरि हम देवा।
भगत-बछल प्रभु बान महेसर
जानि कएलि तुम सेवा॥[1]

विद्यापति के पदों की गेयता अनुपम है। अलौकिक विभूतियों को लेकर लौकिक शृंगार का वर्णन करके विद्यापति ने अपने पदों में ऐसी माधुरी भर दी है कि देखते ही बनता है। राधा की वय संधि का वर्णन कवि कितनी कुशलता से करता है—

किछु-किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन-चपल-गति लोचन लेल॥

नख शिख का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

पीन पयोधर दूबरि गता।
मेरु उपजल कनक-लता॥

इसी प्रकार कवि ने प्रेम प्रसंग, दूती, मिलन-अभिसार, मान, मान भंग, विदग्ध विलास, वसन्त, विरह आदि का बड़ा ही मादक वर्णन किया है। मिलन का एक चित्र देखिए—

सुखद सेजोपरि नागरि नागर
बइसल नव रति-साधे
प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन।
थर थर काँपए राधे॥

राधा के साथ काम क्रीड़ा समाप्त करने के पश्चात् कवि ने कृष्ण का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सुरत समापि सुतल बर नागर।
पानि पयोधर आपी॥
कनक सम्भु जनि पूजि पुजारी
धएल सरोरुह झाँपी॥

विद्यापति ने उत्तान शृंगार का जैसा वर्णन किया है वैसा वर्णन मराठी के मध्य युगीन पंडित कवियों की रचनाओं में भी नहीं मिलता। पंडित कवियों ने भी पौराणिक आख्यानों पर आधारित अपनी रचनाओं में शृंगार का अत्यन्त सुन्दर परिपाक किया है पर उनकी रचनाओं में लौकिकता की छाप होते हुए भी सौन्दर्य के साथ संयम का एक अनूठा

१ विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० १६।

मेल दृष्टिगोचर होता है। इन वर्णनों पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने के लिए ही उन्होंने कई प्रसंगों को लेकर कृष्ण के ईश्वरत्व की भी जगह-जगह पर पुष्टि की है। ऐसा कोई भी प्रयत्न विद्यापति के पदों में दृष्टिगत नहीं होता। वस्तुतः विद्यापति की काव्य-सृष्टि कवि की वैयक्तिक रुचि का परिणाम होने के कारण उस पर किसी भी सम्प्रदाय के तत्त्व-विवेचन का प्रभाव नहीं पड़ा है। कवि ने जो कुछ लिखा वह सब स्वान्तःसुखाय है। परन्तु इसके ठीक विपरीत अष्टछाप के कवियों की काव्य-धारा साम्प्रदायिकता और वैयक्तिक रुचि के दो कूलों के बीच होकर बही है।

सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि

अष्टछाप के सभी कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य ने प्रेम-लक्षणात्मक भक्ति को ही विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने ईश्वर के सगुण और निर्गुण—दोनों रूपों को स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म को सगुण रस-रूप ही माना है। इसीलिए इस सम्प्रदाय में गोपियों तथा रास को विशेष महत्त्व मिला है। रास की व्याख्या करते हुए सुबोधिनी टीका में वल्लभाचार्य ने कहा है कि जिसमें बहुत-सी नर्तकियाँ हों और नाच करें, उसमें रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी रसयुक्त नाच का नाम 'रास' है। इस सम्बन्ध में वे यह भी कहते हैं कि रास-क्रीड़ा के मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है, देह-द्वारा प्राप्त अनुभव से नहीं।

रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति रसप्रादुर्भावार्थमेव नृत्यं
रासक्रीडायां मनसो रसोद्गमः नत्वे देहस्य।

वल्लभ सम्प्रदाय ने कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्गों में से केवल भक्ति को ही स्वीकार किया है। इसीलिए सूरदास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों ने सगुण ईश्वर की भक्ति को ही अपनी रचनाओं में प्रकट किया है। ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति का मार्ग उन्होंने अधिक सरल और शीघ्र फल देने वाला माना है। सूरदास तथा नन्ददास के भ्रमर-गीतों के गोपी-उद्धव-संवाद में इन कवियों ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म तथा भक्ति और ज्ञान की तर्कयुक्त चर्चा करके सगुण ईश्वर की भक्ति को श्रेष्ठ दिखाया है। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए सूरसागर के आरम्भ ही में सूरदास कहते है—

अविगत गति कछु कहत न आवै,
ज्यों गूँगे मीठे-मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै,
मन वाणी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै
रूपरेख गुण जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै
सब विधि अगम विचारैं ताते सूर सगुण लीला पद गावै।[१]

ईश्वर को सगुण-रस-रूप मानने के कारण ही अष्टछाप के भक्ति-सम्प्रदाय ने सबल रूप धारण किया और राधा-कृष्ण की भक्ति परिपुष्ट होती गई। अष्टछाप के लगभग सभी कवियों के काव्य का विषय तथा प्रतिपादन-शैली एक-सी ही है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है—"ताते वाणी तो सब अष्टकाव्य की समान है और ये दोऊ परमानन्द

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० १।

स्वामी और सूरदासजी सागर भये।'[1] यह समानता होते हुए भी इन सब कवियों की अनुभूतियों में और उन अनुभूतियों के भाव चित्रों में उनके अपने अपने व्यक्तित्व की छाप विद्यमान है। इसी प्रकार उपलब्ध काव्य का परिमाण भी भिन्न है। अष्टछाप के कवियों के काव्य में विषय का विवेचन करते हुए डॉ॰ दीनदयालु गुप्त लिखते हैं—"अष्टछाप के कवियों के काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का भावात्मक चित्रण है। महात्मा सूरदास ने सम्पूर्ण भागवत की कथा का अनुकरण किया है, परन्तु उसमें भी उन्होंने ब्रज कृष्ण की लीलाओं का चित्रण विस्तार और उत्तमता से किया है। सूरसागर में भागवत के बारहों स्कन्धों के आधार से कृष्ण चरित के साथ, अन्य अवतार और पौराणिक राजाओं का भी वर्णन है। नन्ददास ने कृष्ण-कथा के कुछ चुने हुए प्रसंग ही लिये हैं परन्तु उन्होंने भी, कृष्ण लीला-ग्रन्थों के अतिरिक्त, कृष्ण भक्ति से पूर्ण अन्य विषयों पर भी अपनी रचना की है, कृष्ण भक्ति से अलग उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। शेष छः कवियों की उपलब्ध रचनाओं का विषय, कृष्ण-चरित की भावात्मक ब्रज-लीला ही है।"[2]

विषय एक होते हुए भी भावमयी भक्ति से प्रेरित होकर इन कवियों ने 'कृष्ण चरित' न केवल उन भावात्मक स्थलों को ही चुना है जिनमें उनकी अन्तरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी है। इसलिए सूरदास और नन्ददास जैसे कवियों की रचना में भी, जिन्होंने कृष्ण चरित के कथा भाग का भी किसी हद तक वर्णन किया है भावमय स्थल ही रसात्मक है। इतिवृत्तात्मक स्थल नीरस हैं। जिस भक्त की मानसिक वृत्ति जिस लीला में रमी है, उसीका, उसने तन्मयता के साथ चित्रण किया है।

इन सभी कवियों ने केवल प्रेम भाव का ही चित्रण किया है। इन चित्रणों में आत्म तुष्टि की भावना और लोकरंजन कारिणी शक्ति होते हुए भी मर्यादा की कमी बराबर बनी हुई है। यह कमी उन शृंगारिक वर्णनों में अधिक खटकती है जहाँ उन्होंने राधा और कृष्ण की युगल-लीलाओं का माधुर्य भाव से वर्णन किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

नवरंग कंचुकी तन गाढ़ी,
नवरंग सुरंग चूनरी ओढ़े चन्द्र वधूटी ठाढ़ी।
नवरंग मदन गुपाल लाल सों प्रीति निरन्तर बाढ़ी,
स्याम तमाल लाल मन लपटी कनकलता-सी आड़ी।
सब रंग सुंदर नवल किसोरी, कोकाला गुनपाढ़ी
परमानन्द स्वामी की जीवनि रस सागर मंथि काढ़ी।[3]

× × ×

परिरम्भन मुख चुम्बन कच कुच नीवी परसत,
सरसत प्रेम अनंग रंग नवघन ज्यों बरसत।[4]

× × ×

१ 'अष्टछाप' डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ५५।
२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ३३४।
३ परमानन्दसागर सम्पादक, डॉ॰ दीनदयालु गुप्त, पद १२०।
४ 'नन्ददास', रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६६।

श्री गोवरधन गिरिसघन कंदरा, रैनि निवास कियो पिय-प्यारी।
उठ चले भोर सुरति रंगभीने, नन्द-नन्दन वृषभान-दुलारी॥
इत विगलित कचमाल मरगजी, अटपटे भूषन मरगजी सारी।
उतहीं अधर मसि पाग रही फवि, दुहूँ दिसि छवि बाढी अति भारी॥
घंपत आवत रति-रन जीते, करनी संग गजवर गिरिधारी।
'चतुर्भुजदास' निरखि दम्पति छवि, तन मन धन कीनो बलिहारी॥[1]

× × ×

आए हो उठि भोरहितें, रसमसे नन्द-दुलारे।
अरुन नैन अरु बैन अटपटे, मुखन देखियत अधरन रंग भारे॥[2]

—गोविन्द स्वामी

अति ही कठिन कुच ऊँचे दोऊ नितम्बनि सौं
गाढ़े उर लायके सो मेरी काम-हूक॥[3]

—छीतस्वामी

पियहिं निरखि प्यारी हंस दीन्हो।
रीझे स्याम अंग-अंग निरखत, हँसि नागरि उर लीन्हो॥
आलिंगन दे अधर दसन खंडि, कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सों नासा लै जोरत, नैन-नैन परसावत॥
इहि अन्तर प्यारी उर निरख्यौ, झझकि भई तब न्यारी।
सूर स्याम मोकों दिखरावत, उर ल्याए धरिप्यारी॥[4] —सूरदास

निष्कर्ष

पिछले पृष्ठों में हमने देखा है कि मराठी के कृष्ण-भक्त कवि नामदेव, तुकाराम, श्रीधर आदि ने भी कृष्ण-लीलाओं का शृंगारिक वर्णन किया है, परन्तु उनके वर्णनों में केवल पौराणिक प्रसंगों का निर्वाह होने के कारण शृंगार का लौकिक रूप प्रखर नहीं हो पाया है और न ही उनकी निजी भावानुभूति के उनमे दर्शन होते हैं। उनका शृंगार अधिक वस्तु-निष्ठ है। कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम में विह्वलता का मर्मस्पर्शी चित्रण है, परन्तु उसमे काम-वासना की उत्कटता का कहीं भी दर्शन नहीं होता। गोपियाँ क्षण-भर को भी नहीं भूलतीं कि उनका प्रियतम परब्रह्म-रूप है। इसीलिए इन कवियों के शृंगारिक वर्णनों में अध्यात्म का सूत्र सर्वत्र विद्यमान है। ऐसा लगता है मानो इन वर्णनों में कवि अपनी तटस्थता बनाये हुए है; वह उनमें स्वयं नहीं खो गया है।

अष्टछाप-कवियों के कृष्ण-लीला-वर्णन में भी परिपाटी का ही अधिक पालन हुआ है, परन्तु उनकी भक्ति प्रेम-लक्षणात्मक होने के कारण इन वर्णनों पर स्वानुभूति का भी पुट चढ़ा हुआ दिखाई देता है। इसीलिए उनके शृंगारिक वर्णनों में भक्ति और व्यक्ति के

१. अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २८८।
२. वही, पृ० २६०।
३. वही, पृ० २६८।
४. सूरसागर, १०-२४१२।

एक साथ दर्शन होते हैं। इन कवियों के शृंगारिक पदों की तुलना करने पर हम देखते हैं कि अन्य कवियों की अपेक्षा सूरदास के शृंगारिक पदों में लौकिकता का पुट कम है और यह उनकी व्यक्तिगत भक्ति भावना का ही परिणाम है। इसीलिए तो सूर के बाल रूप वर्णन आदि प्रसंगों में जिस रागात्मकता तथा अभिव्यंजना का दर्शन होता है उसका दर्शन उनके शृंगारिक पदों में नहीं होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उनके लीला-वर्णनों में कवित्व की कोई कमी है।

सूरदास ने कृष्ण जीवन के दो ही अंग अपने काव्य में प्रतिष्ठित किए हैं—बाल्य काल और यौवन। किन्तु इनका जितना सांगोपांग वर्णन सूरदास ने किया है, उतना न तो किसी हिन्दी कवि ने किया है और न किसी मराठी कवि ने। यह सच है कि मराठी संत-कवियों की भाँति सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना सूर के काव्य में नहीं मिलती, किन्तु यह कहना भूल होगी कि वे समाज के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन थे। सूर-साहित्य में अनेक स्थानों पर हम सामाजिक सम्बन्धों में पाखण्ड और क्रूरता के प्रति तीव्र आघात पाते हैं।[1] परन्तु सूर प्रधानतया प्रेम के ही कवि हैं और मुख्यतः इसी विषय का विस्तार उनके साहित्य में हुआ है। उनके कृष्ण महाभारत अथवा गीता के कृष्ण न होकर श्रीमद्भागवत के बाल कृष्ण और तरुण कृष्ण हैं और उन्हीं का विस्तृत वर्णन उन्होंने किया है। यद्यपि सूरदास के लिए कृष्ण की लीला प्रभु की लीला है, फिर भी मानव-जीवन का जितना चित्र विचित्र, स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक वर्णन सूर ने किया है उतना मराठी कवियों की कृतियों में नहीं मिलता। वस्तुतः सूर का शृंगार वर्णन मानव-जीवन का ही वर्णन है, क्योंकि उन्होंने कृष्ण को ईश्वर के रूप में कम देखा है सखा के रूप में अधिक। कृष्ण के प्रति सूर का प्रेम आत्मानुभूति पर आधारित है इसीलिए तो अन्तर्मथित होकर वे कहते हैं—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।

सूर का बाल-लीला वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली और स्वाभाविक है। बालक कृष्ण माखन चुराकर खाते हैं माँ उन्हें ऊखल से बाँध देती है। वह दूध पीना नहीं चाहते, माँ लालच देती है कि दूध पीने से चोटी बढ़ेगी। यशोदा कहती है—

कजरी को पय पियहु लाल, तेरी चोटी बढ़ै

कृष्ण पूछते हैं—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी

सूर के पदों में व्यथा, आनन्द, उपालम्भ, दैन्य सख्य—इन सबके एक साथ दर्शन होते हैं और यही सूर की अपनी विशेषता है। कृष्ण-जीवन के एक सीमित अंग को लेकर उसका जितना व्यापक और मर्मस्पर्शी वर्णन सूरदास ने किया है उतना मराठी कवियों ने भी नहीं किया।

---

१ सूर का मानवतावाद, प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'आलोचना' [illegible]

अध्याय—८

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का परवर्ती काव्य पर प्रभाव

पिछले अध्याय में देखा गया है कि सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर अपने इष्टदेव कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अपने पदों में गुण-गान करके भक्ति-रस को एक स्वतन्त्र-सा रूप प्रदान किया है।

हिन्दी कृष्ण-काव्य का रीति-कालीन कवि देव, बिहारी, मति-राम आदि तथा आधुनिक कवि भारतेन्दु, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त तथा द्वारिकाप्रसाद मिश्र पर प्रभाव

यह भक्ति रस पांच प्रकार का है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। इन पांच भावों पर आधारित भक्ति का उनके काव्य में समावेश होते हुए भी उन्होंने भक्ति-रस की शास्त्रीय व्याख्या नहीं की। कृष्ण-भक्त कवियों की राधा अनन्य स्वकीया नायिका है तथा अन्य गोपियाँ कुछ परकीया हैं और कुछ स्वकीया। उनका प्रेम एकनिष्ठ प्रेम है। गोपियाँ काम-रस से युक्त हैं, पर बाद में उनका काम शुद्ध प्रेम हो जाता है—

> तैसेंई गोपी प्रथम काम, अभिराम रसीरस।
> पुनि पाछे निःसीम प्रेम, जिहिं कृष्ण भये बस।
> × × ×
> तैसेंई व्रज की बाम, काम-रस उत्कट करिकें,
> सुद्ध प्रेममय भईं, लईं गिरिधर उर धरि कें॥[1]

कृष्ण के साथ राधा और गोपियों के इस प्रीति-सम्बन्ध के कारण ही उनकी रचनाओं में शृंगार के विभिन्न प्रसंगों के सुन्दर चित्र उपस्थित हुए हैं। इन कवियों ने राधा-कृष्ण का जो शृंगारिक वर्णन प्रस्तुत किया है, उसमें राधा-कृष्ण के पारस्परिक अनुराग के क्रमिक विकास, उनके संयोग तथा वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान, उपालम्भ, मिलन आदि के विविध कथनों में नायिकाभेद की अधिकांश सामग्री का अनायास ही समावेश हो गया है। हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों का यह नायिका भेद स्वकीया के ही अधिक अनुकूल है, अतः उनकी रचनाओं में स्वकीया नायिका के अनुकूल अज्ञातयौवना से लेकर मध्या, प्रौढ़ा

१. सिद्धान्त पंचाध्यायी, नन्ददास, पृ० १६३।

नायिकाओं के लगभग सभी भेदोपभेद समाविष्ट हैं। खण्डिता नायिका के तो कई पदों की रचना अष्टछाप के प्राय प्रत्येक कवि ने की है। उत्कण्ठिता, अधीरा और मानवती के उदाहरण देखिए—

चन्द्रावली स्याम-मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहुँ मलय रज भोवति॥
कबहुँ नैन अलसात जानिके, जल लै-लै पुनि धोवति॥
कबहुँ भवन, कबहुँ आँगनहूँ, ऐसे रैन बिगोवति॥
कबहुँक बिरह जरति अति व्याकुल, आकुलता मन में अति।
'सूर' स्याम बहु रमनि रमन पिय, यह कहि तब मुख तोवति॥

—सूरदास

आए हो उठि भोरहिं तें, रतमसे, नन्ददुलारे।
अरुन नैन अरु बैन अटपटे, मुख देखियत अधरन रंग भारे॥
एतो बार किन करत गुसाईं, जहाँ जाउ, जाके हो प्रान-प्यारे।
'गोविंद' प्रभु पिय भले जू भले जानि, जैसे तन स्याम, वसेई मन कारे॥

—गोविन्द स्वामी

दौरि-दौरि आवति, मोहि मनावति, दाम खरच कछु मोल लई री।
अचरा पसारति, मोहि को खिजावति, तेरे बबा की कहा चेरी भई री॥
जारी जा, दूती तू भवन आपुने, लाल बालन की एक बात कही री।
'नन्ददास' प्रभु वे क्यों नहीं आवत, उनके पायन कहा मेंहदी दई री॥

—नन्ददास

भक्त-कवियों ने अपने इष्टदेव म अपने मन को रमाने के लिए ही नायक-नायिका के ऐसे रूप-वर्णन प्रस्तुत किए हैं, नायिका भेद के लिए नहीं। भक्ति काल की यह रूप-वर्णन परिपाटी ही आगे चलकर रीतिकाल के 'नख शिख-वर्णन' में प्रसिद्ध हुई है।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की इस विशिष्ट शृंगारिक वर्णन पद्धति के कारण ही अधिकतर विद्वान् रीति-कालीन प्रवृत्तियों एवं रचनाओं पर विचार करते समय उन पर कृष्ण भक्ति-काव्य का प्रभाव देखते हैं। प्राय कहा जाता है कि कृष्ण भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित कृष्ण का सौन्दर्य, गोपियों का प्रेम, कृष्ण और गोपियों का विहार, जिसमें अनिवार्यत अलौकिक और आध्यात्मिक तत्त्व सन्निहित हैं रीतिकाल में लौकिक धरातल पर उतर आया। डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं— "इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण और सभी भक्त कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिकता और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई। फल यह हुआ कि श्रीकृष्ण सूरदास के 'प्रभु बाल-सघाती' न रहकर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार-बार निमन्त्रित किए जानेवाले 'लला, फिर आइयो खेलन होरी' वाले श्रीकृष्ण हो गए।"[1] रीति काल की परम्परा पर विचार करते हुए वे आगे लिखते हैं— "विषय की

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ११८।

सत्रहवीं शताब्दी के लगभग धार्मिक काल की पवित्रता नष्ट होने लगी थी। उसमें शृंगार के अत्यधिक प्राधान्य ने वासना के बीज बो दिए थे। राधा और कृष्ण की विनय अब कवित्त और सवैयों में प्रकट होकर नायिका और नायक के भेदों की कौतूहल-वर्धक पहेलियाँ सुलझाने लगी थी।''[1]

वास्तव में रीति-काल के काव्य पर हिन्दी कृष्ण-काव्य का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि आज प्रायः विद्वान् मानते हैं। यह सत्य है कि रीति-कालीन कवि देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द आदि की अधिकतर रचनाएँ राधा और कृष्ण को लेकर ही लिखी गई हैं तथा उनमें उत्तान शृंगार और नायिका-भेद प्रचुर मात्रा में समाविष्ट हुआ है, पर केवल विषय की दृष्टि से ही उस पर कृष्ण-भक्ति-काव्य का प्रभाव मान लेना युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। वास्तव में रीति-काल अपने में एक स्वतन्त्र युग का उद्‌घाटन करता है। रीति-काव्य ऐहिकतामूलक सरस काव्य है। ऐसे काव्य की रचना कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं के वर्णनों के कारण न होकर बहुत पहले से होती चली आ रही थी। हाल की सतसई, जिसका मूल रूप ईस्वी सन् के आसपास का माना जाता है, इसी प्रकार का शृंगार-प्रधान काव्य है। सतसई के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"इस सतसई का प्रभाव बाद में संस्कृत साहित्य पर भी पड़ा और गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' वस्तुतः उसीके आधार पर लिखी गई, यद्यपि उसका आधा सौन्दर्य इस सप्तशती में कम हो गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल की सतसई भी इस ग्रन्थ से प्रभावित है, जो सुकुमारता में अतुलनीय है। सैंकड़ों वर्षों से वह रसिकों का हियहार बनी हुई है और जब तक सहृदयता जीवित रहेगी तब तक बनी रहेगी।

"हाल की सतसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य मे बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकाओं की रसमयी क्रीडाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेम-गाथाएँ, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्म-स्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरल काव्य की ओर आकृष्ट होता है।"[2]

रीति-काल की ऐहिकतामूलक प्रवृत्ति का कारण तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ ही थीं जिनका विस्तृत विवेचन इतिहासकार कर चुके हैं। अतः उन पर पुनः विचार करना आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस विषय और वर्णन-शैली को रीति-कालीन कवियों ने अपनाया, वह परम्परा से चली आ रही थी। समय-समय पर काल की विशिष्ट आवश्यकताओं और लोक-रुचि के कारण वह ओझल अवश्य होती रही, पर उसका अस्तित्व सर्वदा विद्यमान था। रीति-काल की अनुकूल परि-स्थितियाँ पाकर यह लुप्तप्राय काव्य-धारा फिर प्रचण्ड रूप धारण करके बहने लगी। अतः इस काव्य-धारा का परम्परागत निजी अस्तित्व मानते हुए ही उस पर कृष्ण-भक्ति

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६१६।
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११२-११३।

काव्य का प्रभाव देखने का यहाँ प्रयत्न किया गया है।

ऊपर कहा गया है कि रीति-काल के अधिकतर कवियों ने, जिनमें कुछ भक्त भी रहे हैं, अपनी कविता का विषय राधा-कृष्ण की बनाया और उनके रूप-वर्णन में नायिका भेद तथा नखशिख का सरस वर्णन ही प्रस्तुत नहीं किया, अपितु इन नायक नायिकाओं को लेकर रीति-ग्रंथों की भी रचना की। रीति-कालीन उत्तान शृंगार-वर्णन के लिए नायक और नायिकाओं के इस चयन में कृष्ण भक्ति-काव्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि राधा और कृष्ण को लेकर शृंगार-वर्णन भक्त-कवियों की अपनी कल्पना नहीं थी, अपितु उसका बड़ा ही सरस और काव्यात्मक वर्णन उनसे पूर्ववर्ती कवि जयदेव, विद्यापति प्रभृति कर चुके थे। रीतिकालीन कवियों ने इसी प्राचीन परम्परा को आगे बढ़ाया। नायक और नायिका के अपने रूप-वर्णन में इन कवियों ने कृष्ण भक्ति-काव्य की सम्पदा का उपयोग किया हो तो आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि एक ओर उनके वर्णनों में कृष्ण भक्त कवियों के वर्णनों की अमिट छाप दिखलाई देती है और दूसरी ओर भक्ति की परम्परा का निर्वाह। इस विषय पर विचार करते हुए डॉ० मुन्शीराम शर्मा लिखते हैं—"पुष्टि-पथ की सेवा भक्ति और हरि लीला का जो स्वरूप सूरदास ने सूरसागर में खड़ा किया, उसका परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभूत मात्रा में प्रभाव पड़ा। राधा और कृष्ण का जो रूप सूर ने अंकित किया है उसकी अमिट छाप अन्य कवियों के काव्य ग्रन्थों में दिखलाई देती है। केशव, देव, बिहारी, रसखान, घनानन्द, भारतेन्दु, रत्नाकर, वियोगी हरि, सबके-सब अपनी काव्य-सामग्री और भावा-भिव्यक्ति के लिए सूर के बहुत ऋणी हैं।"[१] उन्होंने श्रीमद्भागवत, हरिवंश, वायुपुराण तथा अन्य पुराणों के आधार पर सूरदास द्वारा वर्णित कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन पर पदों की रचनाएँ ही नहीं कीं, अपितु उनकी वर्णन-शैली का भी अनुकरण किया है। कृष्ण की शोभा का वर्णन करते हुए सूरदास लिखते हैं—

> सोभा सिन्धु न अन्त रही री।
> नन्द भवन भरिपूरि उमगि चलि ब्रज की बीथिनु फिरति बही री॥
> × × × ×
> जसुमति उदर अगाध उदधि तें उपजी ऐसी सबनि कही री।
> सूर स्याम प्रभु इन्द्र नीलमनि ब्रज बनिता उर लाइ गुही री॥[२]

देव ने इसी भाव को निम्न प्रकार से कहा है—

> सुनों के परम पदु ऊनों के अनन्त मदु
> नूनों के नदीस नदु इन्दिरा झुरै परी।
> महिमा मुनीसन की सपनि दिगीसन की,
> ईसन को सिद्धि ब्रजबीथी बिथुर परी।
> भादों की अंधेरी अधराति, मथुरा के पथ,
> पाय के संयोग देव देवकी दुरै परी॥

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० ३८३।
२ सूरसागर (सभा) पद ६४७।

पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे इक बार ही कुरै परी ।

कृष्ण-छवि की यही अभिव्यंजना परवर्ती कवियों की रचनाओं में भी ज्यों-की-त्यों उतरी है। कुछ उदाहरण देखिए—

गोरज विराजे भाल, लहलही बनमाल,
आगे गैयां, पाछे ग्वाल, गावें मृदु तान री ।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी,
बंक चितवनि मन्द-मन्द मुसकान री ॥
कदम विटप के निकट, तटिनी के तट,
अटा चढ़ि देखु पीत पट फहरान री,
रस बरसावै, तन तपन बुझावै,
नैन प्रानिनि रिझावै वह आवै रसखान री ॥

—रसखान

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।
यह बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥

—बिहारी

पायन नूपुर मंजु बजे, कटि किंकिनि मे धुनि की मधुराई ।
साँवरे अंग लसे पटपीत, हिये हुलसे बनमाल सुहाई ॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचन्द जुन्हाई ॥
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥

—देव

मुरली लकुट वारे, चंद्रिका मुकुट वारे
रित हमारे दरो राधिका रमन जु ।

—हरिश्चन्द्र

उपर्युक्त पदों में कृष्ण का वही वर्णन है जो सूरदास ने सूरसागर में किया है। एक अन्य स्थान पर सूरदास कहते है —

बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानिके मोहि ।
हिरदे तें जब जाइहौ मरद बदौंगो तोहि ॥

इसी दोहे के आधार पर देव ने लिखा है—

रावरो रूप रम्यो भरि नैनन, बैननि के रस सौं श्रुति सानो ।
गात में देहत गात तुम्हारेइ, बात तुम्हारेइ बात बखानों ॥
ऊधो हहा हरिसों कहियो तुम, हौ न इहाँ यह हौं नहिं मानौं ।
या तन ते बिछुरे तो कहा, मनते अनतें जु बसौं तब जानौं ॥

नवोढ़ा राधा का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है—

नयो नाहु नयो नेहु नयो रस नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयो पीताम्बर नई चूनरी नई नई बूँदनि भीजति गोरी॥[1]

इसी पद के आधार पर देव लिखते हैं—

गौन नयो दिन चारि भयो, दिन वे नव यौवन ज्योति समाते॥
देखिये देव नयेई नये नित भाग सुभाग नये मदमाते॥
× × ×
नाह नये ये नयी दुलही, यें नये नये नेह नये नये नाते॥

सूर के पद—

सखी इन नैननु तें घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा मलिन दोउ तारे॥[2]

का भाव घनानन्द की इस रचना में ज्यों-का-त्यों उतरा है—

घन आनंद जीवन मूल सुजान की कौंधन हू न कहू दरस॥
× × ×
बदरा बरस ऋतु मे घिरि कैं, नित ही अखियाँ उघरी बरस॥

सूर का दूसरा पद है—

चितई चपल नैन की कोर।
× × ×
कहूँ मुरली कहूँ लकुट मनोहर, कहूँ पट, कहूँ चन्द्रिका मोर।[3]

सूरदास की इन्हीं पंक्तियों को लेकर बिहारी ने लिखा है—

कहा लड़ते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ, पीत पट कहुँ लकुट, बनमाल॥

इन उद्धरणों से रीति-कालीन कवियों की वर्णन-शैली तथा भक्ति विषयक पदों की रचनाओं पर सूरदास का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। ऐहिकतावादी होने के कारण रीति-कालीन कवियों को शृंगार रस प्रधान काव्य की रचना करना ही अभीष्ट था। भक्ति-पदों की रचना सम्भवतः उन्होंने केवल परम्परा निर्वाह और अपने उत्तान शृंगार प्रधान काव्य पर भक्ति का नैतिक आवरण डालकर उसे लोकग्राही बनाने के लिए ही की है। उनकी अनुभूति में भक्त कवियों की अनुभूति की तीव्रता नहीं है और न ही वह वातावरण है। अतः उनके भक्ति पदों में उच्च काव्य के समस्त गुण विद्यमान होते हुए भी सच्ची अनुभूति के दर्शन नहीं होते। भक्ति की तीव्र अनुभूति के अभाव के कारण ही भक्ति-काल के शृंगारिक वर्णन रीति-कालीन कवियों के हाथों उत्तान रूप धारण करके पूर्णतः लौकिक धरातल पर उतर आये हैं। कृष्ण भक्त कवियों ने स्वयं रससिक्त होने के लिए भगवान् की लीलाओं का पहले ही मानवी रूप प्रस्तुत कर दिया था। इन वर्णनों ने रीति-कालीन कवियों के रूप-वर्णन और राग रंग के लिए नैतिक आवरण का काम किया। इसीलिए तो इन कवियों के कृष्ण एक छैला, रसिक

१ सूरसागर (सभा), पद १३०१।
२ वही पद ३८५२।
३ वही, पद २३९७।

और कामोत्सुक नायक के रूप में चित्रित हो सके और राधा एक कामान्ध नायिका मात्र बन गई। राधा और कृष्ण का यही रूप निम्नलिखित दोहे में व्यक्त हुआ है—

राधा हरि हरि राधिका, बनि आए संकेत।
दंपति रति विपरीत सुख, सहज सुरत हू लेत ॥[1]

सहृदय चाहें तो इसमे भक्ति की तन्मयता के कारण राधा और कृष्ण की एकरूपता खोज निकाले।

इसी प्रकार देव कहते हैं—

भोर ही भोरे ही श्रीवृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो।
देव जू सोवत ही उत भामती झीनैं महा झलकै पट तान्यो।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छवि देखि हरी अकुलान्यो।
मीड़त हाथ फिरै उमड़्यो-सो मड़ो व्रज बीच फिरै मड़रान्यो।[2]

मतिराम के कृष्ण तो रात की क्रीड़ा से न अघाकर दिन में भी उसी ताक में रहते हैं—

केलि के राति अघानो नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ, पानी दे जाइयो', भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठि पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हेरै मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं, सुगेह की देहरी पै धरि आई ॥[3]

भारतेन्दु के पहले हिन्दी के रीति-कालीन कवि रूढ़ि-ग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास के ऐसे ही वर्णनों में डूबे हुए थे। वैष्णव होने के नाते भारतेन्दु ने भी अपने काव्य में इसी परम्परा का पालन किया। एक ओर उनके भक्ति-पदों पर सूरदास की वर्णन-शैली की छाप दृष्टिगत होती है, तो दूसरी ओर श्रृंगार-रस-वर्णन में रीति-काल के कवियों की। उनके काव्य की इन दो धाराओं पर विचार करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं—"उनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं पर यदि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान आदि का प्रभाव है, तो रीति-शैली की रचनाओं पर देव, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, हठी, पद्माकर आदि कवियों का प्रभाव मिलता है—विशेषतः घनानन्द, आलम, ठाकुर आदि कवियों का। इन कवियों की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में प्रेम की स्वच्छन्दता है।"[4]

भारतेन्दु की रचनाओं में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं को लेकर संयोग और वियोग-श्रृंगार तथा नायिका-भेद का यथेष्ट वर्णन हुआ है, यहाँ तक कि रीति-परम्परा के अनुसार उनके कृष्ण समस्त कोक-कला के ज्ञाता चित्रित हुए हैं—

नव कुंजन बैठे पिया नन्दलाल जू जानत हैं सब कोक-कला।
दिन में तहाँ दूती सुराय के लाई महाछबिधाम नई अबला ॥

---

१. बिहारी सतसई, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' दोहा ४८८।
२. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६७।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५४।
४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १४९-१५०।

जब धाय गही 'हरिचन्द' पिया तब बोली मनू तुम मोहि छला।
मोहि लाज लगे बलि पाय परौं दिस हौं हहा ऐसी न कीजै लला॥[1]

परन्तु, भक्ति के पदों मे ये ही राधा कृष्ण अलौकिक रूप धारण किये हुए हैं। इष्टदेव के प्रति कवि की अनुभूति निम्नलिखित पद से विदित होती है—

ब्रज के लता-पता मोहि कीजे।
गोपी-पद पंकज पावन की रज जामें सिर भीजे॥
आवन जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजे।
श्री राधे राधे मुख यह वर 'हरीचन्द' को दीजे॥[2]

भारतेन्दु के ऐसे भक्ति पदों मे सूरदास की अमिट छाप परिलक्षित होती है, यहाँ तक कि उनकी अभिव्यंजना और वर्णन-शैली भी सूर का ही अनुसरण करती है। दोनों की रचनाओं का साम्य निम्नलिखित पदों में देखा जा सकता है—

ऊधो, मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग, को आराध ईस॥
—सूरदास

रहैं क्यों एक म्यान असि दोय
जिन नैनन में हरि रस छायो तिहि क्यों भावै कोय।
—भारतेन्दु

सूरदास खल कारी कामरि प चढ़े न दूजौ रंग
—सूरदास

रंग दूसरो और चढ़ेगा नहीं, अलि साँवरो रंग रंग्यो सो रंग्यो॥
—भारतेन्दु

वधू-गीत, हाली, चन्द्रावलि की उक्तियों म खंडिता नायिका के चित्र, प्रेम प्रसंग आदि अनेक पदों मे भारतेन्दु ने सूरदास का ही अनुसरण किया है।[3]

भारतेन्दु के काव्य में विषय और शैली—दोनों को लेकर परम्परा का निर्वाह हुआ है, पर हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त और द्वारकाप्रसाद मिश्र की रचनाओं में इस परम्परा को एक नया मोड़ मिला। हरिऔध की कृष्ण-परक रचनाएं कृष्ण भक्ति-काव्य से विशेष रूप से प्रभावित रही हैं। यह सच है कि सूरदास जैसी भक्ति की तीव्र अनुभूति उनमें अभिव्यक्त नहीं हुई है, तथापि उनकी रचनाओं में भक्ति-भावना और लोक हित का सुन्दर समन्वय हुआ है। कदाचित् लोक हित के इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने कृष्ण भक्त कवियों द्वारा वर्णित अपने इष्टदेव की केलि क्रीडाओं का अनुकरण करते समय औचित्य और संयम की ओर अधिक ध्यान दिया है। देव, बिहारी पद्माकर, मतिराम आदि की तरह वे उत्तान शृंगार की दलदल में नहीं फँसे। उनका यह दृष्टिकोण उनके नारी चरित्रों से और भी स्पष्ट हो जाता है। वास्तव म उन्होंने नायिका भेद परिपाटी म एक क्रान्ति-सी

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० १४५-१४६।
२ वही, पृ० १४४।
३ भारतीय साधना और सूर साहित्य, डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० १८८।

उपस्थित की है। उनकी नायिकाएँ मुग्धा, खंडिता, मानिनी न होकर धर्म-प्रेमिका, लोक-सेविका, देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका तथा परिवार-प्रेमिका ही हैं। इन सभी नायिकाओं में रीतिकालीन कामुकता के स्थान पर राष्ट्रीय भावना और त्याग-प्रधान प्रवृत्ति विद्यमान है। इस औचित्य और संयम के कारण ही 'प्रिय-प्रवास' में उन्होंने गोपियों को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना राधा को दिया है। 'प्रिय-प्रवास' के अस्तित्व के लिए जितनी आवश्यक वियोगिनी राधा है, उतनी यशोदा भी नहीं है। राधा और कृष्ण के प्रणय-विकास का चित्र कवि ने बड़ी ही सावधानी से प्रस्तुत किया है। कवि कहता है—

जब नितान्त अबोध मुकुन्द थे।
विलसते जब केवल अंक में
वह तभी वृषभानु-निकेत में
अति समादर साथ गृहीत थे।
छविवती दुहिता वृषभानु की,
निपट थी जिस काल पयोमुखी।
वह तभी व्रजभूप कुटुम्ब की,
परम कौतुक पुत्तलिका रही।
यह अलौकिक बालक बालिका,
जब हुए कल-क्रीडन योग्य थे।
परम तन्मय हो बहु प्रेम से,
तब परस्पर थे वह खेलते।
कलित क्रीडन से इनके कभी,
ललित हो उठता गृह नन्द का
उमड़-सी पड़ती छवि थी कभी,
वर निकेतन में वृषभानु के।

कवि ने राधा का बड़ा ही स्वाभाविक और मानवीय चित्र प्रस्तुत किया है। विचित्र सौन्दर्यशाली कृष्ण के प्रति राधा के हृदय में पहले आकर्षण और फिर प्रणय का संचार होता है। वह अपने कोमल हृदय को तो श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर ही चुकी है, विधिपूर्वक पति-रूप में उनको वरण करने की भी उसकी कामना है, पर कृष्ण के मथुरा चले जाने से उसकी भावना पर अचानक तुषारपात हो जाता है और वह स्वयं परोपकार की ओर अधिक प्रवृत्त हो जाती है। वह स्वभाव से ही परोपकारशील है—

रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा
राधा थी सुमुखी विशाल हृदया स्त्री-जाति-रत्नोपमा।

राधा की ही भाँति कृष्ण का चरित्र-चित्रण भी हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करता-सा प्रतीत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि हरिऔध की अन्तर्दृष्टि के सामने भक्त-कवियों द्वारा वर्णित कृष्ण का स्वरूप नहीं रहने पाया, फिर भी एक आदर्श महापुरुष के रूप में कृष्ण का चित्रण करके और उनके जीवन में शक्ति तथा माधुर्य की सौन्दर्य-सृष्टि करके उन्होंने भक्ति तथा रीतिकालीन परम्परा को एक नई दिशा में मोड़ा।

'प्रिय प्रवास' के कृष्ण सुन्दर, चतुर, सुकुमार तथा अनेक गुणों के आधार हैं। महावृष्टि के समय वे स्वयंसेवक का कार्य करते हैं—

पहुँचे वह थे उस गेह में
जन अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा बहु भाँति की
वह उन्हें रखते गिरि अक में।

इसी प्रकार ग्वालों को अग्नि की ज्वाला में भस्म होते देखकर वे आत्मीय प्रेम के भावों को जगाते हैं—

विपत्ति से रक्षण सर्व भूत का,
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना सकट से स्वजाति का,
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।

'प्रिय प्रवास' के कृष्ण मानववादी हैं। उनमें बुद्धि, अनुराग और विवेक का सुन्दर सघर्ष दिखाया गया है। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे अपनी मानवोचित दुर्बलता पर विजय प्राप्त करते हुए दिखाये गए हैं। राधा और कृष्ण का मानवीय चित्र उपस्थित करते हुए भी हरिऔध ने एक ओर रीतिकालीन शृगारिक वर्णनों की उपेक्षा की है और दूसरी ओर भक्त-कवियों द्वारा प्रतिपादित कृष्ण के ईश्वरीय रूप को अधिक लाक्षणिक बनाया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति सयोग और वियोग शृगार का वर्णन किया है। पर उसमें रीतिकाल का अतिरेक नहीं है। राधा और गोपियों के विरह वर्णन में रीति की छाप अवश्य दृष्टिगत होती है पर अष्टछाप के कवियों की भाँति उनकी गोपियाँ प्रकृति को भला-बुरा नहीं कहतीं। भक्ति-कालीन परम्परा के अनुसार गुप्तजी ने भी उद्धव-गोपी-सवाद तथा रास प्रसग का वर्णन किया है, पर बहुत ही सक्षेप में। उनकी गोपियाँ सूर और नन्ददास की गोपियों की ही भाँति वाग्विदग्धा हैं तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही श्रेष्ठ मानती हैं। कृष्ण के वियोग में राधा की करुण दशा का हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए एक गोपी कहती है—

ज्ञान योग से हमें हमारा
यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप गुण
नाट्य, कवित्व, कला है।[१]

× × ×

हमें मोह ही सही, किन्तु, वह
उसी मनमोहन का

---

१ द्वापर, पृ० १७०।

काम, किन्तु वह उसी श्याम का
लोभ उसी जल-धन का।[1]

कृष्ण के विषय में अपने पुनीत प्रेम को व्यक्त करते हुए विद्युता अपने पति से कहती है—

अधिकारों के दुरुपयोग का
कौन कहां अधिकारी ?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?
मैं पुण्यार्थ जा रही थी, तुम
पाप देख बैठे हा !
और आप अवसर के वर को
शाप लेख बैठे हा ![2]

× × ×

श्याम-सलोने पर यदि सचमुच
मेरा मन ललचाया
तो फिर क्या होता है इससे
कहीं रहे यह काया।[3]
अथवा तुम्हें दोष क्या, युग ही
यह 'द्वापर' संशय का
पर यदि अपना ध्यान हमें है,
तो कारण क्या भय का ?[4]

इन पंक्तियों द्वारा कवि एक ओर कृष्ण और गोपियों के परस्पर प्रेम को स्वीकार करता है और दूसरी ओर रीति-काल की दुर्गन्धमयी वासना का बहिष्कार भी करता है।

गुप्तजी की भक्ति पर भी राष्ट्रीयता और लोक-कल्याण का रंग अधिक चढ़ा हुआ है। इसीलिए भक्त-कवियों की भक्ति-वासना से प्रेरित होते हुए भी उन्होंने कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा निरूपित कृष्ण के रूप तथा केलि-क्रीड़ाओं की ओर अधिक ध्यान न देकर गीता के दिव्य-सन्देश में ही कृष्ण के व्यक्तित्व को देखा है। कृष्ण के वेणुवादन में भी गीता का ही स्वर गूंज उठा है। कृष्ण कहते हैं—

राम-भजन कर पांचजन्य ! तू,
वेणु बजा लूं आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले,
स्वर ये मेरे भाव भरे—

---

१. द्वापर, पृ० १८४।
२. वही, पृ० ३३।
३. वही, पृ० ३६।
४. वही, पृ० ३६।

कोई हो सब धर्म छोड़ तू
आ, बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे
मेरे हाथों तू न तरे ?[1]

'जय भारत' में प्रसंगवश जो थोड़ा-बहुत कृष्ण का स्वरूप देखने को मिलता है वह भी महाभारत में वर्णित कृष्ण-चरित्र की परम्परा का ही निर्वाह करता है।

द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' कृष्ण भक्ति-काव्य में एक नया प्रयास है। अष्ट छाप के कवियों ने अब तक वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग का अनुसरण करके कृष्ण के बाल रूप सौन्दर्य और रासादि प्रसंगों को लेकर ही अपने काव्य की सृष्टि की थी। इस काव्य धारा में कृष्ण का धर्म संस्थापक कर्मयोगी रूप सदा उपेक्षित रहा था। रीतिकालीन कवियों ने भी गोपी जन-वल्लभ और राधा-कृष्ण के शृंगारिक वर्णनों में ही अपनी कल्पना की दुर्गन्धिता और काव्य का मौष्ठव दिखाया था। इस प्रकार भारतेन्दु तक कृष्ण भक्ति साहित्य में कृष्ण का केवल रंजक रूप ही जनता के सामने प्रस्तुत हो सका।

द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्ण के चरित्र के सभी पक्षों को अपने काव्य में समाविष्ट करके हिन्दी में सर्वप्रथम कृष्ण के समग्र रूप को सामने रखकर भक्ति का विषय बनाया है। गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं के आगे महाभारत के राजनीतिज्ञ कृष्ण का चरित्र तथा उपदेश जनता प्रायः भूल-सी गई थी। 'कृष्णायन' ने इस कमी को पूरा किया है। इसी वस्तुस्थिति पर विचार करते हुए कृष्णायन की भूमिका में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना लिखते हैं— प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता ने कृष्ण चरित्र के उपर्युक्त तीनों[2] विकसित रूपों को सम्पूर्ण रूप से उपस्थित किया है। बाल-गोपाल और गोपी जन-वल्लभ तथा राधा कृष्ण का स्वरूप सजीव भाषा में फिर हमारे सामने आ गया है यह उचित ही है। राष्ट्र की सैकड़ों वर्षों की साधनाओं और प्रवृत्तियों को सहसा ठुकरा नहीं सकते। यह सम्भव ही नहीं पर उसके साथ सुयोग्य ग्रन्थकार ने महाभारत तथा भगवद्गीता के धर्म-संस्थापक और कर्मयोग प्रवर्तक कृष्ण को सच्चे वास्तविक रूप में हिन्दी भाषा भाषी जनता के सामने प्रथम बार उपस्थित करके धार्य संस्कृति तथा धर्म की ओर प्रेरित किया है। वर्षों से कृष्ण-चरित्र के चारों ओर जो कुहरा-सा एकत्रित हो गया था, उसे दूर करके इस महान् चरित्र-नायक के उज्ज्वल स्वरूप और तेज को अपने असली रूप में बीसवीं शताब्दी के इस महाकवि ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है।"

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने राधा को परकीया न मानकर कृष्ण की कान्ता-कामिनी और भक्ति का अवतार माना है। राधा के प्रथम दर्शन में कृष्ण को क्षीर-सिन्धु की याद आ जाती है।[3] इस उक्ति द्वारा कवि ने राधा का स्वकीया तथा अवतारी होना प्रस्थापित किया है। गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण के प्रेम की परम्परा को बनाए रख कर भी कवि ने न तो उसे अधिक विस्तार दिया है और न ही उसे रीतिकालीन कवियों

---

१ द्वापर पृ० १२।

२ (क) धर्म-संस्थापक कर्मयोगी कृष्ण, (ख) गोपीजन-वल्लभ और राधा-कृष्ण तथा (ग) बाल-गोपाल।

३ मनु मधु क्षीर सिन्धु सुधि आइ कौतुक मोहित मन अकुलाई।

की भाँति कलुषित होने दिया है।

मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों का परवर्ती कवियों पर प्रभाव देखने के लिए मराठी के कृष्ण-भक्ति-काव्य की परम्परा पर थोड़ा-सा विचार कर लेना उचित होगा।

मराठी कृष्ण-कवियों का मध्ययुगीन कवि मोरोपंत, रघुनाथ पंडित आदि तथा आधुनिक कवि गोविन्दाग्रज, माधव जूलियन आदि पर प्रभाव

मराठी में कृष्ण-भक्ति का आरम्भ महानुभावपंथ के महा-कवियों की रचनाओं से होता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को स्वीकार करके ज्ञानेश्वरी की रचना द्वारा कृष्ण-भक्ति की इस प्रतिष्ठापना में योग दिया था। मराठी में भक्ति-पंथ का अधिष्ठान कृष्ण का चरित्र न होकर उसका उपदेश होने के कारण मधुरा-भक्ति का स्वतंत्र पंथ स्थापित नहीं हो सका। पति-पत्नी के सम्बन्ध में जो उत्कट माधुर्य होता है, वही प्रेमाभक्ति देवता और भक्त में होती है। इसी धारणा के कारण भारत में मधुरा-भक्ति के स्वतंत्र पंथ की स्थापना हुई थी। मधुरा-भक्ति की स्थापना के अनुसार देवता प्रेम का आस्वाद लेने के लिए ही अवतार लेता है, साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दलन करने के लिए नहीं। सन्त ज्ञानदेव ने भी आराध्य और आराधक के बीच पति-पत्नी का प्रेम-सम्बन्ध माना है, तथा दाम्पत्य-भाव के प्रतीक का उपयोग चार-पाँच बार किया है। इसी प्रकार अपने चार-पाँच अभंगों में उन्होंने स्वानुभूत विरहावस्था का भी वर्णन किया है। वे कहते हैं—"घन गर्जना हो रही है, वायु बह रही है और मेरी विरहावस्था असहनीय हो रही है। इसलिए भवतारक कान्हा से मेरी तुरन्त भेंट करवाइये। चाँदनी, चम्पा और चन्दन की सुगन्ध से मेरी विरहाग्नि और अधिक भड़क रही है। देवकी के पुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे से मुझे प्रेम नहीं है। चन्दन की चोली से मेरी कोमल देह धधक रही है, अतः कान्हा से मेरा तुरन्त मिलन कराइये।" आदि। ज्ञानेश्वर ने श्रीकृष्ण की प्रार्थना रुक्मिणी के ही रूप में की है, न कि राधा के रूप में। अपनी अनुभूति की तीव्रता प्रकट करने के लिए उन्होंने अपने को स्वकीया, सती और साध्वी माना है। परकीया मानने से गोपी भाव की निर्मिति होती, जिसमें शृंगार का स्वाभाविक निर्वाह होता है।

संत नामदेव की 'गवळणी' तथा 'विरहिणियों' में भी कान्ताभाव का समावेश हुआ है। संत एकनाथ ने कृष्ण-भक्ति-परक अपने लगभग तीन सौ अभंगों में रास-क्रीड़ा, राधा-विलास, गौळण और विरहिणी के वर्णन में अध्यात्म को ही अधिक प्रश्रय दिया है। 'भागवत' में अवश्य गोपी-भाव का समावेश हुआ है, पर इस विषय में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए एकनाथ कहते हैं—

"रास-क्रीड़ा गोपिकां प्रति कोण म्हणेल कामासक्ति", अर्थात् कौन कह सकता है कि कामासक्त होकर गोपियाँ रास-क्रीड़ा करती थीं? कृष्ण के सहवास में काम निष्काम हो जाता था।

संत एकनाथ ने रास-क्रीड़ा का अर्थ गोपियों का ध्यान-योग माना है। संत एकनाथ की ही भाँति संत तुकाराम ने भी रास-क्रीड़ा और विरहिणी के वर्णन-परक कुछ अभंगों की रचना की है। इन अभंगों की संख्या पन्द्रह-बीस से अधिक नहीं है। इन थोड़े-से अभंगों में भी कृष्ण के साथ रममाण होने वाली गोपिकाओं का वर्णन संत तुकाराम ने बड़े ही संयम से

किया है, तथापि अपने आपको गोपी मानकर जहाँ उन्होंने काम के समाधान के विषय में भी कहा है, वहाँ अध्यात्म की ही ओर सीधा संकेत है। वे कहते हैं—

काह्न्या रे जगजेठी, देई भेटी एक वेळे ॥
काय मोकलिल वनीं। सावजानी वेढिलें ॥
येथवरी होता संग। अगे अंग लपविलें ॥
तुका म्हणे पाहिलें मागें। एवढ्या वेगें अंतरला ॥[1]

अर्थात्—हे कान्हा! तू फिर मुझे एक बार मिल जा। संसार में तू बड़ा सामर्थ्यवान् कहलाता है। क्या इस मुक्त वन में तुझे दूसरी प्रेयसियों ने घेर लिया है? मैं अब तक तेरे सहवास में थी। मैंने अब तक अपने आपको खूब सँभाल रखा था, पर अब जब मैं उत्सुक हुई हूँ तो तू अकस्मात् अदृश्य हो गया है।

संत कवयित्री जनाबाई ने अवश्य राधा और कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है, पर ऐसे अभंग संख्या में बहुत ही थोड़े हैं। कहीं-कहीं उसने स्वयं अपने को भी राधा मान लिया है। वह कहती है—

राधा आणि मुरारी, क्रीडा कुंजवनी करी ॥
राधा डुल्लत डुल्लत, आली निज भुवनांत ॥
सुमनांचे सेजेवरी। राधा आणि तो मुरारी ॥
आवडीने विडे देत। दासी जनी उभी तेथ ॥[2]

तथा,

जनी म्हणे देवा मी झालें वेसवा। निघालें केशवा घर तुझें ॥

ऐसे अभंग बहुत ही थोड़े होने के कारण कवयित्री के प्रमुख भक्ति भाव को सूचित नहीं करते। उसका अधिकांश काव्य वात्सल्य और शान्त रस से ही ओत प्रोत है। संत कवयित्री बहिणाबाई के काव्य में भी विट्ठल के प्रति शुद्ध प्रेम की ही भावना व्यक्त हुई है।

वारकरी सम्प्रदाय के भक्त-कवियों के काव्य में मधुर भाव का जो थोड़ा-बहुत समावेश हुआ है वह सब कवियों की आत्मानुभूति पर ही अवलम्बित है।

महानुभाव पंथ के कवियों ने अपने कृष्ण काव्य में शृंगार का सुन्दर परिपाक किया है, पर उन्होंने भी स्वकीया भाव को ही आश्रय दिया है। काव्य की नायिका राधा न होकर कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी है। नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर', जो इस आख्यान पर सर्वप्रथम मराठी काव्य माना जाता है, रुक्मिणी की विरहावस्था का बड़ा ही सरस और स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत करता है।

मराठी की आदि कवयित्री महदंबा के "धवले" कृष्ण रुक्मिणी विवाह के प्रसंग को लेकर वर विषयक सरस गीत हैं, पर वे शृंगार की कोटि में नहीं आते। भास्कर भट्ट बोरीकर का 'शिशुपाल वध' मराठी का दूसरा शृंगाररस प्रधान प्रबन्ध-काव्य है। इस प्रबन्ध में कवि ने श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम-कलह तथा विरहिणी गोपियों की हृदयद्रावक अवस्था

---

१ देवडीकर कृत श्री तुकाराम महाराजांची गाथा, अभंग २२५०।

२ (राधा और मुरारी कुंजवन में क्रीड़ा करते हैं, राधा झूमती-झूमती से अपने घर में आती है। सेज पर राधा और कृष्ण एक-दूसरे को ताम्बूल दे रहे हैं और दासी जनी वहाँ खड़ी है।)

का बड़ा ही सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है।

महानुभाव तथा वारकरी सम्प्रदाय के कवियों की काव्य-प्रवृत्ति के इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने मधुरा-भक्ति का प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि कृष्ण-चरित की अपेक्षा कृष्ण के उपदेश को ही अपने काव्य का विषय बनाया। यदि कहीं उन्होंने कृष्ण-विषयक किसी पौराणिक आख्यान को लेकर प्रबन्ध लिखा भी है, तो भी वहाँ उन्होंने कृष्ण और रुक्मिणी के दाम्पत्य-प्रेम का ही स्वाभाविक और संयमपूर्वक चित्रण किया है और इसीलिए उनके काव्य में शान्त रस का ही प्रमुखता से परिपाक हुआ है।

मराठी के कृष्ण-भक्त कवियों में भास्कर भट्ट ही एक ऐसे कवि हैं जिनकी मनोवृत्ति लौकिक काव्य लिखने की ओर थी, परन्तु लौकिक काव्य उस समय शिष्ट-सम्मत नहीं था। फिर भी भास्कर भट्ट के काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के मनोहर वर्णन, कल्पना की ऊँची उड़ान और अलंकार-विभूषित भाषा-शैली से तत्कालीन रसिक इतने मोहित हुए थे कि उन्होंने भास्कर भट्ट को कवीश्वराचार्य की उपाधि से विभूषित किया था। भास्कर की काव्य-प्रवृत्ति का अनुकरण मराठी के लगभग सभी पंडित कवियों ने किया है।

पंडित कवियों के समय महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना हो चुकी थी तथा पिछले तीन सौ वर्षों में महाराष्ट्र की भाषा तथा सभ्यता में जो यावनी संस्कार आ गए थे उनसे मुक्त होने का भरसक प्रयत्न हो रहा था। छत्रपति शिवाजी ने अपने मंत्रिमंडल के अष्ट-प्रधानों को संस्कृत की उपाधियाँ दी थीं तथा यह भी प्रयत्न हो रहा था कि राज-व्यवहार की भाषा शुद्ध मराठी हो और जहाँ तक सम्भव हो सके, फारसी शब्दों के स्थान पर विशुद्ध भाषा का प्रयोग किया जाए। यह समय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए अत्यन्त अनुकूल समय था, अतः विद्वानों का ध्यान स्वाभाविक रूप से प्राचीन संस्कृत साहित्य की ओर आकर्षित होने लगा। ज्ञानेश्वर और एकनाथ संस्कृत भाषा के विद्वान् थे तथा संस्कृत ग्रन्थों पर उन्होंने टीकाएँ भी लिखी थीं। परन्तु अभी तक साधारण जनता के लिए संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद मराठी भाषा में प्रस्तुत करने की ही प्रवृत्ति थी। अब धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त पौराणिक ग्रंथों एवं संस्कृत के काव्यों का भी मराठी में अनुवाद होने लगा तथा संस्कृत छन्दों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ। मराठी भाषा भी अधिकतर संस्कृत के ही ढंग पर लिखी जाने लगी। संस्कृत-काव्य की सरसता तथा लालित्य का मराठी भाषा पर रंग चढ़ने लगा तथा शान्त रस का स्थान शृंगार रस ने ले लिया। पंडित कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि 'वामन पंडित' की रचनाओं में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वामन पंडित ने एक ओर 'निगमसार'-जैसे गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण शुष्क अध्यात्म-परक ग्रंथ लिखे, तो दूसरी ओर 'राधाविलास', 'कात्यायनी व्रत'-जैसे उत्तान शृंगार-रस-प्रधान मधुर काव्यों की रचना की। 'रास-क्रीड़ा' अथवा 'गोपवधू विलास' में शृंगार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं ही आत्म-विश्वास से कहता है—

ह्या हि उपरी काव्यनाटक मिषें शृंगार जो पाहणें
या श्रीकृष्ण कथामृतीं न रमणें धिक्-धिक् तयाचें जिणें।

(इस श्रीकृष्ण-कथा-रूपी अमृत में रममाण न होकर जो लोग शृंगार का आस्वादन करने के लिए काव्य-नाटकादि की ओर जाते हैं उनके जीने पर धिक्कार है।)

कृष्ण चरित्र को लेकर शृंगार का इतना सुन्दर परिपोष करते भी व पाठक को सावधान करते हुए कहते हैं—

शृंगारामृत हेचि प्या त्यजुनियाँ दुर्वासना कामना

अर्थात् काम-वासना का परित्याग करके ही शृंगारामृत का पान कीजिए।

इस प्रकार वामन में भक्ति भाव और काव्य-सौन्दर्य का सुन्दर मेल दृष्टिगत होता है। वामन पंडित का शृंगारिक काव्य भक्ति के प्रतीकात्मक रूप में ही है, क्योंकि कवि ने अधिकतर भक्ति परम्परा का ही अनुसरण किया, परन्तु काव्य के साहित्यिक गुणों की ओर उनका विशेष ध्यान रहा है। मेघदास की ही भाँति वामन पंडित भी काव्यगुणों को विशेष महत्त्व देते थे। वस्तुतः वामन पंडित की काव्य रचना में एक नई साहित्यिक परम्परा का आरम्भ हुआ है। इस कवि की देखादेखी जो काव्य धारा प्रवाहित हुई वह मराठी में पंडित-काव्य धारा के नाम से प्रसिद्ध है। इस काव्य-धारा का रूप भी बहुत कुछ हिन्दी की रीतिकालीन काव्य धारा-जैसा ही है। रीतिकालीन कवियों की ही भाँति पंडित कवियों ने भी वाग्वैदग्ध्य, रचना कौशल एवं अलंकार-योजना को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति-काल में काव्य को जहाँ भक्ति का केवल साधन माना जाता था, वहाँ अब उसमें साहित्य शास्त्र विषयक कुतूहल का समाधान होने लगा। ये सभी कवि संस्कृत-साहित्य और साहित्य शास्त्र के विद्वान् थे, पर अभिजात कवि की प्रतिभा उनमें नहीं थी। अतः संस्कृत ग्रन्थों के उन्होंने सफल अनुवाद किये तथा मौलिक रचनाओं में संस्कृत काव्य के ढंग पर शृंगार रस का आश्रय लेकर भक्तिकालीन तापसी कविता-कामिनी को काव्याभरणों से सुसज्जित करके उसे एक नया और कुछ अर्थों में लौकिक रूप प्रदान किया।

अभी तक मराठी कृष्ण-कविता मुख्यतः महाभारत, गीता और भागवत के एकादश स्कन्ध पर ही आधारित थी, पर पंडित कवियों ने महाराष्ट्र के समृद्धि काल में अनुकूल वातावरण पाकर भागवत पुराण को आधार मानकर कृष्ण-कथा कहना आरम्भ किया। कृष्ण के जीवन के छोटे-बड़े प्रसंगों को लेकर भी स्फुट रचनाएँ होने लगीं। भास्कर भट्ट, नरेन्द्र, दामोदर पंडित आदि महानुभाव पंथ के कवि पहले ही *आख्यानपरक काव्य की रचना कर* चुके थे। उनके काव्य में भक्ति के साथ-साथ सुन्दर शृंगार का भी परिपोष हुआ था, पर यह शृंगार दाम्पत्य भाव पर ही आधारित था और इसीलिए उसमें औचित्य और विवेक की स्थापना के कारण शृंगारिक वर्णन भी भक्ति रस के ही पोषक सिद्ध हुए थे।

पंडित कवियों में सर्वप्रथम वामन पंडित ने ही भागवत पुराण को अपने काव्य का आधार बनाया। सन् १८६४ में वामन दाजी ओक के सम्पादकीय नेतृत्व में वामन पंडित की कविताओं का जो प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है उसमें 'नाम सुधा', 'कृष्ण जन्म', 'कृष्ण भक्ति', 'बाल क्रीड़ा (प्रथम तथा द्वितीय)', 'गो रस-हरण', 'ऊखल-बन्धन', 'वन-सुधा', 'हरि विलास', 'वेणुसुधा', 'कात्यायनी व्रत', 'यज्ञपत्न्याख्यान', 'रास-क्रीड़ा', 'गोपी-गीत', 'कंस वध', 'द्वारका विजय', 'रुक्मिणी-पत्रिका', 'रुक्मिणी विलास', 'मुकुन्द विलास' आदि कृष्ण चरित्र-परक रचनाएँ संकलित हैं। सन् १८९६ में प्रकाशित दूसरे भाग में 'राधा विलास', 'राधा भुजंग', 'भामा विलास', 'नौका क्रीड़ा', 'जल क्रीड़ा', 'पारस विजय' आदि चरित्र विषयक आख्यान हैं। 'कृष्ण-जन्म', 'मृत्तिका भक्षण', 'हरि विलास', 'वेणु सुधा', 'ऊखल बन्धन' आदि आख्यानों

में कृष्ण की बाल-लीलाओं का आध्यात्मिक भाषा में वर्णन किया गया है। वात्सल्य का स्वाभाविक वर्णन वामन पंडित के काव्य में प्रकट हुआ है। शेष आख्यानों में कृष्ण बालक ही हैं, पर भक्त की कामना पूरी करने के लिए प्रसंगानुसार वे युवक भी बन जाते हैं।[1]

वामन पंडित के ये सब आख्यान शृंगारिक भाषा में हैं, पर उनका अर्थ कवि ने बार-बार अध्यात्म, वेदान्त और भक्ति द्वारा किया है। गोपी-वस्त्र-हरण का वर्णन करते हुए कवि ने रूपक का आश्रय लिया है। देह गोकुल है, सत्यवृत्ति गोपिका, अध्यात्म-रूप हरि, अहंकार गोप और आत्मा वधू है। इसीलिए कवि कहता है—'की मार्गशीर्ष हरी रूप तयाचि मासी। पूजुनी तास रमल्या पुरुषोत्तमासी' (अर्थात्—हरि मार्गशीर्ष रूप है। अतः उस मास में उसका पूजन करके गोपिकाएँ पुरुषोत्तम कृष्ण में रममाण हो गई।) अध्यात्म की बार-बार दुहाई देते हुए भी वामन पंडित ने राधा और कृष्ण को लेकर उत्तान लौकिक शृंगार के कई वर्णन किए हैं। राधा-विलास के आरम्भ मे कवि कहता है कि राधा और कृष्ण की लीलाओं का पठन करने से माया के सारे बन्धन टूट जाते हैं। परन्तु साथ ही कुछ श्लोकों मे शारीरिक शृंगार वर्णन में कवि ने अतिरेक कर दिया है।[2] इन श्लोकों में राधा, रति, मेनका से भी अधिक सुन्दर है। आतुर होकर माधव के मन में सुरत-चुम्बन की इच्छा जाग उठी। कृष्ण 'कामानल' से व्याकुल हो उठे हैं। राधा के उरोजो पर जैसे ही कृष्ण हाथ रखते हैं, राधा कहती है—'घर का द्वार खुला है, उसे बन्द कर आती हूँ।' दरवाजे पर साँकल चढ़ाकर राधा रति-मन्दिर में पहुँच जाती है और तत्पश्चात् रत्नजटित पलंग पर अनेक प्रकार से रति-विलास आरम्भ हो जाता है, जिसमें सम्भोग प्रसंग से पूर्व अधर-चुम्बन, कुचमर्दन आदि शृंगार चेष्टाओं का भी वर्णन है। श्लोक ३८ से लेकर श्लोक ४३ तक सभी वर्णन अश्लीलता लिये हुए हैं। यहाँ विपरीत रति का भी उल्लेख हुआ है। राधा-कृष्ण के मिलन का वर्णन कवि ने बड़ी ही कुशलता से किया है, पर उसमें भी मादकता और उत्तानता के दर्शन होते हैं। उदाहरण देखिए—

भुजी कंचुकी फाटता है तडाडा। करीं कंकणें फुटती ही कडाडा॥
पुढें होउनी तत्करांभोरुहातें, उरोजीं धरी गाढ रम्यारुहातें॥[3]

(राधा और कृष्ण जब मिलते हैं तब राधा की कंचुकी कामोद्दीपन के कारण भुजाओं पर अकस्मात् फट जाती है तथा उसके कंकण भी कड़कड़ाकर फूटने लगते हैं। कृष्ण आगे बढ़कर उसके उरोजों को दृढ़ता से पकड़ते हैं।)

वामन पंडित ने मराठी कृष्ण-काव्य की परम्परा के विरुद्ध सर्वप्रथम उत्तान-शृंगार का आश्रय लेकर कृष्ण-काव्य की रचना की। उनका रस-विधान मराठी कृष्ण-काव्य में एक नया प्रयोग होने के कारण ही उसका समर्थन करते हुए कवि कहता है—

जो नेणें विषयाविणें रुचि तया आम्हां तुह्यां कारणें।
केला 'गोपवधूविलासरस' हा विख्यात नारायणें॥

---

१. मराठी साहित्यातील मधुरा भक्ति, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ३११-१२।
२. भागवती काव्ये (काव्य-संग्रह), श्लोक १६-२२।
३. वामन पंडिताची भागवती काव्ये, श्लोक ३२।

त्याही उपरि काव्यनाटकमियें शृंगार जो पाहणें।
त्या श्रीकृष्ण कथामृतीं न रमणें धिक् धिक् तयाचे जिणें ॥[१]

(विषयासक्त लोगों को भक्ति की ओर आकर्षित करने के लिए ही कवि ने कृष्ण-चरित्र को शृंगारिक भाषा में गाकर तत्पश्चात् उसने असली भावार्थ को प्रकट किया है।)

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि के कृष्ण बाल-रूप होते हुए भी सम्भोग के लिए युवक बन जाते हैं। राधा और कृष्ण की केलि लीलाओं का आधार कवि ने पद्मपुराण के केदार खण्ड के अन्तर्गत कार्तिक माहात्म्य के पाँचवें अध्याय में राधा की कथा को माना है।[२]

वामन पंडित का समय सन् १६०८ से १६९५ तक माना जाता है।

वामन पंडित की ही भाँति पंडित सम्प्रदाय के दूसरे शृंगारिक कवि श्रीधर हैं। इनका समय सन् १६५८ से १७२९ माना जाता है। श्रीधर का 'हरि विजय' कृष्ण के चरित्र पर ओवीबद्ध एक अत्यन्त सरस ग्रन्थ है। काव्य के प्रसाद गुण ने उसे अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया है। इस ग्रन्थ में चार हजार दो सौ छत्तीस ओवियाँ हैं। यह ग्रन्थ भागवत-पुराण, नारद-पुराण, पद्मपुराण, ब्राह्मण पुराण, हरिवंश-पुराण तथा जयदेव, बिल्वमंगल प्रभृति कवियों की रचनाओं पर आधारित है।[३] यद्यपि श्रीधर ने भी वामन पंडित की ही भाँति शृंगार का वर्णन किया है, फिर भी उसके शृंगारिक वर्णन न तो विशद हैं और न उनमें वामन की-सी उत्तानता है। उसके वर्णन सरस और संक्षिप्त हैं। वामन पंडित की भाँति श्रीधर ने सम्भोग प्रसंग का सम्पूर्ण वर्णन नहीं किया है। उसने केवल एक ही ओवी में राधा और कृष्ण के मिलन का संयमपूर्ण वर्णन किया है—

सुख सेजे नित्य राधा। भोगीतसे परमानन्दा।
त्यजोनियां द्वैत भेदा। कृष्णरूपीं मीनली ॥[४]

(द्वैत का सब भेद तजकर राधा सुख की सेज पर कृष्ण रूप में लीन होकर नित्य परमानन्द का उपभोग करती रहती है।)

वामन पंडित की ही भाँति श्रीधर ने भी सम्भोग के लिए बालक कृष्ण का युवक होना दिखाया है। राधा के चरित्र का आधार कवि ने जयदेव तथा पद्मपुराण आदि से लिया है। कवि कहता है—

पद्मपुराणीं असे हो कथा। थोतीं शब्द न ठेविजे या ग्रन्था ॥
मूळा वेगळी सर्वथा। कथा सत्वतां वाढेना ॥[५]

(सुनी-सुनाई बात नहीं। यह कथा (राधा की) पद्मपुराण में है। कोई भी कथा बिना किसी सच्चे आधार के परिवर्धित नहीं होती।)

---

१ वामन पंडिताची भागवती काव्ये श्लोक १८२।
२ मराठी साहित्यातील मधुरा भक्ति, डॉ० प्र० न० जोशी, पृ० ३१५।
३ श्रीधर चरित्र आणि काव्य विवेचन, चिं० ना० जोशी पृ० ३७।
४ हरि विजय, ३ ६८।
५ वही, ३ ६१।

जयदेव पद्मावतीरमण । बोलिला राधाकृष्ण आख्यान ।
जो पंडितांमाजीं चूडामणिरत्न । व्यास अवतार कलियुगीं ।[१]
बिल्वमंगलादि कवीन्द्र । कथिती राधाकृष्ण चरित्र ।
तेंच वर्णित श्रीधर । नसे विचार दूसरा ।[२]

(पंडितों में चूड़ामणि तथा कलियुग में व्यास के साक्षात् अवतार कवि जयदेव ने राधा-कृष्ण आख्यान पद्मावती रमण को बताया । बिल्वमंगलादि कवियों ने राधा-कृष्ण का जो चरित्र कहा है, उसीका वर्णन श्रीधर ने किया है । कोई दूसरा विचार उसके मन में नहीं है ।)

इसी ग्रन्थ में कवि ने कृष्ण के मथुरा-गमन के समय गोपी-विलाप तथा तत्पश्चात् उद्धव-सन्देश का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है । अक्रूर के रथ पर कृष्ण के चढ़ते ही गोपियों की हृदय-द्रावक दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तों गोपिका आल्या धांवत । दोनहि करीं हृदय पिटीत ।
एक पड़ती मूर्छागत । थोर प्राणांत ओढवला ।। (१८,६५)
धरणीवर एक लोळती । एक दीर्घ स्वरें हांका देती ।
एक अवनीं कपाळ आपटिती । प्राणांत गति ओढवली ।। (६६)
एक म्हणती गेला सांवळा । आतां अग्नी लावा गे गोकुळा ।
अगे गोकुळीचा प्राण चालिला । प्रेतकळा पातली ।। (६७)
अहा, अक्रूरा चंडाळा परियेसी, अकस्मात कोठून आलासी ।
अहा गोकुळीचा प्राण नेतोसी । निर्दय होसी तूं साचा ।। (६८)
सकळ गोकुळींच्या हत्या । अक्रूरा पड़ती तुझ्या माथां ।
नेऊं नको कृष्णनाथा । इतुकें आतां आम्हांसी देईजे ।। (६९)

(तभी दोनों कर-कमलों से छाती पीटती हुई गोपिकाएँ आ जाती हैं । कृष्ण को मथुरा जाने के लिए रथ पर बैठे हुए देखकर कोई गोपी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और मरणासन्न-सी हो गई, तो कोई ज़ोर-ज़ोर से आक्रन्द करती हुई ज़मीन पर लोट-पोट होने लगी । कोई पृथ्वी पर माथा पटक-पटककर प्राण देने लगी, तो कोई कहने लगी कि गोकुल का प्राण-पखेरू उड़ जाने से गोकुल रूपी शरीर प्रेतवत् हो गया है । सांवला-चला गया है । अब गोकुल को आग लगा दे । कोई कहती है, हाय, यह चाण्डाल-सा अक्रूर अकस्मात् कहाँ से आ गया ! हाय, गोकुल का प्राण ले जा रहे हो, हे अक्रूर, तुम सचमुच निर्दय हो ! गोकुल की ये सारी हत्याएँ तुम्हारे माथे पड़ेंगी । हे अक्रूर, हमारे लिए इतना ही करो कि कृष्ण को यहाँ से न ले जाओ ।)

आगे चलकर उद्धव-संवाद के प्रसंग पर एक भ्रमर को सम्बोधित करके गोपिकाएँ कहती हैं—

कळलासी तूं कृष्णाचा हेर । पाळती घेतोसी समग्र ।
तू शठाचा मित्र शठ साचार । कासया येथे रुणझुणसी ।। (१५६)

१. हरिविजय, ६.६२ ।
२. वही, ६.६३ ।

एक कमळावरी चित्त । न बसे तुझें साधुचित्त ।
दाहीदिशा हिंडमी व्यर्थ । चंचल मन सदा तुझें ॥ (१५७)

(हम अब जान गई हैं कि तुम कृष्ण के भेदिये हो और सारा भेद लेते रहते हो। तुम शठ के मित्र साक्षात् शठ हो। एक कमल पर तुम्हारा साधु चित्त टिका नहीं रहता, अपितु तुम्हारा चंचल मन दसों दिशाओं में भटकता रहता है।)

श्रीधर के समकालीन पंडित युग के दूसरे सुविख्यात कवि कृष्ण दयार्णव हैं। कृष्ण दयार्णव ने भागवत के दशम स्कन्ध पर ४२,००० ओवियों की एक बृहद् टीका लिखी है। कृष्ण दयार्णव का यह ग्रन्थ 'हरिवरदा' के नाम से हरिवरदा प्रकाशन, पूना द्वारा आठ भागों में प्रकाशित हो रहा है। हरिवरदा पर ज्ञानेश्वरी तथा सन्त एकनाथ के ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है।[1] श्रीधर की ही भाँति इस ग्रन्थ में भी शृंगार का सुन्दर परिपाक हुआ है।

रघुनाथ पंडित की काव्य-सम्पदा अन्य पंडित कवियों की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है। इस कवि ने केवल तीन रचनाएँ लिखी हैं। वे हैं— 'गजेन्द्र मोक्ष', 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' तथा 'रामदास वर्णन'।[2] कृष्ण चरित्र पर इन्होंने एक भी रचना नहीं की है तथापि मराठी कृष्ण काव्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए उनकी 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' रचना अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। हम पहले कह चुके हैं कि स्वराज्य काल में मराठी के पंडित कवियों की प्रवृत्ति निवृत्तिपरक अथवा तत्त्व निरूपण को लेकर काव्य करने की अपेक्षा संस्कृत काव्य की देखा देखी सरल काव्य की रचना करने की ओर अधिक थी। इसीलिए इस काल में एक ओर संस्कृत काव्यों के अनुवाद हुए और दूसरी ओर पौराणिक आख्यानों को लेकर स्वतन्त्र रचनाएँ। रघुनाथ पंडित का 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' यद्यपि पौराणिक आख्यान पर ही आधारित है, फिर भी विषय चयन की दृष्टि से वह समय भक्ति-काव्य की परम्परा को लौकिक काव्य की नई दिशा की ओर प्रवृत्त करता-सा प्रतीत होता है। पंडित कवियों के कृष्ण चरित्र को लेकर किये हुए शृंगारिक वर्णन और रघुनाथ पंडित की 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' रचना प्राचीन मराठी कृष्ण-काव्य को लौकिकता के निकट लाने में सहायक हुई है। काव्य परम्परा के इस परिवर्तन के कारणों पर आगे विचार किया जाएगा।

पंडित युग के सर्वोत्कृष्ट एवं प्रातिनिधिक कवि मोरोपन्त माने जाते हैं। मोरोपन्त अथवा मयूरपन्त की काव्य प्रतिभा बहुप्रसवा रही है और काव्य विस्तार की दृष्टि से तो मराठी कवियों में मयूरपन्त अद्वितीय माने जाते हैं। मोरोपन्त ने महाभारत, रामायण आदि अनेक पौराणिक ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद किया है, पर यहाँ उनके कृष्ण चरित्र-परक ग्रन्थों पर ही विचार किया जाएगा। कृष्ण-चरित्र पर मोरोपन्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, 'हरिवंश', 'मन्त्र भागवत', 'कृष्ण विजय' आदि। उनकी स्फुट काव्य रचना में 'मुरली नवरत्न मालिका' दस आर्याओं की मुरली पर एक अत्यन्त सुन्दर रचना है। एक छोटा-सा उदाहरण देखिए—

चुम्बिसि रात्रि दिवस जरि, तरि चुम्बन कामना मनीं पुरली
तहि मुखविलासि, कशी मुखवीना अन्यजनमना मुरली ॥

1. महाराष्ट्र सारस्वत पृ० ५५१।
2. वही, पृ० ११२२।

(यद्यपि (हे कृष्ण) तुम दिन-रात मुरली को चूमते रहते हो, फिर भी तुम नहीं अघाते। जिसने स्वयं तुम्हें पागल बना दिया है, वह दूसरों को क्यों न पागल बना दे ?)

'गोपी प्रेमोद्धार' में भागवत के ४७वें अध्याय के विषय का कवि ने बड़ी ही सुन्दरता से वर्णन किया है। उद्धव के ब्रह्मज्ञान की गोपियों को आवश्यकता नहीं थी। वे केवल कृष्ण-सहवास की प्रेम-माधुरी चाहती थीं, पर कृष्ण थे कुब्जा के वश में और इसका उन्हें अत्यन्त दुःख था। वे कहती हैं—

> कुब्जेच्या भाग्याचा भारी भर, आजि आमुचा सरला।
> सरला असोनि आम्ही वक्रा, वक्रा असोनि ती सरला॥
> जेणें माय त्यजिली, दे, बहु लालन करूनि उद्धवजी।
> त्या आम्ही कोण ? वृथा रुसतों, मुग्धा म्हणोनि उद्धवजी॥

(कुब्जा का भाग्य खुल गया है और आज हम हतभागी हो गई हैं। हम सरल होते हुए भी आज वक्र समझी जाती है और वक्र होते हुए भी कुब्जा सरल समझी जाती है। हे उद्धव ! जिसने लालन-पालन करने वाली अपनी माता को छोड़ दिया, उसके लिए हम किस खेत की मूली हैं। हम तो यों ही मुग्ध होकर रूठ रही है।)

कृष्ण-चरित्र पर मोरोपन्त ने 'कृष्ण-विजय' नामक एक बृहद् आख्यान लिखा है। इस ग्रन्थ मे ९० अध्याय तथा ३६६६ आर्याएँ है। यह ग्रन्थ भागवत पुराण पर आधारित है। इसमें कृष्ण-जन्म, गोकुल में कृष्ण का आगमन, नन्द का पुत्रोत्सव, पूतना-वध, विश्व-रूपदर्शन, बाल्यकाल की क्रीड़ाएँ, ऊखल-बन्धन, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर-वध, वन-क्रीड़ा, कालियमर्दन आदि सभी प्रसगो का मोरोपन्त ने वर्णन किया है। इसी प्रकार आगे चलकर कवि ने कात्यायनी व्रत, ऋषि-पत्नी पर अनुग्रह, गोवर्धन-धारण, रास-लीला आदि का भी विस्तार से वर्णन किया है। रास-लीला के समय वेणु-ध्वनि सुनते ही गोपियो की जो मनो-दशा हुई उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> काढित असतां धारा, टाकुनि अनुसरति युवति जगदाधारा।
> तापवितां दुग्ध मणिकीं, त्यजिति; अमृत पाजितो बहु विबुधमणीं कीं॥७॥
> चुल्लीवरीच करपतीं अन्नें, गांठिति वधु प्रमोद करपति।
> पडतां ध्वनि तो कानीं, स्तन काढुनि, जाति, चोखितां तोकांनीं॥८॥

(दूध निकालते समय मुरली की धुन सुनते ही गोपिकाएँ दूध निकालना छोड़कर वृन्दावन की ओर भागने लगती हैं। जो दूध गरम कर रही हैं वे मुरली-ध्वनि रूपी अमृत का पान करने के लिए उबलते हुए दूध को वैसा ही आग पर छोड़कर वृन्दावन की ओर भागने लगती हैं। चूल्हों पर अन्न जलकर राख हो रहा है और उधर गोपियाँ कृष्ण से मिलने के लिए भागी जा रही हैं। गोपियों की ही यह दशा है सो नहीं, गौएँ भी बाँसुरी सुनते ही बछड़ों के मुँह से अपने थन छुड़ाकर वृन्दावन की ओर भागने लगती हैं।)

कृष्ण-चरित्र-परक मोरोपन्त की दूसरी रचना 'हरिवंश' है। यह रचना महाभारत पर आधारित है। इस ग्रन्थ में लगभग साढ़े पाँच हजार आर्याएँ हैं, फिर भी इसमें कृष्ण और गोपियो के प्रेम का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन किया गया है। रास-क्रीड़ा का विस्तार से वर्णन होते हुए भी उसमें शृंगार का अतिरेक कहीं भी नहीं हुआ है। शृंगार-वर्णन में कवि का

संयम निम्न पंक्तियों से इंगित होता है—

या उपरि शरतकाली गोपीसीं प्रभु पुर्णे करी रास।
एकाहि अनेक करुनि निजयोगें आपुल्या नारीरास ॥ (१५ १२)

(इसके पश्चात् शरत्काल में प्रभु सुख से गोपियों के साथ रास कर रहे हैं। अपने योग बल से उन्होंने अनेक रूप धारण कर लिए हैं।)

मोरोपन्त का 'मन्त्र भागवत' भागवत पुराण के दशम स्कन्ध पर आधारित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कवि ने कृष्ण का चरित्र चित्रण दशम स्कन्ध की भाँति ही किया है। इस रचना में भक्ति और वात्सल्य का बहुत ही सुन्दर और सरस परिपाक हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन मराठी कृष्ण भक्ति काव्य, जो पहले तत्त्व निरूपण पर आधारित था, मध्य-युग में आकर पंडित कवियों के हाथों शृंगार की ओर अधिक झुकने लगा था। यह सत्य है कि शृंगारिक कृष्ण-काव्य की रचना के लिए मध्ययुगीन कवियों को भागवत, हरिवंश तथा पद्मपुराण का ही आधार लेना पड़ा, परन्तु पौराणिक आधार लेने से ही मध्ययुगीन शृंगारिक प्रवृत्ति का समाधान नहीं होता।

इन सब पुराणों में शृंगारिक वर्णन के लिए पर्याप्त सामग्री होते हुए भी जहाँ तक प्राचीन कृष्ण भक्त कवियों का सम्बन्ध है, उन्होंने गीता तथा महाभारत का ही आश्रय लिया। कदाचित् इसलिए कि उनका काव्य स्वानुभूति पर आधारित था और इसलिए वे या तो पौराणिक कथाओं को 'अयथा' ज्ञान की दृष्टि से देखते थे या लोक-कल्याण के लिए उन्हें हितकर नहीं समझते थे। स्पष्ट ही मध्ययुगीन कवियों का दृष्टिकोण एवं परिस्थितियाँ प्राचीन कृष्ण भक्ति कवियों से भिन्न थीं। जिस युग में इन कवियों का प्रादुर्भाव हुआ था वह महाराष्ट्र का स्वर्ण-युग था। स्वराज्य स्थापित हो चुका था और देश समृद्धि की दिशा में गतिशील था। समृद्धि और शान्ति के उस युग में स्वाभाविक था कि कवि प्रवृत्ति भक्ति-निरूपण में शृंगार का आश्रय लेती। और यही हुआ भी। मध्ययुगीन कवियों से पूर्व ही जयदेव, बिल्वमंगल प्रभृति कवियों की शृंगारिक रचनाओं का महाराष्ट्र में प्रचार हो चुका था। हम ऊपर देख आए हैं कि श्रीधर कवि ने अपनी रचनाओं पर इन कवियों का पूर्ण प्रभाव माना है। इतना ही नहीं, ऐसा ज्ञान पड़ता है कि मध्ययुग की इस नई प्रवृत्ति पर केवल जयदेवादि का ही प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु लोक प्रचलित जैन-कथाओं का भी पूर्ण प्रभाव पड़ा है। ऐसा न होता तो अकस्मात् मध्ययुगीन मराठी कवि प्राचीन कृष्ण-काव्य-परम्परा के प्रतिकूल पग नहीं उठाते। बालक रूप कृष्ण का सम्भोग के लिए युवारूप धारण करना वस्तुतः वह कड़ी है जो प्राचीन मराठी कृष्ण-काव्य तथा उत्तर भारतीय कृष्ण-काव्य का गठबन्धन करती है।

पिछले अध्यायों में दिखाया गया है कि महाराष्ट्र में जिस प्रकार भक्ति को तत्त्वज्ञान का योग मिला है, उसी प्रकार भक्ति को कर्मयोग का भी योग मिला है। ज्ञानदेव आदि के इस भक्ति-विधान के कारण ही महाराष्ट्र का कृष्ण भक्ति-सम्प्रदाय उत्तरी तथा पूर्वी भारत के कृष्ण-सम्प्रदायों से भिन्न रहा। इतना ही नहीं, महाराष्ट्र का कवि-वर्ग और भी आगे बढ़ा। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कर्म-योग भजन पूजनादि क्रिया-योग में परिवर्तित हो गया। परन्तु मराठी के भक्त कवियों ने गीता के निष्काम कर्मयोग का ही प्रतिपादन किया। इस

विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास की ओर जितना मराठी सन्तों ने ध्यान दिया है, उतना ध्यान हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने नहीं दिया। निष्काम कर्मयोग की पार्श्वभूमि पर धर्म-संगठन का कार्य करने के कारण ही लोक-जागृति द्वारा महाराष्ट्र यावनी शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो सका। स्वराज्य स्थापित होते ही जयदेव, बिल्वमंगल आदि कवियों की देखादेखी मराठी काव्य में राधा और कृष्ण को लेकर कुछ शृंगारिक वर्णनों का अवश्य समावेश हुआ, पर उसमें भी लौकिकता का वैसा दर्शन नहीं होता जैसा हिन्दी के कृष्ण-काव्य में होता है। सच तो यह है कि मराठी के मध्ययुगीन कवि अभिजात आत्मदर्शी भक्त कवि नहीं थे। काव्य के विषय की दृष्टि से ही वे भक्त कहे जा सकते हैं। अतः एक ओर उन्होंने तत्त्वनिरूपण की प्राचीन परम्परा को अपने काव्य से ओझल नहीं होने दिया और दूसरी ओर प्रभु की शृंगारिक लीलाओं का अपने काव्य में यत्र-तत्र समावेश करके उसे युगानुकूल बनाया। मध्य-युग की इस नई प्रवृत्ति के कारण इतना अवश्य हुआ कि उपासना के क्षेत्र में स्त्री तत्त्व को सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। परिणाम-स्वरूप पेशवाकालीन कवियों ने स्वच्छन्दतावादी रूमानी प्रेम-काव्यों की शृंगार-रसपूर्ण स्वतन्त्र और लौकिक रचना करना आरम्भ कर दिया। इन अद्भुत रम्य प्रबन्ध-काव्यों में पंडित जगन्नाथ कवि का 'शशिसेना' काव्य महत्त्वपूर्ण है। काव्य का कथानक एकदम काल्पनिक, स्वतन्त्र और मौलिक है। अमरावती नगरी के प्रधान मन्त्री के पुत्र के साथ राजकन्या शशि-सेना का प्रेम-विवाह होता है। पंडित जगन्नाथ की ही भाँति जीवन कवि ने भी 'अनुभव लहरी' में पति-पत्नी की विरह-व्यथा का करुण चित्र अंकित किया है। यह रचना विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट शब्द-चित्र है। इसी प्रकार के काव्य का दूसरा प्रकार 'लावणी' है।

मराठी शाहिरी काव्य की दो धाराएँ मानी जाती हैं—एक पोवाडा और दूसरी लावणी। 'पोवाडा' में वीर रस की प्रधानता रहती है और लावणी मे शृंगार रस की। कदाचित् लावणी का लवण से भी सम्बन्ध है, क्योंकि ये गीत नमकीन होते हैं तथा श्रोताओं को आनन्द-विभोर कर देते हैं। प्रायः इन सभी गीतों में उत्तान-शृंगार अपनी चरम सीमा पर होता है। दूसरे शब्दों में लावणी में कामुक सौन्दर्य का ही मादक विधान होता है। कई लावणी-गीतों के प्रारम्भ में भगवान् का नमन तथा आह्वान होता है, तो कई गीतों का विषय राधा-कृष्ण-विलास अथवा शिव-पार्वती-क्रीड़ा भी होता है। लावणीकारों में राम-जोशी, अनन्त फन्दी, प्रभाकर, होना जी बाल, सगनभाऊ, परशुराम आदि प्रमुख हैं। राम-जोशी तथा अनन्त फन्दी ने जैसे उत्तान-शृंगार-परक सरस लावणी गीतों की रचना की है, वैसे ही पौराणिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर भी सरस गीतों की रचना की है।

पेशवाकालीन काव्य की यह अश्लीलता आधुनिक युग में आकर तिरोहित हो गई और मराठी काव्य ने प्राचीन परम्परा और देश-काल की आवश्यकता में सामंजस्य स्थापित कर लिया।

अंग्रेज़ी काव्य के अध्ययन से १९वीं शती के पूर्वार्ध में अंग्रेज़ी की कई कविताओं के मराठी में अनुवाद हुए थे। इस युग में कवि 'केशवसुत' ने सर्वप्रथम काव्य का विषय और शिल्प बदलने की दिशा में प्रयत्न किया। केशवसुत के मतानुसार अपने चारों ओर निरुद्योगी, उदास संसार को चैतन्यशील बनाना ही कविता का कार्य था। वे मानते थे

कि समस्त सृष्टि में काव्य भरा पड़ा है। उसे शब्दों द्वारा प्रकट करना ही कवि का कर्तव्य है। इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही उनके काव्य में व्यक्तिवाद के दर्शन होते हैं। व्यक्तिवाद से उद्भूत आत्मकथन की उनकी प्रवृत्ति मराठी काव्य में सर्वथा नई थी। इस प्रवृत्ति से आत्मपरीक्षण की जो प्रवृत्ति बनी, उससे कवि केशवसुत की अनेकवादी कविता का जन्म हुआ। केशवसुत ने काव्य रचना में जो प्रयोग किये थे, उन्हें अन्य कवियों ने और भी आगे बढ़ाया और व्यक्तिवादी भाव-गीतों की एक नई परम्परा मराठी में चल पड़ी। कवि गोविन्दाग्रज ने जो प्रणय राग के गीत लिखे हैं वे अत्यन्त दुर्लभ हैं। कुछ गीतों में प्रेयसी को सर्वस्व अर्पण करके उस पर एकनिष्ठ, निष्काम प्रेम करने की कवि ने लालसा प्रकट की है। ऐसा उदात्त और निरभिलाष प्रेम की कल्पना समूचे मराठी काव्य में सर्वथा नई है। इन प्रेम-गीतों अथवा भाव-गीतों के अतिरिक्त कवि की 'राजहंस' तथा 'मुरली' रचनाएँ उनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ मानी जाती हैं।[1] मराठी में मुरली-गीत पर निवृत्तिनाथ से लेकर आधुनिक युग तक के अनेक कवियों ने रचनाएँ की हैं, परन्तु गोविन्दाग्रज की 'मुरली' इतनी नाद-मधुर है कि वैसी रचना केवल मुरली काव्य में ही नहीं, वरन् समस्त मराठी साहित्य में दुर्लभ है। काव्य की स्वर रचना तो अत्यन्त मधुर है ही, पर उसमें निहित रहस्यवाद ने उसे और भी लोकप्रिय बना दिया है। काव्य की प्रस्तावना में स्वयं कवि ने कहा है—"मनुष्य के जीवन में कभी-न कभी ऐसा समय आता है जब उसका भावपूर्ण हृदय ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने लगता है और तब बुद्धि प्रधान मस्तिष्क का समाधान करने के लिए तड़पने-वाला जीवात्मा ईश्वरीय साक्षात्कार की, प्रत्युत्तर की, याचना करने लगता है। यह ईश्वरीय प्रत्युत्तर यदि समय पर न मिले तो मनुष्य फिर से भँवर में फँस जाता है। इस गीत में, मुरली ध्वनि में ईश्वर के उत्तर की कल्पना करके उसके लिए विह्वल राधा की मनोदशा के पाँच सोपान दिखाने का प्रयत्न किया गया है। ये सोपान हैं (१) प्रीति की उत्पत्ति तथा उससे बन्धन राहित्यादि परिणाम, (२) उत्कण्ठा और आतुरता, (३) प्रिय प्राप्ति तथा उससे उद्भूत भक्ति, (४) समस्त संसार में प्रिय-दर्शन तथा (५) आत्मैक्य अथवा अद्वैत। अपने नाद-माधुर्य और पुराणभूत कथानक के कारण 'मुरली' अत्यन्त लोकप्रिय काव्य सिद्ध हुआ है। इस कविता द्वारा कवि ने अपने अपूर्व प्रेम की ध्येयपूर्ण तड़पन जनता-जनार्दन के चरणों पर अर्पित कर दी है। वस्तुतः 'मुरली' ध्येयभूत प्रेम का चित्रीकरण है। इसीलिए तो कवि कहता है—

हो अखण्ड मुरली वाजे सर्वांच्या हृदयीं गाजे

(यह अखण्ड मुरली बज रही है और सबके हृदय में समा रही है।)

गोविन्दाग्रज की 'मुरली' तथा अन्य प्रेम-गीतों पर प्राचीन तत्त्वज्ञानी काव्य, मध्य युगीन शृङ्गार रस प्रधान काव्य तथा पाश्चात्य शिल्प का एक साथ प्रभाव दृष्टिगत होता है। यही प्रभाव तत्कालीन तांबे, चन्द्रशेखर बी,' माधव जूलियन तथा यशवन्त प्रभृति कवियों की रचनाओं में प्रकट हुआ है। तांबे ने प्रायः गीत ही लिखे हैं बचपन में ईश्वर-स्तुति के, यौवन में मधुर प्रणय के और वृद्धावस्था में रहस्यवादी भावुकता के। मराठी कविता को तांबे की देन अमूल्य है। चन्द्रशेखर मुख्यतः पुरानी परिपाटी के कवि थे परन्तु उनकी

[1] गोविन्दाग्रज, म० ग० दप, पृ० १३०।

कविता अपनी सीमाओं तथा मर्यादाओं में ही अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। चन्द्रशेखर की कविता 'कवितारति' एक अमर कृति है। इस कविता में कवि ने कविता-सुन्दरी का बड़ा ही सजीव मानवीकरण किया है।

'बी' ने बहुत ही कम रचनाएँ लिखी हैं, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है उससे मराठी-संसार इतना पागल हो उठा कि उनका असली नाम जानने के लिए कई पत्र छपे थे। उन्होंने प्रेम-काव्य, राष्ट्रीय काव्य और रहस्यवादी काव्य–इन तीनों प्रकार के काव्यों का सृजन किया है। रहस्यवादी कविताओं में 'चांफा,' 'पगली का गीत,' 'क्षण-भर', 'बुलबुल' आदि सर्वश्रेष्ठ हैं।

माधव जूलियन एक विचित्र प्रतिभावान कवि थे। संस्कृत के साथ-साथ फ़ारसी के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण उन्होंने कई शृंगारिक गज़लें लिखी हैं। उनका 'विरह-तरंग' काव्य मराठी साहित्य को उनकी स्थायी देन है। उसमें एक परजातीय विद्यार्थिनी के प्रेम-पाश में पड़कर विवाह न हो सकने के कारण एक विद्यार्थी के विरह का वर्णन बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया गया है। यौवन की मादक भावनाओं की अभिव्यक्ति, छवि-चित्र, सुन्दरियों के यथार्थवादी चित्र तथा दार्शनिक चिन्तन उनके काव्य की विशेषताएँ हैं। माधव जूलियन की रहस्यवादी रचना 'मैं और तुम' महाकवि निराला की कविता 'मैं और तुम' के ही समान है।

आधुनिक कवियों की काव्य-प्रवृत्ति के इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने अपने काव्य के लिए भौतिक विषय लेते हुए भी मराठी कृष्ण-भक्ति काव्य की परम्परा को सर्वथा नहीं छोड़ दिया। आधुनिक काव्य में नारी का महत्त्व, शृंगारिक वर्णन, प्रेम का सन्देश, राधा और माधव के मधुर भाव-गीत तथा गूढ़-गुंजन अथवा रहस्यात्मक अभिव्यक्ति इसी परम्परा के प्रभाव को सूचित करती है।

उपसंहार

हिन्दी और मराठी के कृष्ण-काव्य के तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि इन दोनों भाषाओं का काव्य भक्ति पर आधारित होने पर भी कृष्ण के जिस रूप की हिन्दी-कवियों ने प्रतिष्ठा की है वह रसिक शिरोमणि विष्णु-रूप है, उपलब्ध मौलिक निष्कर्ष जबकि मराठी कवियों ने कृष्ण के परब्रह्म रूप पर ही अधिक बल दिया है। इसी प्रकार हिन्दी-कवियों ने राधा को भगवान् की चित् शक्ति के रूप में अपनाया है, जबकि मराठी काव्य में कृष्ण-रुक्मिणी को ही प्रमुख मान्यता दी गई है। दोनों काव्यों का आधार भक्ति होने पर भी कृष्ण और राधा की कल्पनाओं में इस भेद का मुख्य कारण परम्परागत मान्यताएँ ही प्रतीत होती हैं। प्राचीन साहित्य, शिल्प और मुद्राओं से पता चलता है कि ये मान्यताएँ कालानुसार परिवर्तित होती रही हैं। वेद कालीन विष्णु, अवतारवाद तथा प्राचीन वासुदेव सम्प्रदाय के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि वैदिक तथा ब्राह्मण युगों में कृष्ण का विष्णु से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। उस काल में विष्णु स्वयं भी प्रमुख देवता नहीं माने जाते थे।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुति-परक केवल चार उल्लेख हैं। अत यह सम्भव है कि आर्यों के पहले से भारत में रहने वाली जातियों में विष्णु महिमावान् देवता रहे होंगे और उन्हें आर्य अपने देवताओं के बीच में स्थान देने के लिए तयार न थे। दूसरी सम्भावना यह है कि विष्णु आर्य जाति की ही साधारण श्रेणी की टुकड़ियों के देवता रहे होंगे जो अभिजात्य मंत्र द्रष्टा ऋषियों को स्वीकार नहीं थे, सम्भवत विष्णु के प्रारम्भिक रूप में अवाछनीय तत्त्वों के मिश्रण के कारण। इन्द्र और विष्णु की परवर्ती मित्रता इन्हीं दो वर्गों की सधि की सूचक हो सकती है। वैदिक सहिताओं में विष्णु सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं, विष्णु द्वारा तीन विक्रमों को धारण करना, उनका परम-पद, परम-पद में मधु के निर्झर का अस्तित्व जहाँ देवता आमोद मनाते हैं तथा इन्द्र-वृत्र-युद्ध में विष्णु द्वारा इन्द्र की सहायता। विष्णु की उपर्युक्त चार विशेषताओं में से पहली तीन विशेषताएँ सूर्य से सम्बन्धित हैं जैसा कि ब्राह्मण एव आरण्यकों द्वारा सिद्ध होता है। चौथी विशेषता एक ऐसी घटना है जो न तो सूर्य से सीधी सम्बन्धित है और न विष्णु के स्वतंत्र देवता होने को प्रमाणित करती है। अत वैदिक-काल में सूर्य के रूप में ही विष्णु की उपासना का दर्शन होता है। शाकपूणि और औणवाभ ने विष्णु के तीन विक्रमों की जो व्यवस्थाएँ की हैं वे भी विष्णु के सूर्य-रूप होने को ही प्रमाणित करती हैं। शाकपूणि और औणवाभ दोनों का मत ब्राह्मण-युग की मान्यताओं पर आधारित है, जबकि विष्णु पूर्ण श्रेष्ठत्व को प्राप्त कर चुके थे। वेद में विष्णु

अजेय गोप भी दिखाये गए हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध गोपाल-कृष्ण से न होकर सूर्य से ही है। क्योंकि 'स्वदश', 'विभूति पुम्न' आदि वैदिक उल्लेखों से भी विष्णु प्रकाश और तेज के ही देवता सिद्ध होते हैं, जो सूर्य के गुण-धर्म हैं। पौराणिक साहित्य में बलि की पाताल-गमन कथा में भी विष्णु के सूर्य-रूप की ही पुष्टि होती है, क्योंकि पाताल का सम्बन्ध विष्णु के तीसरे क्रम से है। सूर्य का यही तीसरा क्रम परमपद को भी सूचित करता है। वैदिक विष्णु, जो आरम्भ में पूर्णरूपेण सौर एवं निम्न कोटि के देवता हैं, ब्राह्मण-युग में आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-युग कर्म-प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ। अतः इस युग में वे यज्ञ-रूप भी बन जाते हैं। 'यज्ञो वै विष्णुः।' ऐतरेयब्राह्मण में विष्णु सूर्य-रूप होने के कारण ही अग्नि से श्रेष्ठ स्वीकार किये गए हैं। शतपथब्राह्मण में उल्लिखित वामन-रूप में विष्णु सर्वश्रेष्ठ देवता न होते हुए भी उनमें प्रचण्ड दैवी शक्ति की कल्पना की गई है। यहाँ भी वामन के आकार और गुण इन दोनों दृष्टियों से सूर्य की ही ओर संकेत परिलक्षित होता है। वामन-रूप की ब्राह्मण-कल्पना पौराणिक युग में वामनावतार को जन्म देती है। वैदिक साहित्य में विष्णु प्राकृतिक शक्ति, प्रकाश और तेज के देवता थे। अतः इसमें उनके आयुधों का उल्लेख नहीं है। पौराणिक काल में विष्णु सर्वशक्तिमान एवं सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में अधिष्ठित हो जाते हैं। इस सर्वशक्तिमान परमेश्वरत्व का बीज शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जहाँ प्रजापति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आरण्यक काल में उषा के मूर्तिकरण में इस कल्पना का विकास होता है। उपनिषदों में उल्लिखित सर्व-शक्तिमान परमेश्वर के अनेक रूप ग्रहण करने की कल्पना ही विष्णु को सर्व-शक्तिमान परमेश्वर पद पर अधिष्ठित करती है। विष्णु की इस स्थापना के साथ-साथ उन्हें शक्तिमान दिखाने के लिए ही उनके रूप और अनेक भुजाओं की कल्पना अंकुरित हुई है। विष्णु की चार भुजाओं ने आयुधों को जन्म दिया। ये आयुध प्रतीकात्मक हैं। चक्र सूर्य का ही प्रतीक है। विष्णु का वाहन अग्नि के समान तेजस्वी गरुड़ है, जिसे ऋग्वेद में 'गरुत्मान' तथा 'सुपर्ण' कहा गया है। यही विष्णु पौराणिक काल में वामनावतार बन जाते हैं। वामन बटु हैं, ब्राह्मण-रूप हैं। अतः प्रचलित धर्म के अनुसार वे दान के पात्र भी हैं और दण्ड के नियोजक भी। इस कल्पना में ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व निहित है। बलि की कथा में क्रमशः चार प्रतिपादित तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—विष्णु की सर्वशक्तिमान देवता के रूप में स्थापना तथा अवतार-धारण से लोक की विपत्ति का निवारण, ब्राह्मणों का ईश्वर के रूप में स्वीकार तथा दान की महिमा, देव और असुरों का द्वन्द्व तथा देवताओं में अग्रगण्य विष्णु के रूप में देवताओं की विजय तथा विष्णु की अवतार-कल्पना। इस प्रकार वेदकालीन आदित्य-रूप विष्णु, जिनका कृष्ण से कोई भी सम्बन्ध नहीं था, ब्राह्मण-युग में प्रतिपादित कर्मकाण्ड के इष्टदेव बन जाते हैं तथा कालान्तर में परमेश्वर पद को प्राप्त कर लेते हैं।

वेद-कालीन कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप आरण्यक-काल की चिंतन-परक विचार-धारा आर्यों की सकाम उपासना को निष्काम उपासना की ओर प्रवृत्त करती है। इस धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण हैं और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं। वैदिक साहित्य में वासुदेव का उल्लेख नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक में एक स्थान पर यह नाम आता है, पर वह वासुदेव, विष्णु तथा नारायण की एकता सम्पन्न हो चुकने के बाद का उल्लेख प्रतीत

होता है। इसलिए वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने में सहायक नहीं होता। परन्तु प्राचीन शिलालेख और ग्रंथों से पता लगता है कि वासुदेव-सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन था। इस धर्म के उपास्य वासुदेव का प्रादुर्भाव पश्चिमी भारत में हुआ था। वासुदेव सम्प्रदाय की ही भाँति वेद विहित कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप कर्म से विमुख होकर सत्य की खोज में एक दूसरी चिंतन-परक विचार-धारा विकसित होती है तथा ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति विषयक कल्पना प्रबल होकर नारायण को सृष्टि के उत्पादक के रूप में अधिष्ठित करती है। गीता के पश्चात् पौराणिक काल में जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण तथा विष्णु का एकीकरण हुआ, उसी प्रकार वासुदेव एवं नारायण का भी एकीकरण हुआ। इस एकीकरण की पार्श्व भूमि में सम्भवतः ब्राह्मण धर्म की विचार धारा अत्यन्त प्रबलता से काम कर रही थी, क्योंकि इन सम्प्रदायों के एकीकरण में भी विष्णु की सर्वश्रेष्ठता अक्षुण्ण बनी रही। कुछ विद्वानों ने अनेक कृष्णों की भी कल्पना की है और गोपाल-कृष्ण को काफी परवर्ती देवता माना है, परन्तु ये कल्पनाएँ नितान्त भ्रामक प्रतीत होती हैं। सच तो यह है कि कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप कृष्ण में विष्णु के कई गुण धर्मों का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। वैदिक साहित्य में विष्णु की काम क्रीडाओं के कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं। विष्णु चरित्र की यह विशेषता ही सम्भवतः आगे चलकर कृष्ण चरित्र का एक विशेष अंग बन गई। ऐसा प्रतीत होता है कि काम की इस पृष्ठभूमि पर ही परवर्ती साहित्य के कृष्ण-लीला सम्बन्धी शृंगारिक चित्र अंकित हुए हैं। इस दिशा में पांचरात्र सम्प्रदाय के शक्ति, माया अथवा प्रकृति-तत्त्व ने भी पर्याप्त योग दिया है। इसी स्थापना का भागवत पुराण में चरम विकास दृष्टिगोचर होता है जो परवर्ती कृष्ण भक्ति का उद्गम माना जाता है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गुप्त काल तक आकर कृष्ण और विष्णु का एकीकरण प्रकट रूप से सम्पन्न हो चुका था तथा विष्णु देवाधिदेव और कृष्ण उनके पूर्णावतार माने जाने लगे थे। साथ ही अवतारों की पूजा भी आरम्भ हो गई थी तथा नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी को भी मान्यता मिल गई थी, पर अभी तक राधा-कृष्ण की उपासना का आरम्भ नहीं हो पाया था, यद्यपि अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' तथा भास के 'बाल-चरित' में गोपियों का और हाल की 'सप्तशती' में राधा का उल्लेख तब भी विद्यमान था।

पौराणिक-काल में कृष्ण भक्ति की विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगी। एक ओर प्राचीन भागवत या सात्वत धर्म में प्रतिपादित शुद्ध भक्ति को मान्यता मिली हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार भक्ति को, जो शैव, महायान आदि सम्प्रदायों की काम-कल्पनाओं से प्रभावित होती रही। भक्ति में अन्तर्निहित तन्मयता ने भी प्रेम के रूप में शृंगार प्रधान भक्ति की प्रतिष्ठा में योग दिया।

भागवत पुराण के पश्चात् कृष्ण-परक शृंगार प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता के दर्शन सर्वप्रथम तमिल संत कवयित्री आण्डाल कोदै के भजनों में होते हैं। यही शृंगार जयदेव के गीतगोविन्द में उदात्त रूप धारण कर लेता है।

भारतीय अवतारवाद की स्थापना में धार्मिक समन्वयवाद का दर्शन होता है। जिस प्रकार पौराणिक काल में कृष्ण विष्णु और नारायण का एकीकरण करके विभिन्न सम्प्रदायों को एक-सूत्र करने का प्रयत्न हुआ तथा परम्परा के रूप में विष्णु की प्रतिष्ठापना की गई,

उसी प्रकार विष्णु के दशावतार की कल्पना में भी विभिन्न लोक-विश्वासों एवं आर्येतर लोक-धर्मों को आत्मसात् करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। मत्स्यावतार से सम्बन्धित भारतीय कथा और यहूदियों के 'ओल्ड टैस्टामेण्ट' तथा यूनान, मिस्र और बैबिलोनिया तथा खाल्डिया-असीरिया की कथाओं में आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। दशावतार की कल्पना के पूर्व सम्भवतः भारत की कुछ अनार्य जातियाँ मत्स्य, वराह, नृसिंह आदि की उपासिका थीं तथा उन्हें विष्णु ही के अन्य रूप मानकर आर्य-देव-माला में अनार्य-कल्पनाओं का समावेश किया गया।

अमृत-मंथन की कथा भूखण्ड के देशों का पर्यटन एवं उन पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक मात्र है। पृथ्वी कूर्माकार होने के कारण इस कथा से कूर्म का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है और इसी आधार पर कूर्मावतार की कल्पना का विकास हुआ। विष्णु का मोहिनी रूप आर्येतर जातियों पर आर्यों की विजय का सूचक प्रतीक होता है। वराह उर्वरता और कृषि का प्रतीक है। विष्णु के वराहावतार की काम-लीलाएँ उसी उर्वरता एवं उत्पत्ति को सूचित करती है। वराह की कल्पना सम्भवतः वेदों से भी प्राचीन है। नृसिंह और विष्णु के गठ-बन्धन का सूत्र प्रह्लाद की कथा में अन्तर्निहित है। नृसिंह अवतार की कल्पना में क्षत्रियों का समाहार भी सूचित होता है। वामन चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठापना, यज्ञ के महत्व और ब्राह्मणों और विष्णु की सर्वश्रेष्ठता का प्रतीक है।

कृष्ण आर्येतर देवता नहीं प्रतीत होते, अपितु ब्राह्मणों की कर्म-काण्ड-विषयक विचार-धारा से भिन्न क्षत्रियों की निष्काम उपासना की स्थापना करने वाली विचार-धारा के प्रवर्तक हैं। महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वासुदेव-कृष्ण सात्वत या भागवत-धर्म के प्रवर्तक देवाधिदेव के रूप में अधिष्ठित थे तथा वासुदेव का यह सम्प्रदाय ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक स्वतन्त्र रूप से विद्यमान था। पौराणिक काल में निरीश्वरवादी सम्प्रदायों के विकास के कारण वैदिक-धर्म को पुष्ट और व्यापक करने के प्रयत्न में ही कृष्ण और विष्णु का एकीकरण सम्पन्न हुआ। इस एकीकरण में विष्णु को देवाधिदेव और कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार माना जाना ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और तत्कालीन समाज में वासुदेव कृष्ण की लोकप्रियता सिद्ध करता है। प्राचीन भागवत या सात्वत धर्म में राधा का सर्वथा अभाव था, परन्तु कृष्णावतार की कल्पना के साथ ही लक्ष्मी की कल्पना के अनुरूप राधा की कल्पना परवर्ती पुराणों में प्रस्फुटित होने लगी। राधा की कल्पना ने कृष्ण और विष्णु के एकीकरण को और भी सुदृढ़ बना दिया और कृष्ण-भक्ति को प्राचीन मान्यताओं से सर्वथा भिन्न एक अभिनव दिशा में प्रवाहित किया।

कृष्ण और विष्णु की भिन्नता गोवर्धन की कथा से भी सूचित होती है। सम्भवतः कृष्ण आर्यों की ही एक अत्यन्त प्राचीन जाति के देवता थे। इस जाति का मुख्य कार्य गोचारण था, इसीलिए यह आभीर जाति कहलाई। डॉ० भांडारकर की यह धारणा कि आभीर जातियाँ ईसा के बाद भारत में विदेश से आई थी और गोपाल-कृष्ण इसी जाति के आराध्य देव रहे होंगे, भ्रामक प्रतीत होती है, क्योंकि आभीरों के विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों और महाभारत में कई प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व मैगस्थनीज़ के उल्लेख से भी मथुरा में आभीरों के राज्य तथा कृष्ण का पता चलता है। कृष्ण और

रुक्मिणी का राक्षस पद्धति से विवाह तथा कृष्ण की काम-लीलाएँ भी, यदि उन्हें प्रामाणिक मान लिया जाए, ऋग्वेदकालीन समाज-व्यवस्था को ही सूचित करती हैं। प्राक् ऋग्वेद कालीन समाज में युथ विवाह को मान्यता मिली हुई थी। इस तरह कृष्ण अथवा भागवत सम्प्रदाय का अस्तित्व ऋग्वेद से पहले का नहीं, तो समकालीन अवश्य प्रतीत होता है। प्राचीन कृष्ण-चरित्र में काम-लीलाओं का वर्णन नहीं है। कदाचित् कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के बाद भी इन लीलाओं का कृष्ण चरित्र में समावेश हुआ है। बलराम की कल्पना तथा यूनानी देवता सेलिनस से उसका साम्य, कृष्ण तथा यूनानी देवता डायनिसस का साम्य तथा द्वारका और जेरुसेलम की कथा के साम्य से भी कृष्ण की प्राचीनता सिद्ध होती है। कुछ विद्वान् बाल कृष्ण की क्रीडाओं पर ईसा का प्रभाव देखते हैं। पर यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। ईसा के बहुत पहले बाल कृष्ण के जीवन से भारतवासी परिचित थे। अश्वघोष के 'बुद्ध चरित', भास के 'बाल-चरित्र' और हाल की 'गाथा सप्तशती' में 'कृष्ण कथा' का पर्याप्त निरूपण हो चुका था। इतना ही नहीं, मध्य-पूर्व एशिया के देशों में कृष्ण के कई प्राचीन मंदिरों का पता चला है, जो ईसा से लगभग चार शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। इन सब उल्लेखों से भागवत धर्म और कृष्ण की प्राचीनता ही सूचित होती है। कई अन्य विद्वान् मध्वाचार्य द्वारा निरूपित ब्रह्म जीव और ईश्वर में भी ईसाई और इस्लाम धर्मों का प्रभाव देखते हैं, किन्तु यह धारणा हास्यास्पद प्रतीत होती है, क्योंकि ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के सम्पर्क में आने से बहुत पहले से भारतवर्ष एकेश्वरवाद, बाल कृष्ण की कल्पना, जगन्माता की उपासना, द्वैतवाद तथा भक्ति से परिचित था। सच तो यह है कि आळ्वारों के भक्ति पन्थ और मध्वाचार्य की ईश्वर विषयक कल्पना ने प्राचीन भागवत धर्म की उपासना-पद्धति को ही पुनर्जीवित किया है।

महाभारत से पूर्व वैदिक साहित्य में सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में सांख्य योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत आदि का उल्लेख मतों का वर्गीकरण करने के लिए हुआ है। इनमें पांचरात्र मत वैष्णव भक्ति मत का प्रतिपादक है और पाशुपत शैव भक्ति का। पौराणिक युग से पहले मूल वैदिक धर्म नारायणीय, भागवत, पांचरात्र आदि विभिन्न रूपों में निरूपित हो चुका था। इन निरूपणों में ध्येय एक होते हुए भी तत्त्व-निरूपण और उपासना पद्धति में कतिपय भेद होने के कारण शैवमत जैसे अनार्य और बौद्ध जैसे निरीश्वरवादी धर्मों का सुगमता से प्रचार होने लगा। इन धर्मों के विरोध के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्म सुसंगठित रूप धारण करता। यह वह काल था जब वैदिक धर्म मुख्यतः दो भागों में बँट चुका था। एक था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड, जिसके उपास्य देवता विष्णु थे और दूसरा था वासुदेव द्वारा प्रवर्तित प्राचीन ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय उपासना-मार्ग, जो भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध था तथा जिसमें हिंसा वर्ज्य समझी जाती थी। आर्येतर धर्मों के प्रचार को रोकने के लिए इन दोनों प्रबल धाराओं को एकसूत्र करके वैदिक धर्म को पुनः स्थापना आवश्यक थी। यह प्रयत्न सर्वप्रथम महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में परिलक्षित होता है। इन दोनों धर्मों के परस्पर आदान प्रदान से पौराणिक युग में वैदिक धर्म ने सुसंगठित होकर एक नया रूप धारण किया जिसके अधिष्ठाता विष्णु हो गए। विष्णु के एकमेव आराध्य तथा सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता निर्धारित होते ही विष्णु-पदगामी आचार धर्म ने सम्प्रदाय का

रूप धारण कर लिया और वह वैष्णव-धर्म अथवा सम्प्रदाय कहलाने लगा। परवर्ती-काल मे यह मूल सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। जिस समय वैदिक धर्म नवीन रूप धारण करके वैष्णव-सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ, उस समय भारत में शिव और शक्ति की उपासना व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। शैव धर्म के भारत की प्राचीन आर्येतर जातियों का धर्म होने के कारण यह स्वाभाविक था कि वैष्णव-सम्प्रदाय और शैव-सम्प्रदाय में परस्पर विरोध चलता। इस विरोध के निराकरण के लिए ही किंचित परिवर्तित रूप में वैदिक आर्यों ने शिव को 'रुद्र' के रूप में स्वीकार कर लिया था। परन्तु शैव धर्म में कुछ ऐसे तत्त्व भी थे जिन्हें आर्य स्वीकार नहीं कर सकते थे। अत: यह विरोध बराबर बना रहा तथा 'हरीहर मूर्ति' की पौराणिक कल्पना में फिर एक बार समन्वय की भावना प्रबल हो उठी। 'हरीहर-मूर्ति विष्णु और शिव की एकता का प्रतीक है तथा स्पष्ट रूप से दो संस्कृतियों के दार्शनिक मिलन को सूचित करती है। हरीहर की कल्पना आगे चलकर त्रिमूर्ति मे प्रतिफलित हुई, जिससे महाराष्ट्र मे दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का उदय हुआ।

सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव होते ही उपासना के क्षेत्र में भक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। भक्ति की कल्पना परवर्ती नहीं है, अपितु उसकी परम्परा ऋग्वेद से चली आ रही है। शांडिल्य-सूत्र में भक्ति को प्रेम कहा गया है। भावना की दृष्टि से भक्ति की मीमांसा करते हुए 'नारद-सूत्र' परमेश्वर के विषय में परम-प्रेम को ही भक्ति कहता है तथा भक्ति को कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ मानता है। भक्ति-योग का सर्वप्रथम उल्लेख गीता मे मिलता है तथा उपासना-पद्धति के रूप मे उसका प्रचलन वासुदेव-सम्प्रदाय मे दृष्टिगत होता है। वासुदेव-सम्प्रदाय में एकमेव देवता की स्थापना थी और भक्ति के लिए यह स्थापना एक आवश्यक तत्त्व है। इसीलिए बुद्धोत्तर-काल में सम्प्रदाय के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना आरम्भ हो जाने के कारण भक्ति का क्षेत्र और स्वरूप विस्तृत होने लगा। भक्ति अनिवार्यत: नाम-रूपात्मक उपासना-पद्धति होने के कारण विभिन्न देवताओं मे सगुण-ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ। भागवत या वैष्णव धर्म में इन दोनो तत्त्वों का संयुक्त विकास अभिलक्षित होता है। भक्ति के अन्तर्गत भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण आवश्यक है और आत्म-समर्पण प्रेम का अनिवार्य अंग है। यही प्रपत्ति है। भगवान् के प्रति भक्त की पूज्य भावना में कई चित्तवृत्तियाँ विद्यमान रहती है, परन्तु प्रेम को छोड़कर अन्य सभी चित्तवृत्तियों का स्थान प्राथमिक है, क्योंकि प्रम इन वृत्तियो के परिणाम के रूप मे ही उत्पन्न होता है। प्रेम का स्थायी भाव है रति। अत: वैष्णव शास्त्रकारों ने उसके पाँच भेद करके शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य या प्रियता आदि पाँच रस माने है। भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित होते ही वह प्रेम भक्ति कहलाती है। भगवान् और भक्त के एकनिष्ठ सम्बन्ध के लिए आत्मसमर्पण एक आवश्यक तत्त्व माना गया। इसीसे प्रपत्ति की उत्पत्ति हुई और उसे मुक्ति का दूसरा साधन माना गया। वैष्णव-साहित्य को प्रपत्ति सिद्धान्त की देन तमिल आलवारों की है। प्रपत्ति को लेकर प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं के कारण दक्षिण और उत्तर भारत मे भगवान् की कृपा-विषयक दो विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हुई। उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकती है, परन्तु दक्षिण शाखा उसे अप्रयत्नज मानती है। मान्यताओं के इस सैद्धान्तिक भेद के कारण ही साधना के क्षेत्र में भक्ति ज्ञान

और कर्म-तत्त्व से प्रभावित हुई। हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियों ने सम्भवतः दक्षिण धारा से प्रभावित होकर ही कृष्ण का लोकरंजक रूप ग्रहण किया। किन्तु मराठी के संत-कवियों ने भक्ति में कर्म और ज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार किया। इसलिए इन कवियों ने काव्य-सृजन के लिए प्रेरणा महाभारत गीता तथा भागवत के एकादश स्कन्ध से ली और इसलिए मराठी भक्ति-सम्प्रदाय में भक्ति के मधुर रूप का समावेश नहीं हो सका। मध्ययुगीन पंडित कवियों ने जिस शृंगारिक काव्य की सृष्टि की है, उसमें उनकी वैयक्तिक रुचि के साथ-साथ संस्कृत काव्य, लोक विश्वास तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ उसी प्रकार सहायक हुई हैं, जिस प्रकार उत्तर भारत की परिस्थितियाँ कृष्ण भक्ति-काव्य की रचना में सहायक हुई हैं।

मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने जो थोड़े-बहुत शृंगारिक वर्णन किए भी हैं उनमें भी पौराणिक प्रसंगों का निर्वाह मात्र होने के कारण शृंगार का लौकिक रूप प्रखर नहीं हो पाया और न उनकी निजी भावानुभूति के ही दर्शन इनमें होते हैं। उनका शृंगार अधिक वस्तुनिष्ठ है। कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम में विह्वलता का मर्मस्पर्शी चित्रण है, परन्तु उसमें काम-वासना की उत्कटता का कहीं भी दर्शन नहीं होता। गोपियाँ क्षण भर को भी नहीं भूलतीं कि उनका प्रियतम परब्रह्म रूप है। इसीलिए इन कवियों के शृंगारिक वर्णनों में अध्यात्म का पुट सर्वत्र विद्यमान है।

अष्टछाप-कवियों के कृष्ण-लीला-वर्णनों में भी परिपाटी का ही अधिक पालन हुआ है परन्तु उनकी भक्ति प्रेमलक्षणात्मक होने के कारण इन वर्णनों पर स्वानुभूति का भी पुट चढ़ा हुआ दिखाई देता है। इसीलिए उनके शृंगारिक वर्णनों में भक्ति और व्यक्ति के एक साथ दर्शन होते हैं। इन कवियों में भी सूरदास के शृंगारिक पदों में लौकिकता का पुट कम है और यह उनकी भक्ति भावना का ही परिणाम है। इसीलिए सूर में बाल-वर्णन आदि प्रसंगों में जिस रागात्मकता तथा अभिव्यंजना के दर्शन होते हैं उसका दर्शन उनके शृंगारिक पदों में नहीं होता। सूरदास ने कृष्ण-जीवन के दो ही पक्ष अपने काव्य में प्रतिष्ठित किए हैं—बाल्य-काल और यौवन। किन्तु इनका जितना सांगोपांग वर्णन सूरदास ने किया है, उतना न तो किसी अन्य हिन्दी-कवि ने किया है और न किसी मराठी कवि ने।

मराठी के संत-कवियों की भाँति सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना सूर के काव्य में नहीं मिलती। पर यह भी सच है कि वे समाज के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन नहीं थे। सूर-साहित्य में अनेक स्थलों पर सामाजिक सन्दर्भों में पाखण्ड और क्रूरता पर तीव्र आघात हुए हैं, परन्तु सूर मुख्यतः प्रेम के कवि होने के कारण उनके साहित्य में इसी विषय का विस्तार हुआ है। उनके कृष्ण महाभारत अथवा गीता के कृष्ण न होकर श्रीमद्भागवत के बालकृष्ण और तरुण-कृष्ण हैं और उन्हीं का विस्तृत वर्णन उन्होंने किया है। सूरदास के लिए कृष्ण की लीला प्रभु की लीला है फिर भी मानव-जीवन का जितना चित्र विचित्र, स्वाभाविक सजीव और मार्मिक वर्णन सूर ने किया है, उतना मराठी कवियों में नहीं मिलता। वस्तुतः सूर का शृंगार-वर्णन मानव-जीवन का वर्णन है, क्योंकि उन्होंने कृष्ण को ईश्वर के रूप में कम देखा है, सखा के रूप में अधिक। परन्तु मराठी कवियों ने अपने इष्टदेव को सर्वत्र पर-ब्रह्म के रूप में ही देखा है यहाँ तक कि चराचर सृष्टि भी उसी का व्यक्त रूप है। इसी-लिए मराठी के कृष्ण-काव्य में भावना और दार्शनिकता का मणि-कांचन योग हुआ है जबकि

हिन्दी के कृष्ण-काव्य मे भावना ही अधिक प्रस्फुटित हुई है।

हिन्दी-कवियों की भक्ति प्रेम-लक्षणात्मक होने के कारण ही उन्होंने राधा को कृष्ण की चिद्शक्ति के रूप में स्वीकार किया और संयोग-शृंगार की परिपूर्ति के लिए वियोग-शृंगार के अन्तर्गत भ्रमर-गीतों की योजना की। परन्तु मराठी के भक्त-कवियों ने रुक्मिणी को मान्यता देकर भक्ति के क्षेत्र में भी मर्यादा को बनाए रखा, इसीलिए मराठी के कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीतों की कल्पना का सर्वथा अभाव है।

विभिन्न भाषाओं के कृष्ण-भक्ति-काव्य पर वहाँ के भाषा-भाषी लोगों की सामाजिक प्रवृत्ति एवं लोक-गीतों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। चैतन्य सम्प्रदाय की भावुकता, दक्षिण की कर्मठता, उत्तर की भोग-प्रधानता तथा महाराष्ट्र की दार्शनिकता एवं लोक-संग्रह की भावना इसी सत्य का उद्घाटन करती है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
भक्ति का विकास	मुन्शीराम शर्मा
'कल्याण' का 'महाभारतांक'	गीता प्रेस
भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास	देवराज
हिन्दुत्व	रामदास गौड़
हिन्दी साहित्य कोष	धीरेन्द्र वर्मा
शैव मत	यदुवंशी
सूर साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	रांगेय राघव
हिन्दी को मराठी सन्तों की देन	विनयमोहन शर्मा
मराठी संतों का सामाजिक कार्य	वि० भि० कोलते
तेलुगु और उसका साहित्य	हनुमच्छास्त्री (सं० क्षेमचन्द्र 'सुमन')
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	हजारीप्रसाद द्विवेदी
पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	वासुदेवशरण अग्रवाल
मीरा स्मृति ग्रन्थावली	बंगीय हिन्दी परिषद्
सूर और उनका साहित्य	हरवंशलाल शर्मा
मध्यकालीन धर्म-साधना	हजारीप्रसाद द्विवेदी
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका इतिहास	शिवप्रसादसिंह
सूरदास	ब्रजेश्वर वर्मा
सूरसागर	वेंकटेश्वर प्रेस तथा नागरी प्रचारिणी सभा
सूरदास	धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	रामकुमार वर्मा
भारतीय साधना और सूर साहित्य	मुन्शीराम शर्मा

चिन्तामणि (दूसरा भाग)	रामचन्द्र शुक्ल
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	विजयेन्द्र स्नातक
सूर साहित्य की भूमिका	रामरतन भटनागर
पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त	लीलाधर गुप्त
सूरदास (तृतीय संस्करण)	रामचन्द्र शुक्ल
सिद्धान्त पंचाध्यायी	नन्ददास
बिहारी सतसई	देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता	नगेन्द्र
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
द्वापर	मैथिलीशरण गुप्त
विद्यापति की पदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	दीनदयालु गुप्त
अष्टछाप	धीरेन्द्र वर्मा
परमानन्ददास (पद संग्रह)	दीनदयालु गुप्त
नन्ददास	रामचन्द्र शुक्ल
अष्टछाप परिचय	प्रभुदयाल मीतल
नन्ददास : एक अध्ययन	रामरतन भटनागर
ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प	सावित्री सिन्हा
नन्ददास ग्रन्थावली	ब्रजरत्नदास
परमानन्ददास	गोवर्धनलाल शुक्ल
ब्रजमाधुरी-सार	वियोगी हरि
ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद	प्रभुदयाल मित्तल
ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन	सत्येन्द्र
ब्रजभाषा साहित्य में षटऋतु वर्णन	प्रभुदयाल मित्तल
मीरा की प्रेम साधना	भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'
मीरा : जीवन और काव्य	सुधाकर पाण्डेय
मीराबाई की पदावली	परशुराम चतुर्वेदी
साहित्य लहरी	सूरदास
सूर की काव्य कला	मनमोहन गौतम
सूर की भाषा	प्रेमनारायण टण्डन
हिन्दी अलंकार साहित्य	ओमप्रकाश
हिन्दी ध्वन्यालोक	आचार्य विश्वेश्वर
भ्रमरगीत-सार	रामचन्द्र शुक्ल
चतुर्भुजदास	वि० वि० कांकरोली

रस सिद्धान्त, स्वरूप विश्लेषण	आनन्दप्रकाश दीक्षित
काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र
काव्य में अप्रस्तुत योजना	,,
कृष्ण-भक्तिकालीन साहित्य में संगीत	उषा गुप्त

मराठी

महाराष्ट्र ज्ञानकोष	डॉ० केतकर
गीता रहस्य	बा० ग० टिळक
प्राचीन चरित्र-कोष	चित्राव शास्त्री
सुश्लोक गोविन्द	रा० चि० श्रीखण्डे
वैदिक संस्कृतिचा विकास	तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी
श्री तुकाराम महाराजांची साम्प्रदायिक गाथा	देवडीकर
श्री चक्रधरोक्त सूत्रपाठ	सं० ह० ना० नेने
सरल ब्रह्म विद्याशास्त्र	तलेगांवकर
भारतीय तत्त्वज्ञान	न० चि० केलकर
शिवलिंगोपासना	स० कृ० फडके
ज्ञानेश्वरी	कुटे
एकनाथ गाथा	आवटे
सुलभ विश्वकोष	प्रसाद प्रकाशन
मराठी वांग्मयाचा इतिहास	पांगारकर
महाराष्ट्र परिचय	प्रसाद प्रकाशन
महाराष्ट्रसारस्वत	वि० ल० भावे
महाराष्ट्राचे पाँच सम्प्रदाय	पं० रा० मोकाशी
नाथांचा भागवत धर्म	श्रीधर कुलकर्णी
मराठी साहित्यातील मधुरा-भक्ति	प्र० न० जोशी
नामदेव अभंग गाथा	आवटे
मधुराभक्ति चा मराठी अवतार	प्र० न० जोशी
महानुभावांचे तत्त्वज्ञान	वि० भि० कोलते
लोक साहित्याची रूपरेखा	दुर्गा भागवत
श्री एकनाथ वांग्मय आणि कार्य	न० र० फाटक
महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका (अंक)	
एकनाथी भागवत	आवटे
दामोदर पंडित कृत वत्सहरण	सं० कोलते
नरेन्द्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर'	सं० कोलते
मराठीचे साहित्यशास्त्र	माधव गोपाल देशमुख
श्री ज्ञानेश्वर, वांग्मय आणि कार्य	न० र० फाटक

भागवती काव्यें (काव्य संग्रह)	वामन पंडित
श्रीधर चरित्र आणि काव्य विवेचन	वि० मो० जोशी
गोविन्दाग्रज	रा० ग० हर्षे
मराठींचें भक्ति साहित्य	भी० गो० देशपांडे
मत-वाद्य समालोचन (भाग 1)	ग० म० पारमोपाध्ये
मराठीचा परिमल	रा० न० शिरगरे
तुकाराम	रा० ग० हर्षे
तुकाराम वचनामृत	रा० द० रानडे
रस-विमर्श	वाटवे

ENGLISH

A History of Indian Philosophy	Das Gupta
Indian Philosophy	S Radhakrishnan
Encyclopeadia of Religion & Ethics	Ed by James Hastings
Vaisnavism & other Minor Religions	R G Bhandarkar
Vedic Mythology	Macdonell
Standard Dictionary of Folklore Mythology & Legend	Ed Maria Leach
Annals of R O R E	
Elements of Hindu Iconography	*G Rao*
The Development of Indian Iconography	J N Banerjee
Early History of the Vaishnava Sect	Roy Chowdhury
Sri Krishna His Life & Teachings	D N Pal
Memoirs of the Archaelogical Survey of India	
Tamil Fighteen Hundred Years Ago	Kanak Sabai
Asiatic Researches (Vol I)	
The Religions of India	A P Karmarkar
Puranic Records in Hindu Rites & Customs	R C Hazra
India As Known to Panini	V S Agarwal
Aspects of Early Visnuism	J Gonda
The Kharias	S C. Rai & R. C. Rai
Journals of the Srivenkatesh Oriental Institute	
Vishnu In Vedas	R. N Dandekar
Dictionery of Greek & Roman Biography & Mythology	V Smith
The Indian Heritage	Humayun Kabir

Comparative Studies in Vaishnavism & Christianity — Seel
A History of Indian Literature — Winternitz
The Vision of India — Shishir Kumar Misra
Indian Antiquary, 1974
Oxford Companion to Classical Literature — Ed. Paul Harvey
Sanskrit Literature — Macdonell
The Mother Goddess Kamakhya — Banikanta Kakati
What Means These Stones — Burrows
Rudra-Shiva — Venkataramaiah
Mohan-jo-daro And The Indus Civilization — John Marshall
History of Dharama Shastra — P. V. Kane
Religion & Mythology of Rigveda — Keath
Hindu Conception of Deity — Bharatam Kumarappa
The Archaelogy of Gujrat — H. D. Sankalia
Glory That Was Gujardesha — K. M. Munshi
Gujrat & Its Literature — K. M. Munshi
Religious Conscitiousness — J. D. Pratt
The Philosophy of Advyaita — T. M. P. Mahadevan
Political History of Ancient India — Roy Chawdhury

नामावली

ई

उ

ए

ऋ

ओ

औ

क

ख

ग

घ

म